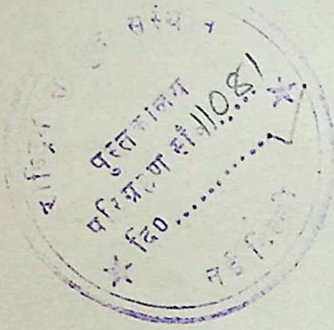
प्रकाशक, मुद्रक :—
श्रीहरिदासशास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो० वृन्दावन, जिला—मथुरा,
(उत्तर प्रदेश)।



प्रथमं संस्करणम्—एक सहस्रम्

प्रकाशन सहयोग :—

प्रकाशनतिथि—
श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभु की आविर्भावतिथि
४९७ गौराङ्गाब्द, ९।३।१९८२

★ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ★

श्री तत्त्वसन्दर्भः

[षट्सन्दर्भ नाम्नो भागवतसन्दर्भस्य प्रथमः सन्दर्भः]

श्रील-जीवगोस्वामिपाद-प्रणीतः

श्रील जीवगोस्वामि-कृतया 'सर्वसम्वादिनी' व्याख्यया, श्रीमद् बलदेवविद्याभूषण-
कृतया टीकया, श्रीराधामोहनगोस्वामिविरचितया टीकया, श्रीगौरकिशोर
गोस्वामि-कृतया स्वर्णलतेत्याख्यया टीकया, श्रीहरिदासशास्त्रि
प्रणीतया व्याख्यया च सम्बलितः।

श्रीवृन्दावन वास्तव्येन न्याय-वैशेषिकशास्त्र न्यायाचार्य काव्यव्याकरणसांख्य
मीमांसावेदान्ततर्कतर्कतर्कवैष्णवदर्शनतीर्थ विद्यारत्नाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा सम्पादितः।

सद्ग्रन्थप्रकाशकः—

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो० वृन्दावन, जिला—मथुरा,
(उत्तर प्रदेश)।

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

विज्ञप्तिः

शील सम्पन्न मानव ही विश्व को सुखी समृद्ध एवं निर्भय बना सकता है। सत् शिक्षा से ही उत्तम शील होता है, तज्जन्य महर्षिगण समय समय पर विशेष ग्रन्थादि की रचना करते हैं। किन्तु उद्देश्य एक होने पर भी तोषण नीति के द्वारा शिक्षा प्रदान प्रवर्त्तन होने से उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं हुई। फलतः सर्वत्र विपरीत धर्म का ही प्रवर्त्तन हुआ।

विश्व हितेच्छु परमेश्वर उस से हताश न होकर एक लक्ष्य, एक साध्य, एक साधन, एक आदर्श एवं एक प्रमाण की भित्ति में जिस आदर्श शिक्षा को स्थापन किए हैं, वह है श्रीमद्भागवत—भागवत धर्म।

श्रीमद्भागवत का मूल,—सर्वादि अक्षर 'ॐ' कार है। इस में द्वादश स्कन्ध, ३३५ अध्याय, अठारह हजार श्लोक है, प्रणव के अर्थ को गायत्री कहते हैं, गायत्री का ही अकृत्रिम अर्थ श्रीमद्भागवत है, यह ही ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है।

परम सत्य वस्तु ही इस में ध्येय है, परोत्कर्षसहनशील व्यक्ति इस का अधिकारी है। इस के श्रवण समकाल में ही श्रीहरि निरपराधी के चित्त में अबरुद्ध होते हैं। इस में वास्तव वस्तु प्रतिपादित है, अर्थात् वस्तु का अंश जीव, वस्तु की शक्ति माया, वस्तु का कार्य्य जगत्, समस्त ही वस्तु है। सर्वहितोपदेष्टा, सर्वभयापहारक, रश्मियों के परमाश्रय सूर्य्य के समान सव के परमाश्रय, निखिल सद्गुणगणालङ्कृत होने से वह वस्तु ही परम प्रेमास्पद है।

भक्त एवं भगवान् के विशुद्ध आचरण इस में अङ्कित है। अनन्त कल्याणगुण रत्नाकर, सर्वानन्दद, सर्वाकर्षक, परम मधुर श्रीकृष्ण ही यहाँ प्रिय हैं, जिनका अपर नाम 'रस' है। भक्तकोटि में अन्तरङ्गादि निखिल शक्तियों में वरीयसी श्रीराधिका हैं, जिन को ह्लादिनी शब्द से कहते हैं।

विश्वैक्य स्थापन प्रचेष्टा से जो एक 'तत्त्व' दृष्ट हुआ, वह—अद्वय ज्ञान तत्त्व है, उन को तीन नामों से कहते हैं। ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्। मुक्ति कामीगण—ब्रह्म कहते हैं, योगीगण—परमात्मा, भक्तगण—भगवान् कहते हैं।

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥"

'तत्त्व' एक है, और निखिल अवस्थाओं में स्वरूपशक्ति पूर्ण है, दर्शनकारी की योग्यता के अनुसार ही विभिन्न शब्द वाच्य होते हैं। जीव का नाम उक्त तत्त्वोक्त नामों में नहीं आया है, कारण वह शक्ति है, अधीन है, तटस्था शक्ति है, अणु है।

निज स्वतन्त्रता के कारण निज ज्ञानानन्द को भूलकर जीव पराधीन हो जाता है। भागवत धर्मानुशीलन से पराधीनता से मुक्त होकर निज महिमा में वह प्रतिष्ठित होता है। श्रीकृष्ण एवं तदीय सम्पर्कित समस्त वस्तुओं में एक भाव से ममत्व स्थापन करना ही भागवत धर्म है। 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन' उत्तमा भक्ति, 'राधेव कृष्णं भज' प्रभृति उस के प्रतिशब्द हैं।

महर्षि श्रीव्यासदेव इस अज्ञात तत्त्व सम्बलित संहिता का अध्ययन, निजपुत्र निवृत्तिनिरत मुनि शुकदेव को कराकर जनसेवा में नियुक्त किए थे।

चिरन्तन रीति से पुनर्वार धर्म विप्लव होने पर भागवत धर्म प्रचार हेतु श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं अवतीर्ण हुये, अतएव आप को स्वभजन विभजन प्रयोजनावतार कहते हैं। आप राधाभाव विभावित होकर उस से स्वयं को आस्वादन करके समस्त मानव हृदय को एकीभूत किये थे।

आवहमान काल जीव को सुखी-समृद्ध-एकतावद्ध करने के लिए श्रीसनातन को काशी में, प्रयाग में श्रीरूप को उक्त भागवत सुधा का पान कराये थे।

श्रीरूप-सनातन के बान्धव दाक्षिणात्य द्विज वंशज श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीपाद उक्त वृत्तान्त अवगत होकर एक प्रबन्ध ग्रन्थ निर्माण किये थे।

"कोऽपि तद्बान्धवो भट्टो दक्षिणद्विजवंशजः। विविच्य व्यलिखद्ग्रन्थं लिखिताद्वृद्धवैष्णवैः॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्त-व्युत्क्रान्त-खण्डितम्। पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः॥

उक्त आलेख को सुसम्पन्न श्रीजीवगोस्वामीपाद ने किया। इस को षट् सन्दर्भ कहते हैं। षट् भाग में विभक्त होने से उक्त नाम सार्थक है। तत्त्व, भगवत्, परमात्म, कृष्ण, भक्ति, प्रीति नामक सन्दर्भ इस में है, तत्त्व, भगवत्, परमात्म, कृष्ण सन्दर्भ में भागवतीय सम्बन्धि तत्त्व का उल्लेख है, भक्ति में अभिधेय तत्त्व का, प्रीति सन्दर्भ में प्रयोजन तत्त्व का वर्णन है।

'गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्ति श्रेष्ठता तथा। नानार्थवत्त्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः॥

मूल ग्रन्थ का गूढ़ार्थ प्रकाशक, निर्दुष्ट श्रेष्ठ सिद्धान्त प्रतिपादक, अनेकार्थ प्रकाशक प्रबन्ध को सुधीगण सन्दर्भ कहते हैं। "कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तन प्रायै र्यजन्ति हि सुमेधसः॥" (भा० ११-५-३२)

प्रथम श्लोक के द्वारा स्वेष्ट देवता का निर्देश,—
"अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादिवैभवम्। कलौ सङ्कीर्त्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः॥

द्वितीय श्लोक में श्रीव्रजेन्द्रनन्दनाभिन्न स्वरूप स्वोपास्य श्रीगौराङ्गदेव का प्रतिपादन, अथवा प्रथम श्लोक की व्याख्या विशेष, तृतीय श्लोक में—ग्रन्थ रचना के प्रवर्त्तक रूप में गुरु परमगुरु द्वय की वन्दना, चतुर्थ, पञ्चम श्लोक में—पूर्वाचार्य्य श्रीमध्वाचार्यादि वृद्ध वैष्णवगण कृत ग्रन्थसमूह के सार सङ्कलन से रचित होने के कारण श्रौत सिद्धान्त का अनुसरण, एवं स्वकपोलकल्पितत्व का निरसन इस ग्रन्थ में है। षष्ठ श्लोक में—अधिकारी निरूपण, सप्तम में—मन्त्र गुरु, शिक्षागुरु प्रभृति को प्रणाम पूर्वक ग्रन्थारम्भ की सूचना, एवं नवम में—श्रोतृवर्ग के प्ररोचना मूलक आशीर्वाद से समग्र ग्रन्थ का निर्देश, स्वयं भगवान् के ब्रह्म परमात्म भगवत् रूप में त्रिविध प्रकाश विवृत है।

मुख्य विषयसमूह—सम्बन्ध अभिधेय-प्रयोजन तत्त्व (१) अचिन्त्य वास्तव वस्तु के स्वरूप निरूपण में शब्द प्रमाण व्यतीत प्रत्यक्षानुमानादि की व्यर्थता एवं व्यभिचारिता, (२) तर्क की अप्रतिष्ठा, एवं शब्द-प्रामाणिकता (३) वेद पुराणादि के आविर्भाव-तिरोभाव (४) पुराणों का पञ्चम वेदत्व (५) सात्त्विक, राजसिक, तामसिकादि पुराण विभेद, सात्त्विक पुराण ही ग्राह्य, तदनुयायी होने से अन्यान्य पुराण की प्रामाणिकता, वेद के अकृत्रिम भाष्यभूत श्रीमद्भागवत का निर्गुणत्व, प्रमाण शिरोमणित्व (६) महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन की श्रेष्ठता (७) श्रीमद्भागवत के परिचय, प्रामाण्यादि, (८) श्रीमन्मध्वाचार्य श्रीधर स्वामि प्रभृति आचार्यगण का उपास्य श्रीमद्भागवत (९) श्रीवेदव्यास के समधिलब्ध श्रीमद्भागवत (१०) भक्ति का स्वरूपशक्तित्व (११) एकजीववाद खण्डन (१२) साधनभक्ति की प्रयोजनीयता (१३) शरीर से आत्मा की पृथकता (१४) निर्विशेष ज्ञान से प्रेम की आदरणीयता (१५) आश्रय तत्त्व (१६) सर्गादि निर्णय (१७) 'स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही मुख्य आश्रय' इत्यादि।

प्रति सन्दर्भ के उपसंहार में इति कलियुगपावन-स्वभजनविभजनप्रयोजनावतार श्रीश्रीभगवत् श्रीकृष्ण-चैतन्यदेव चरणानुचर विश्ववैष्णवराजसभा सभाजनभाजन श्रीरूप-सनातनानुशासनभारतीगर्भे श्रीभागवत-सन्दर्भे तत्त्वसन्दर्भो नाम प्रथमः सन्दर्भः।

आरम्भ में भी— "तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रील रूपसनातनौ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्तखण्डितम्।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः॥" इत्यादि है।

एतत्सह श्रीमज्जीवगोस्वामिकृत सर्वसम्वादिनी, श्रीबलदेवविद्याभूषण कृताटीका, श्रीराधामोहन गोस्वामि कृताटीका, श्रीगौरकिशोरगोस्वामिकृत स्वर्णलता टीका तथा श्रीहरिदासशास्त्रिकृत अनुवाद, सारार्थ सन्निविष्ट है।

हरिदास शास्त्री

विषयवाक्यानि

१७। पुरुषानुगृहीतानां	,,	१२-७-११
१८। वृत्तिर्भूतानि	,,	१२-७-१३
१९। रक्षाच्युतावतारेहा	,,	१२-७-१४
२०। मन्वन्तरं मनुर्देवाः	,,	१२-७-१५
२१। राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां	,,	१२-७-१६
२२। नैमित्तिकं प्राकृतिकः	,,	१२-७-१७
२३। हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादिः	,,	१२-७-१८
२४। व्यतिरेकान्वयो यस्य	,,	१२-७-१९
२५। पदार्थेषु यथाद्रव्यम्	,,	१२-७-२०



अनुच्छेदः		
१	कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं	भा० ११।५।३२
२	अन्तःकृष्णं वहिर्गौरं	कारिका
३	जयतां मथुराभूमौ	,,
४	कोऽपि तद्वान्धवो	,,
५	तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं	,,
६	यः श्रीकृष्णपदाम्भोज	,,
७	अथ नत्वा मन्त्र गुरून्	,,
८	यस्य ब्रह्मेति संज्ञा	,,
११	तर्काप्रतिष्ठानात्	ब्रह्मसूत्र २।१।११
,,	अचिन्त्याः खलु ये भावाः	महाभा० भीष्मपर्व
,,	शास्त्रयोनित्वात्	ब्रह्मसूत्र १।१।३
,,	श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्	,, २।१।२७
,,	पितृदेवमनुष्याणां	भा० ११।२०।४
१२	इतिहासपुराणाभ्यां	महाभा० (आ० १।२६७) व मनुसं०
,,	एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य	वृ० आ० २।४।२०
१३	पुरा तपश्चचारोग्रम्	स्कन्द पु० प्रभास खण्ड
,,	ऋग्यजुः सामाथर्वा	भा० ३।१२।३८
,,	इतिहासपुराणानि पञ्चमं	भा० ३।१२।३९
,,	कार्ष्णञ्च पञ्चमं वेदं	भविष्यपुराण
,,	ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि	छा० उ० ३।१५।७
१४	इतिहासपुराणानां	वायुपुराण
,,	कालेनाग्रहं मत्वा	मत्स्यपुराण
,,	चतुर्लक्षप्रमाणेन	मत्स्यपुराण
१५	संक्षिप्य चतुरो	शिवपुराण
,,	मधुरं मधुरमेतन्मङ्गलं	प्रभासखण्ड
,,	ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः	विष्णुधर्म
१५	भारतव्यपदेशेन	विष्णुपुराण
,,	द्वैपायनेन यद्बुद्धं	पद्मपुराण
१६	व्यासचित्तस्थिताकाशात्	स्कन्दपुराण

अनुच्छेद.		
,,	ततोऽत्र मत्सुतो	विष्णुपुराण
,,	नारायणाद्विनिष्पन्नं	स्कन्दपुराण
,,	वेदार्थादधिकं मन्ये	नारदीयपुराण
१७	वेदवन्निश्चलं मन्ये	प्रभासखण्ड
,,	पञ्चाङ्गञ्च पुराणं स्यात्	मत्स्यपुराण
,,	कर्मणा पितृलोकः	श्रुति
१८	सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्	गीता १४।१७
,,	सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्	श्रुति
१९	यत्राधिकृत्य गायत्रीं	मत्स्यपुराण
,,	जन्माद्यस्य यतः	भा० १।१।१
,,	धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र	भा० १।१२
२०	ग्रन्थोष्टादश साहस्रो	स्कन्दपुराण
,,	यद्वा अश्वशिरो नाम	भा० ६।९।५२
,,	एतच्छ्रुत्वा तथोवाच	टीकाधृतवचन
,,	पुराणं तं भागवतं	पद्मपुराण
,,	रात्रौ जागरः कार्यः	,,
,,	अम्वरीष शुकप्रोक्तं	,,
,,	श्रीमद्भागवतं भक्त्या	स्कन्दपुराण
२१	पूर्णः सोऽयमतिशयं	गरुड़पुराण
,,	अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां	,,
,,	निर्णयः सर्वशास्त्राणां	,,
,,	इदं शतसहस्रादि	महाभा० मोक्षधर्म
२२	मुनिर्विवक्षुः भगवद्	भा० ३।५।१२
,,	शतशोऽथ सहस्रैश्च	स्कन्दपुराण
२३	कलौ नष्टदृशाम् एष	भा० १।३।४३
,,	कलिं सभाजयन्त्यार्याः	भा० ११।५।३६
२४	तदिदं ग्राहयामास	भा० १।३।४१
,,	सर्ववेदान्तसारं	भा० १२।१३।१२
,,	निगमकल्पतरोर्गलितं	भा० १।१।३
,,	यः स्वानुभावम्	भा० १।२।३

अनुच्छेदः	
२५ तत्रोपजग्मुः	भा० १।१९।८-१२
,, ततश्च वः पृच्छ्यमिदं	भा० १।१९।२४-२५
,, प्रत्युत्थितास्ते मुनयः	भा० १।१९।२८
,, स संवृतस्तत्र महान्	भा० १।१९।३०
२६ कृष्णे स्वधामोपगते	भा० १।३।४५
,, वेदाः पुराणं काव्यञ्च	वोपदेवस्य मुक्ताफल
,, कथं वा पाण्डवेयस्य	भा० १।४।७
२७ क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविड़े	भा० ११।५।३९
२८ शास्त्रान्तराणि संजानन्	मध्वाचार्य भारत-तात्पर्यम्
२९ स्वसुखनिभृतचेता	भा० १२।१२।६८
,, प्रायेण मुनयो राजन्	भा० २।१।७-९
३० भक्तियोगेन मनसि	भा० १।७।४-८
,, स वै निवृत्तिनिरतः	भा० १।७।९
,, आत्मारामाश्च मुनयः	भा० १।७।१०
,, हरेर्गुणाक्षिप्तमतिः	भा० १।७।११
,, अस्त्वेवमङ्ग भजतां	भा० ५।६।१८
,, समाधिनानुस्मर	भा० १।५।१३
,, भगवानिति शब्दोऽयं	पद्मपुराण
,, कामकामो यजेत्	भा० २।३।९-१०
३१ पूर्वमेवाहमिहासम्	श्रुति
,, त्वमाद्यः पुरुषः	भा० १।७।२३
,, मायाञ्च तदपाश्रयाम्	भा० १।७।४
,, माया परैत्यभिमुखे	भा० २।७।४७
,, अनर्थोपशमं	भा० १।७।६
३२ यया सम्मोहितः	भा० १।७।५
,, अज्ञानेनावृतं	गीता ५।१५
,, विलज्जमानया यस्य	भा० २।५।१३
,, भयं द्वितीयाभिनिवेशतः	भा० ११।२।३७
३३ दैवी ह्येषा	गीता ७।१४
,, सतां प्रसङ्गान्मम	भा० ३।२५।२५
,, अनर्थोपशमं साक्षात्	भा० १।७।६
३४ तदपाश्रयाम्	भा० १।७।४-५
४६ यत्कर्मभि र्यत् तपसा	भा० ११।२०।३२-३३
,, श्रेयःसृतिं भक्तिम्	भा० १०।१४।४
४७ प्रीतिर्न यावन्मयि	भा० ५।५।६
,, कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्	भा० १।३।२८

अनुच्छेदः	
४७ कृष्णशब्दस्य तमाल-	नाम-कौमुदि
४८ स संहिताम्	भा० १।७।८
४९ आत्मारामाश्च	भा० १।७।१०
५० धर्म्मः प्रोज्झितकैतवः	भा० १।१।२
५१ वदन्ति तत्तत्त्वविदः	भा० १।२।११
५२ सर्ववेदान्तसारं	भा० १२।१३।१२
" सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	तै० उ० २।१।१
" येनाश्रुतं श्रुतं	छा० उ० ६।१।३
" सदेव सौम्येदमग्र आसीत्	छा० उ० ६।२।१
" तदैक्षत बहुस्याम्	छा० उ० ६।२।३
" अनेन जीवेनात्मना	छा० उ० ३।३।२
" तत्त्वमसि	छा० उ० ६।८।७
५३ अन्यार्थश्च परामर्शः	ब्र० सू० १।३।२०
" नात्मा जजान	भा० ११।३।३८
५४ अण्डेषु पेशिषु	भा० ११।३।३९
" यद्वैतन्न पश्यति	बृ० आ० ४।३।२३
५५ अन्वयव्यतिरेकाख्य	कारिका
५६ अत्र सर्गो विसर्गश्च	भा० २।१०।१-२
५७ भूतमात्रेन्द्रियधियां	भा० २।१०।३
" स्थितिर्वैकुण्ठ	भा० २।१०।४
" अवतारानुचरितं	भा० २।१०।५
" निरोधोऽस्यानु	भा० २।१०।६
५८ आभासश्च निरोधश्च	भा० २।१०।७
५९ योऽध्यात्मिकोऽयं	भा० २।१०।८
" एकमेकतराभावे	भा० २।१०।९
" स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः	तै० उ० २।१।१
६० परोऽपिमनुतेऽनर्थम्	भा० १।७।५
" जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तञ्च	भा० ११।१३।२७
" शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः	भा० ५।११।१२
" सर्वं पुमान् वेद	भा० ६।४।२५
६१ सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च	भा० १२।७।८
" दशभिर्लक्षणैः	भा० १२।७।९
" सर्गश्च प्रतिसर्गश्च	केचित्
" दशमे कृष्णसत्कीर्तिः	भा० १०।१।१ भावार्थदीपिका
" दशमे दशमं लक्ष्यम्	"
" श्रुतेनार्थेनचाञ्जसा	प्रसिद्धवाक्य

❋ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ❋

श्रीश्री श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिते

षट्सन्दर्भनामके—

श्रीभागवत-सन्दर्भे

प्रथमः—

तत्त्व-सन्दर्भः।

श्रीकृष्णो जयति।

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।

यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥१॥

तत्त्वसन्दर्भ-टीका।

श्रीजीवगोस्वामी-प्रभुपाद-विरचिता

सर्वसम्वादिनी

श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्राय नमः

श्रीकृष्णं नमता नाम सर्वसम्वादिनी मया। श्रीभागवत-सन्दर्भस्यानुव्याख्या विरच्यते ॥१॥

अथ श्रीभागवतसन्दर्भ-नामानं ग्रन्थमारभमाणो महाभागवत-कोटि-बहिरन्तर्दृष्टि-निष्टङ्कित-भगवद्भावं निजावतार-प्रचार-प्रचारित-स्व-स्वरूप-भगवत्पदकमलावलम्बि-दुर्लभ-प्रेम-पीयूषमय-गङ्गाप्रवाह-सहस्रं स्वं सम्प्रदाय-सहस्राधिदैवं श्रीकृष्णचैतन्यदेवनामानं श्रीभगवन्तं कलियुगेऽस्मिन् वैष्णवजनोपास्यावतारतयार्थ-विशेषालिङ्गितेन श्रीभागवतपद्य-संवादेन स्तौति.—[मूले मङ्गलाचरण-पद्ये] (भा०११।५।३२) 'कृष्णवर्णम्' इति; एकादशस्कन्धे कलियुगोपास्य-प्रसङ्गे पद्यमिदम्। अर्थश्च।—त्विषा कान्त्या योऽकृष्णो गौरस्तं कलौ सुमेधसो यजन्ति। गौरत्वञ्चास्य (भा० १०।८।१३)—

श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण-कृता टीका।

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने धर्म्माध्यक्षे विश्वनिस्तारिनाम्नि।
नित्यानन्दाद्वैत-चैतन्यरूपे तत्त्वे तस्मिन्नित्यमास्तां रतिर्नः॥
मायावादं यस्तमः-स्तोममुच्चैर्नाशं निन्ये वेद-वागंशुजालैः।
भक्तिर्विष्णोर्दर्शिता येन लोके जीयात् सोऽयं भानुरानन्दतीर्थः॥

गोविन्दाभिधमिन्दिराश्रितपदं हस्तस्थरत्नादिवत् तत्त्वं तत्त्वविदुत्तमौ क्षितितले यौ दर्शयाञ्चक्रतुः।
मायावाद-महान्धकार-पटली-सत्पुष्पवन्तौ सदा तौ श्रीरूप-सनातनौ विरचिताश्चर्य्यौ सुवर्य्यौ स्तुमः॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

चैतन्यं परमानन्दमद्वैतं द्वैत-कारणम्। श्रीकृष्णं राधया सार्द्धं प्रणमामि जगद्गतिम्॥

अनुवाद—

नत्वागदाधरं देवं गौरचन्द्रसमन्वितम्। सन्दर्भस्य मितां व्याख्यां करोति हरिदासकः॥

अभीप्सितवस्तु निर्देशरूप मङ्गलाचरण।

विश्वहितव्रती भगवान् श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यास, ऋगादि वेद को चतुर्धा विभक्त कर एवं तत्त्व-समन्वयात्मक ब्रह्मसूत्र प्रभृति को प्रकाशित करके भी जब निजमन निर्म्मल नहीं हुआ, तो देवर्षि श्रीनारदके

सर्वसम्वादिनी

"आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनुः। शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः" ।।२।। इत्यतः पारिशेष्य-प्रमाण-लब्धम्;—इदानीमेतदवतारास्पदत्वेनाभिख्याते द्वापरे कृष्णतां गत इत्युक्तेः, शुक्ल-रक्तयोः सत्य-त्रेता-गतत्वेनैकादश एव वर्णितत्वाच्च। पीतस्यातीतत्वं प्राचीन--तदवतारापेक्षया। उक्तश्चैकादशे द्वापरोपास्यत्वं श्रीकृष्णस्य श्यामत्व-महाराजत्व-वासुदेवादि-चतुर्मूर्त्तित्व-लक्षण-तल्लिङ्ग-कथनेन—(भा० ११।५।२७-२९)

"द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः। श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ।।३।।

तं तदा पुरुषं मर्त्त्या महाराजोपलक्षणम्। यजन्ति वेद-तन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ।।४।।

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च। प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः" ।।५।। इति। अतो विष्णुधर्मोत्तरादौ यच्च द्वापरे शुकपक्ष-वर्णत्वं कलौ च नीलघनवर्णत्वं श्रूयते, तदपि यदा श्रीकृष्णावतारो न स्यात्, तद्द्वापरविषयमेव मन्तव्यम्। एवञ्च यद्द्वापरे श्रीकृष्णोऽवतरति, तदनन्तर-कलावेव श्रीगौरोऽप्यवतरतीति स्वारस्यलब्धेः साक्षात् स्वयंश्रीकृष्णाविर्भाव-विशेष एवायं श्रीगौर इत्यायाति,—तदव्यभिचारात्। अतएव यद्विष्णुधर्मोत्तरे निर्णीतम्—

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

यः सांख्य-पङ्केन कुतर्क-पांशुना विवर्त्त-गर्त्तेन च लुप्तदीधितिम्।
शुद्धं व्यधाद्वाक्सुधया महेश्वरं कृष्णं स जीवः प्रभुरस्तु नो गतिः ।।

आलस्यादप्रवृत्तिः स्यात् पुंसां यद्ग्रन्थविस्तरे। अतोऽत्र गूढ़े सन्दर्भे टिप्पन्यल्पा प्रकाश्यते ।।

श्रीमज्जीवेन ये पाठाः सन्दर्भेऽस्मिन् परिष्कृताः। व्याख्यायन्ते त एवामी नान्ये ये तेन हेलिताः ।।

श्रीबादरायणो भगवान् व्यासो ब्रह्मसूत्राणि प्रकाश्य तद्भाष्यभूतं श्रीभागवतमाविर्भाव्य शुकं तदध्यापितवान्। तदर्थं निर्णेतुकामः श्रीजीवः प्रत्यूहकुलाचल-कुलिशं वाञ्छितपीयूष-वलाहकं स्वेष्टवस्तु-निर्द्देशं मङ्गलमाचरति—कृष्णेति। निमिनृपतिना पृष्टः करभाजनो योगी सत्यादियुगावतारानुक्त्वा "अथ कलावपि तथा शृणु" इति तमवधार्य्याह—कृष्णवर्णमिति। सुमेधसो जनाः कलावपि हरिं भजन्ति।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अस्य ग्रन्थस्य मुख्याभिधेय-श्रीकृष्ण-सङ्कीर्त्तनरूपमङ्गलं कुर्व्वन् तस्य मुख्योपास्यतां प्रमाणयन्नेकादशस्थ-

अनुवाद—

उपदेश से ब्रह्मसूत्र का अकृत्तिम भाष्यरूप श्रीमद्भागवत को आविर्भावित करके निज तनय श्रीशुकदेव को अध्ययन कराए थे। अधुना कलियुग पावनावतार श्रीकृष्णचैतन्यदेवके प्रिय पार्षद-श्रीजीवगोस्वामीचरण, कलिदोषग्रस्त जीव की धारणाशक्ति की स्वल्पता का अनुभव कर, उक्त श्रीमद्भागवत के प्रकृतार्थ समन्वित सिद्धान्तपूर्ण भाष्यरूप ग्रन्थ को प्रकाश करने के लिए निर्विघ्न से अभीप्सित विषय की सिद्धि कामनासे मङ्गलाचरण का प्रणयन करते हैं। जिनके अभ्यन्तर में कृष्णवर्ण है, एवं अङ्ग—श्रीनित्यानन्द व श्रीमदद्वैत, उपाङ्ग श्रीवास पण्डित प्रभृति, अस्त्र—अविद्यानाशक-श्रीहरिनाम, पार्षद—श्रीगदाधर-गोविन्द प्रभृति के सहित जो सर्वदा बलीयान् हैं, सुमेधा व्यक्तिगण,-श्रीहरिसङ्कीर्त्तन प्रधान यज्ञके द्वारा उनकी अर्चना करते हैं ।।१।।

सारार्थः—ग्रन्थारम्भ में ही मङ्गलाचरण करना शिष्टाचार सम्मत है, मङ्गलाचरण में ग्रन्थ प्रतिपाद्य अभीष्ट वस्तुका निर्देश होना आवश्यक है। ग्रन्थ समाप्ति हेतु कोई विघ्न उपस्थित न हो यही मङ्गलाचरण का उद्देश्य है। इस ग्रन्थमें तज्जन्य विघ्नविनायक दलनकुलिश,-एवं स्वीय वाञ्छित पीयूष कादम्बिनी रूपमें मङ्गलाचरण हुआ। उक्त मङ्गलाचरण श्लोक,-भागवतीय है, "युग युग में भगवान् जीव के उपास्य होते हैं, एवं किस युगमें उनका वर्ण किस प्रकार होता है? आकृति किस प्रकार है?

सर्वसम्वादिनी

"प्रत्यक्ष-रूपधृग्देवो दृश्यते न कलौ हरिः। कृतादिष्वेव तेनैव त्रियुगः परिपठ्यते ॥६॥

कलेरन्ते च संप्राप्ते कल्किनं ब्रह्मवादिनम्। अनुप्रविश्य कुरुते वासुदेवो जगत्स्थितिम्" ॥७॥

इत्यादि, तदप्यमर्य्यादैश्वर्य्य-कृष्णत्वेनैवातिक्रान्तम्;–तस्य[श्रीगौरस्य]कलि-प्रथम-व्याप्ति [श्रीकृष्ण-श्रीगौरयोरवतरणे मिथोऽव्यभिचरित-सम्बन्ध]–दर्शनात्।

तदेतदाविर्भावत्वं तस्य स्वयमेव विशेषण–द्वारा व्यनक्ति,—कृष्णवर्णम्;—कृष्णेत्येतौ वर्णौ यत्र यस्मिन् श्रीकृष्णचैतन्यदेव-नाम्नि श्रीकृष्णत्वाभिव्यञ्जकं कृष्णेति वर्णयुगलं प्रयुक्तमस्तीत्यर्थः; तृतीये श्रीमदुद्धव-वाक्ये (भा० ३।३।३) "समाहूताः" इत्यादि-पद्ये "श्रियः सवर्णेन" इत्यत्र [श्रीधरस्वामिपाद-कृतायां] टीकायां "श्रियो रुक्मिण्याः समानं वर्णद्वयं वाचकं यस्य स श्रियः सवर्णो रुक्मी" इत्यपि दृश्यते। यद्वा, कृष्णं वर्णयति तादृश-स्व-परमानन्द विलास-स्मरणोल्लास-वशतया स्वयं गायति, परम-कारुणिकतया च सर्वेभ्योऽपि लोकेभ्यस्तमेवोपदिशति यस्तम्; अथवा, स्वयमकृष्णं गौरं त्विषा स्व–शोभा–विशेषेणैव कृष्णवर्णं कृष्णोपदेष्टारञ्च;—यद्दर्शनेनैव सर्वेषां श्रीकृष्णः स्फुरतीत्यर्थः; किंवा, सर्वलोकदृष्टावकृष्णं गौरमपि

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

कैः? इत्याह—सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यज्ञैः—अर्च्चनैरिति। कीदृशं तम्? इत्याह—कृष्णो वर्णो रूपं यस्यान्तरिति शेषः। त्विषा–कान्त्या तु अकृष्णं—"शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥"—

इति गर्गोक्ति-पारिशेष्याद्विद्युद्गौरमित्यर्थः। अङ्गे—नित्यानन्दाद्वैतौ,उपाङ्गानि–श्रीवासादयः,अस्त्राणि—अविद्याच्छेत्तृत्वाद्भगवन्नामानि, पार्षदाः—गदाधर-गोविन्दादयः, तैः सहितमिति महाबलित्वं व्यज्यते। गर्ग-वाक्ये 'पीतः' इति प्राचीनतदवतारापेक्षया। अयमवतारः—श्वेतवराह-कल्पगताष्टाविंशवैवस्वत-मन्वन्तरीयकलौ बोध्यः। तत्रत्ये श्रीचैतन्य एवोक्तधर्म्म-दर्शनात्। अन्येषु कलिषु क्वचित् श्यामत्वेन,

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

पद्यं दर्शयति,–त्विषाऽकृष्णमिति–कनकमिवोज्ज्वलम्। सुमेधस इति–श्रीकृष्ण-कीर्त्तनं कलौ परमश्रेयस्त्वेन

अनुवाद—

पूजनविधि भी किस प्रकार है? निमिराज के द्वारा उस प्रकार जिज्ञासित होकर करभाजन योगीन्द्र; कलियुगके उपास्य निर्णय प्रसङ्ग में उक्त श्लोक कहे थे।" इसमें कलियुग पावनावतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका वर्णन है। प्रसङ्गवश श्रीगौराङ्ग अवतार का कुछ तत्त्व कहते हैं, श्रीगौराङ्ग,–अवतार,–श्रीकृष्ण का ही प्रकाश विशेष है। विश्वम्भर, श्रीकृष्णचैतन्य, गौराङ्गचैतन्य, महाप्रभु प्रभृति नामों से आप कहे जाते हैं, जिस श्वेतवराह कल्पके अष्टाविंश चतुर्युगीय द्वापर के अन्तमें श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुये थे, उसी द्वापरान्त संलग्न कलियुग में श्रीगौराङ्ग अवतीर्ण हुये। इस प्रकार नियम प्रतिकल्पके अवतारमें ही जानना होगा। श्रीकृष्णावतार के सहित श्रीगौराङ्ग अवतार का नियत सम्बन्ध ही इस नियम का मूल कारण है, अर्थात् श्रीकृष्ण जिस प्रकार परिपूर्ण एवं स्वयं भगवान् हैं, तन्निमित्त निखिल अवतार उनमें लीन होकर पालनादि निज निज कार्य करते रहते हैं, उस प्रकार श्रीकृष्ण का प्रकाश श्रीगौराङ्ग में भी स्वयं भगवत्ता एवं परिपूर्णता है। उनमें युगावतार प्रविष्ट होकर प्रयोजनानुरूप निज निज कार्य सम्पादन करते रहते हैं। (चै० च०, आ०, ४ परिच्छेद में इसका विस्तृत विवरण है)।

"त्विषा कृष्ण" यहाँ "अकृष्ण" शब्द का अर्थ,–मनीषिगण के मतमें गौरवर्ण है, कारण,—श्रीमद्भागवतके गर्गवचन में "पीत" शब्द का प्रयोग है।—

"आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः। शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥" भा०१०,८-१३

यहाँ 'इदानीं कृष्णतां गतः' उल्लेख से द्वापरमें कृष्णवर्ण और 'कृते शुक्लश्चतुर्बाहुः' 'त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ' इत्यादि एकादश स्कन्धके प्रमाण द्वारा सत्ययुगावतार का शुक्लवर्णत्व, एवं त्रेतावतार का रक्तवर्णत्व

सर्वसम्वादिनी

भक्तविशेष-दृष्टौ त्विषा प्रकाश-विशेषेण कृष्णवर्णं तादृश-श्यामसुन्दरमेव सन्तमित्यर्थः ; तस्मात्तस्मिन् सर्वथा श्रीकृष्णरूपस्यैव प्रकाशात्तस्यैव साक्षादाविर्भावः स्वयं स इति भावः।

तस्य श्रीभगवत्त्वमेव स्पष्टयति,—साङ्गोपाङ्गास्त्र-पार्षदम्; बहुभिर्महानुभावैरसकृदेव तथा दृष्टोऽसाविति गौड़-बरेन्द्र-वङ्ग-सुह्मोत्कलादि-देशीयानां महा-प्रसिद्धिः तथाङ्गानि,—परम-मनोहरत्वात्; उपाङ्गानि भूषाणादीनि,—महाप्रभाववत्त्वात्; तान्येवास्त्राणि,—सर्वदैकान्तवासित्वात्; तान्येव पार्षदाः; यद्वा, अत्यन्त-प्रेमास्पदत्वात् तत्तुल्या एव पार्षदाः श्रीमदद्वैताचार्य्य-महानुभावचरण-प्रभृतयस्तैः सह वर्त्तमानमिति चार्थान्तरेण व्यक्तम्।

तमेवम्भूतं कैर्यजन्ति ? यज्ञैः पूजा-सम्भारैः,—(भा० ५।१६।२३) "न यत्र यज्ञेश-मखा महोत्सवाः" इत्युक्तेः। तत्र च विशेषणेन तमेवाभिधेयं व्यनक्ति,—सङ्कीर्त्तनं बहुभिर्मिलित्वा तद् [सङ्कीर्त्तन] गानसुखं श्रीकृष्णगानम्, तत् [श्रीकृष्णगानात्मक-सङ्कीर्त्तन] प्रधानैः। तथा सङ्कीर्त्तन-प्राधान्यस्य तदाश्रितेष्वसकृदेव दर्शनात् स एवात्राभिधेय इति स्पष्टम्॥१॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

क्वचित् शुकपत्राभत्वेन व्यक्तेरुक्तः। "छन्नः कलौ यदभवः" इति, "शुक्लो रक्तस्तथा पीतः" इति, "कलावपि तथा शृणु" इति व। ये विमृशन्ति ते सुमेधसः। छन्नत्वञ्च—प्रेयसी-त्विषावृतत्वं बोध्यम्। अङ्काः पूर्व्वाङ्कितोऽत्रान्ये टिप्पनीक्रमबोधकाः। द्विविन्दवस्ते विज्ञेया विषयाङ्कास्त्वविन्दवः॥

अत्र ग्रन्थे स्कन्धाध्याय-सूचका युग्माङ्का ग्रन्थकृतां सन्ति। तेभ्योऽन्ये ये टिप्पनीक्रम-बोधायास्माभिः कल्पितास्ते द्विविन्दु मस्तकाः। विषयवाकचेभ्यः परे येऽङ्कास्ते त्वविन्दुमस्तका बोध्याः॥१॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

शास्त्राचार्य्यविवेचितमिति सूचयति॥१॥

अनुवाद—

प्रतिपादित हुआ है। सुतरां अवशिष्ट पीतवर्ण, कलियुग में श्रीकृष्णचैतन्य का ही जानना होगा। विष्णुसहस्र नाम में भी पीतवर्णरूप में श्रीगौराङ्ग अवतार सूचित है, "सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।" "सन्नचासकृत् समः शान्तो निष्ठाशान्ति परायणः।" उपनिषद् में उक्त है—"यदा पश्यः पश्यतेरुक्मवर्णम्" गर्गवचन में "आसन्" क्रियासे अतीत कालका निर्देश हुआ है। सत्य, त्रेतागत 'श्वेत', 'रक्त' की क्रिया अतीत हो सकती है, किन्तु कलियुग के सम्बन्ध में उसका प्रयोग कैसे सम्भव होगा ? उत्तर में कहते हैं,—पूर्वकल्पगत कलिमें उक्त श्रीगौराङ्ग अवतार हुये थे, उस अवतार को लक्ष्य करके ही पीत का अतीतत्व निर्देश हुआ है, अथवा "विरुद्धधर्मसमवायेभूयसां स्यात् सधर्मकत्वम्" इस नियम से जिस प्रकार "छत्रिणोगच्छन्ति" अर्थात् छत्रधारिगण गमन करते हैं, उसमें दो एक छत्र हीन होने परभी उस वाक्य से उनका भी निर्देश हुआ है, यहाँपर भी उस प्रकार भविष्यत् कालज एकमात्र 'पीत' को तदधिक शुक्ल व रक्तगत अतीत क्रियाके साथ कहा गया है। भगवद् अवतारावली के मध्यमें श्रीचैतन्यदेव ही जो श्रीकृष्ण का प्रकाश है,—उनका प्रकाश,-'कृष्णवर्णं' इत्यादि विशेषण द्वारा करते हैं, "श्रीकृष्णचैतन्य" नाममें "कृ-ष्ण" अक्षरद्वय ही,-श्रीकृष्णके सहित श्रीचैतन्यदेव की अभिन्नता का द्योतक है, अथवा "कृष्णं वर्णयति" "कृष्णवर्ण" शब्दसे श्रीकृष्णको वर्णन करते हैं, अर्थात् श्रीचैतन्यदेव किसी एक अनिर्वचनीय लीलास्मरण से विवश होकर स्वयं श्रीकृष्णलीला गुणगान करते हैं, एवं अमर्य्याद करुणापरवश होकर जनगण को श्रीकृष्णतत्त्व का उपदेश करते हैं। अथवा,-श्रीमन्महाप्रभु,-स्वयं "अकृष्ण" गौर होनेपर भी "त्विषा" कृष्णवर्ण अर्थात् निज अद्भुत शोभा का आविष्कार कर भक्तगणके हृदय में निज तत्त्व-श्रीकृष्णतत्व की स्फूर्त्ति कराते रहते हैं, पक्षान्तर में-सर्वलोक लोचन में "अकृष्ण" गौर

अन्तःकृष्णं बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादि-वैभवम् ।
कलौ सङ्कीर्त्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः ॥२॥
जयतां मथुराभूमौ श्रील-रूप-सनातनौ ।
यौ विलेखयतस्तत्त्वं ज्ञापकौ पुस्तिकामिमाम् ॥३॥

सर्वसम्वादिनी

तदेतत् सर्वमवधार्य्यापि परमोत्कृष्टेनार्थेन तमेव स्तौति,—(मू०म०प०) 'अन्तः कृष्णम्' इत्यादिना ; दर्शितश्चैतत् परम-विद्वच्छिरोमणिना श्रीसार्वभौमभट्टाचार्येण,—

"कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः, प्रादुष्कर्त्तुं कृष्णचैतन्यनामा ।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे, गाढ़ं गाढ़ं लीयतां चित्तभृङ्गः" ॥८॥ इति ॥२॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

'कृष्णवर्णं'-पद्यव्याख्या-व्याजेन तदर्थमाश्रयति—अन्तरिति, स्फुटार्थः ॥२॥
अथाशीर्नमस्काररूपं मङ्गलमाचरति-जयतामिति । श्रीलौ-ज्ञान-वैराग्य-तपः-सम्पत्तिमन्तौ,रूपसनातनौ—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

स्वभजनस्य सम्प्रदायप्रवर्त्तनायावतीर्णं गौररूपेण श्रीकृष्णं तदनुमतव्याख्या-सम्पत्तये पुनः प्रणमति ;—अन्तःकृष्णमिति । आश्रिता इति—वयमिति शेषः ॥२-७॥

अनुवाद—

होने पर भी भक्त विशेष के प्रेममय लोचन के प्रकाश विशेष से "कृष्णवर्ण" अप्राकृत श्यामसुन्दर रूप में प्रतिभात होते हैं। श्रीमन्महाप्रभु की अनुकम्पा से श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य श्रीचैतन्यदेव के अप्राकृत श्यामसुन्दर रूप का दर्शन किए थे। अतएव श्रीमन्महाप्रभु में सर्व प्रकार से श्रीकृष्ण रूप का ही प्रकाश होने से आप जो साक्षात् व्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण का आविर्भाव विशेष हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

विशेषणान्तर के द्वारा उनकी भगवत्ता का प्रकाश करते हैं "साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदं" जिनके मनोहर अङ्ग एवं भूषणनिचय महाप्रभावमय होने से अस्त्र तुल्य एवं सर्वदा समीपमें अवस्थान योग्य पार्षद् तुल्य हैं।

कलियुगोपास्य श्रीकृष्णचैतन्य देव के उपासनावृत्तान्त इस श्लोक के शेषार्द्ध में कथित है। श्रीहरि सङ्कीर्त्तन प्रधान पूजोपकरण ही उनकी मुख्यतम उपासना है ॥१॥

श्रीमद्भागवतीय पद्यके द्वारा श्रीकृष्ण का आविर्भाव विशेष ही श्रीगौराङ्गदेव हैं, इस तत्त्व का निश्चय कर अधुना उक्त श्लोक की व्याख्या के छल से वस्तु निर्देश पूर्वक उनकी स्तुति ग्रन्थकार कर रहे हैं। जिनके अभ्यन्तर में कृष्णवर्ण एवं बाहर गौरवर्ण है, और जो निज अङ्ग उपाङ्गादि का वैभव का प्रदर्शन जगद्-वासियों में किये हैं। हम सव नाम सङ्कीर्त्तनरूप साधन के द्वारा श्रीचैतन्यदेवकी शरण ग्रहण कर रहे हैं ॥२॥

सारार्थः—"अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं" इस विशेषण निर्देश कर, ग्रन्थकारने,–व्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण ही जो निज प्रेयसी गौराङ्गी श्रीराधिका की अङ्ग कान्ति से निज श्याम कान्ति को आच्छादित कर श्रीगौराङ्ग रूपमें अवतीर्ण हैं, इसको व्यक्त किया है। सर्व प्रमाण शिरोमणि श्रीमद् भागवत के श्रीप्रह्लाद वाक्य में उस प्रकार वर्णन है। "छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्" प्रभु ! आप कलियुग में छन्न होने से आपका नाम त्रियुग है। यहाँ छन्न शब्द से ही प्रेयसी भाव कान्ति द्वारा आच्छादित अर्थ आता है। "नाहं प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृतः" उक्ति से ईश्वरावतार तत्त्व अवगति के लिए उनकी अनुकम्पा की आवश्यकता है ॥२॥

अनन्तर आशीर्नमस्काररूप मङ्गलाचरण करते हैं। पूर्व श्लोक द्वय से वस्तु तत्त्व का निर्देश करके सम्प्रति आशीर्नमस्कार रूप मङ्गलाचरण करते हैं। मथुरा मण्डलवर्त्ति श्रीवृन्दाबन वासी श्रीरूप

कोऽपि तद्बान्धवो भट्टो दक्षिणद्विज-वंशजः ।
विविच्य व्यलिखद्ग्रन्थं लिखिताद्वृद्धवैष्णवैः ॥४॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्त-व्युत्क्रान्त-खण्डितम् ।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥५॥

सर्वसम्वादिनी

(मू० म० प०) 'जयताम्' इति; ज्ञापकौ—ज्ञापयितुम् ॥३॥

(मू० म० प०) 'कोऽपि' इति; 'वृद्धवैष्णवैः' श्रीरामानुज-मध्वाचार्य्य-श्रीधरस्वाम्यादिभिर्यल्लिखितम्, तस्मादुद्धृत्येत्यर्थः ;—अनेन स्व-कपोल-कल्पितत्वञ्च निरस्तम् ॥४॥

श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण-कृता टीका ।

मे गुरु-परमगुरु, जयतां—निजोत्कर्षं प्रकटयताम् । मथुरा-भूमाविति—तत्र तयोरध्यक्षता व्यज्यते। तयोर्जयोऽस्त्वित्याशास्यते । जयतिरत्र-तदितर-सर्व्वसद्वृन्दोत्कर्षवचनः । तदुत्कर्षाश्रयत्वात्तयोस्ततसर्व्व-नमस्यत्वमाक्षिप्यते । तत्सर्व्वान्तःपातित्वात् स्वस्य तौ नमस्याविति च व्यज्यते । तौ कीदृशौ? इत्याह—याविमां सन्दर्भाख्यां पुस्तिकां विलेखयतः,—तस्या लिखने मां प्रवर्त्तयतः, बुद्धौ सिद्धत्वात् 'इमाम्' इत्युक्तिः । तत्त्वं ज्ञापकौ—"तत्त्वं वाद्य-प्रभेदे स्यात् स्वरूपे परमात्मनि ।"—
इति विश्वकोषात्, परेशं सपरिकरं ज्ञापयिष्यन्तावित्यर्थः । कर्त्तरि भविष्यति ण्यल्, षष्ठीनिषेधस्तु—"अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" इति सूत्रात् ॥३॥

ग्रन्थस्य पुरातनत्वं स्वपरिष्कृतत्वञ्चाह—कोऽपीति । तद्बान्धवः-तयोः-रूप-सनातनयोर्बन्धुः—गोपालभट्ट इत्यर्थः वृद्धवैष्णवैः—श्रीमध्वादिभिर्लिखिताद् ग्रन्थात् तं विविच्य—विचार्य्य सारं गृहीत्वा ग्रन्थमिमं व्यलिखत् ॥४॥ तस्य—भट्टस्य, आद्यं—पुरातनं ग्रन्थनालेखं पर्य्यालोच्य; जीवकः—मल्लक्षणः, पर्य्यायं कृत्वा—क्रमं निबध्य लिखति । "ग्रन्थ सन्दर्भे"—चौरादिकः, ततो "ण्यासग्रन्थ" इति कर्म्मणि युच्, ग्रन्थना—ग्रन्थः, तस्य लेखं—लिखनं, भावे घञ् । तं लेखं कीदृशं ? इत्याह,—क्रान्तम्— क्रमेण स्थितम्,

अनुवाद—

सनातन की जय हो, जिन्होंने सपरिकर श्री भगवत्तत्त्व ज्ञापक पुस्तिका प्रणयन में मुझको प्रवृत्त किया ॥३॥

सारार्थः—इस श्लोक में "श्रील" शब्द के द्वारा निज गुरु, परम गुरु श्रीरूप सनातन,-श्री=ज्ञान-भगवत् तत्त्वज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति सम्पत्तिमान् हैं, यह सूचित हुआ है। अतः आप दोनों मेरे द्वारा उक्त सम्पत्तिनिचय का वितरण जगत्जीव के निमित्त करके जगत् में निज उत्कर्ष प्रकट करें। पूजनीय व्यक्ति के सम्मानार्थ भी श्रील शब्द का प्रयोग होता है। "मथुराभूमौ जयतां" अर्थात् पहले जिस प्रकार गौड़भूमि में उत्कर्ष मण्डित थे; अधुना मथुरामण्डल में आकर श्रीभगवान् की प्रेमभक्ति सम्पत्ति के अध्यक्ष एवं भागवत गोष्ठी का नायक हुए थे। मथुरा माहात्म्य में उक्त है—

एवं सप्तपुरीणान्तु सर्वोत्कृष्टन्तु माथुरम् । श्रूयतां महिमा देवि ! वैकुण्ठभुवनोत्तमः ॥
अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी । दिनमेकं निवासेन हरिभक्तिः प्रजायते ॥

सप्त पुरीयों के मध्य में मथुरा पुरी श्रेष्ठ है। यहाँ एकदिन निवास करने से ही सुकृतिमान् व्यक्ति के हृदय में श्रीहरिभक्ति उदित होती है ॥३॥

ग्रन्थ की प्राचीनता एवं कृतज्ञता ज्ञापन । वृद्ध वैष्णव,-श्रीमन्मध्वाचार्य श्रीरामानुज श्रीधरस्वामि प्रभृति वैष्णवगणों के प्रणीत श्रीभगवत्तत्त्व विषयक ग्रन्थ से सारसङ्कलन कर श्रीरूप सनातन के बान्धव दाक्षिणात्य वैदिक ब्राह्मण श्रीगोपालभट्ट पादने जिस ग्रन्थ का प्रणयन किया था, वह ग्रन्थ,-क्रमबद्ध-क्रम रहित-तथा खण्डित था, उसका पर्य्यालोचन करके मैं लिख रहा हूँ ॥४-५॥

य: श्रीकृष्णपदाम्भोज-भजनैकाभिलाषवान् ।
तेनैव दृश्यतामेतदन्यस्मै शपथोऽर्पितः ।।६।।
श्रीमद्भागवतं श्रीमन्मन्त्रदेशिकमीश्वरम् ।
श्रीमद्भागवतार्थानां सन्दर्भं कर्त्तुमाश्रये ।।
अथ नत्वा मन्त्रगुरून् गुरून् भागवतार्थदान् ।
श्रीभागवत-सन्दर्भं सन्दर्भं वश्मि लेखितुम् ।।७।।

सर्वसम्वादिनी

(मू० म० प०) 'य:' इति; 'एक:' मुख्यः ; 'एतत्' लिखनम् ।।६।।
(मू० म० प०) 'अथ' इति; 'श्रीभागवतसन्दर्भ'-नामानं सन्दर्भग्रन्थमित्यर्थः । 'वश्मि' कामये ।।७।।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

व्युत्क्रान्तम्-व्युत्क्रमेण स्थितम्, खण्डितम्-छिन्नमिति स्वश्रमस्य सार्थक्यम् ।।५।। ग्रन्थस्य रहस्यत्वमाह,-यः श्रीति । कृष्णपारतम्येऽन्येनानादृते तस्यामङ्गलं स्यादिति तन्मङ्गलायैतत्, न तु ग्रन्थावद्य-भयात् । तस्य सुव्युत्पन्नै र्निरवद्यत्वेन परीक्षितत्वात् ।।६।। अथेति । "गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिः श्रेष्ठता तथा ।
नानार्थवत्त्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः ।।"—
इत्यभियुक्तोक्तलक्षणं सन्दर्भं लेखितुं वश्मि—वाञ्छामि । श्रीभागवतं संदृभ्यते—ग्रथ्यतेऽत्रेति, "हलश्च"

अनुवाद—

सारार्थः—मूलस्थ "जीवक" शब्द अल्पार्थ में 'कन्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है । इस से क्षुद्र जीव रूप अर्थ प्रकाश होता है । पक्षान्तर में "जीव एव जीवकः" उस प्रकार स्वार्थ में कन् प्रत्यय द्वारा निज नामोल्लेख भी हुआ है ।।४-५।।

अधिकारि निर्णय । वेदादि शास्त्र सिद्धान्त का सारसङ्कलन हेतु प्रस्तुत ग्रन्थ अति उपादेय है । अतः व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णोपासकगण ही इस ग्रन्थ के अनुशीलन में अधिकारी हैं । प्रस्तुत श्लोक से उक्तार्थ का प्रकाश करते हैं । जो व्यक्ति श्रीकृष्णचरणारविन्द भजन में अभिलाषी है, वह ही इस ग्रन्थ का अवलोकन करे ।।६।।

सारार्थः—ग्रन्थाध्ययन के निमित्त उस प्रकार कहने का अभिप्राय यह है कि-ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय-श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् एवं परतत्त्व हैं, ब्रह्म, परमात्मा उनके ही अंश वैभव इत्यादि है, उक्त सिद्धान्त को देखकर श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठतमत्व में अविश्वास होने पर अपराध होगा, इससे अमङ्गल की सम्भावना है । अतः सतर्क कर देते हैं, यह ग्रन्थ कपोल कल्पित नहीं है एवं निर्दुष्ट है ।।६।।

अनन्तर मन्त्रगुरु श्रीमद् भागवतोपदेष्टा गुरुवर्ग को प्रणाम कर श्रीभागवत सन्दर्भ नामक ग्रन्थ सन्दर्भ लिखने के लिये इच्छुक हूँ ।।७।।

सारार्थः—"भागवत सन्दर्भ"—भगवान् एवं उनका भजन प्रतिपादक "श्रीभागवत" नामक ग्रन्थ का "सन्दर्भ" अर्थ निर्णायक वाक्य समूह जिसमें गूढ़ अर्थ का प्रकाश, उक्ति की सारवत्ता, श्रेष्ठता, विभिन्न अर्थ का समावेश एवं ज्ञान विषयता विद्यमान है, उसे सन्दर्भ कहते हैं, प्राचीन कारिका इस प्रकार है—"गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिः श्रेष्ठता तथा । नानार्थवत्त्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः ।। भागवतार्थ निर्णायक ग्रन्थ होने से ग्रन्थकारने "भागवत सन्दर्भ" प्रस्तुत ग्रन्थ का नामकरण किया है । भागवत,—तत्त्व, भगवत्, परमात्म, कृष्ण, भक्ति एवं प्रीति सन्दर्भ—ये छह भाग से विभक्त होने से इसका प्रसिद्ध नाम "षट् सन्दर्भ" है ।।७।।

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्रसत्ता-
प्यंशो यस्यांशकैः स्वैर्विभवति वशयन्नेव मायां पुमांश्च ।
एकं यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं
स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रेम तत्पादभाजां ॥८॥

सर्वसम्वादिनी

सर्व-ग्रन्थार्थं संक्षेपेण दर्शयन्नपि मङ्गलमाचरति,—(मू० म० प०) 'यस्य' इति; 'क्वचिदपि'—(तै० २।१।२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादावपि-शब्देन तत्रैव ब्रह्मत्वं मुख्यमित्यानीतम् । 'अंशकैः' लीलावतार-रूपैर्गुणावताररूपैश्च; 'पुमान्' पुरुषः सर्वान्तिर्यामी परमात्माख्यः । 'एकं' श्रीकृष्णाख्यादन्यत्; 'यस्यैव'

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

इत्यधिकरणे "घञ्" ॥७॥ अथ श्रोतृ-रुच्युत्पत्तये ग्रन्थस्य विषयादीननुबन्धान् संक्षेपेण तावदाह;— यस्येति । स स्वयंभगवान् श्रीकृष्णः, इह—जगति, तत्पादभाजां—तच्चरणपद्मसेविनां स्वविषयकं प्रेम, विधत्तां—अर्पयतु । स कः ? इत्याह,—यस्य—स्वरूपानुबन्धचाकृतिगुणविभूतिविशिष्टस्यैव श्रीकृष्णस्य, चिन्मात्रसत्ता—अनभिव्यक्ततत्तद्विशेषा ज्ञानरूपा विद्यमानता, क्वचिदपि निगमे—कस्मिंश्चित् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्ति इत्येवोपलब्धव्यः" इत्यादिरूपे श्रुतिखण्डे, ब्रह्मेति संज्ञां याति—तादृशतया चिन्तयतां

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥"—(१।२।११)

इति श्रीभागवतीयश्लोक-तात्पर्य्यं पद्येन दर्शयति—यस्येति । क्वचिदपि निगमे—ब्रह्मसंहितादौ, यस्य चिन्मात्रसत्ता ब्रह्मेति संज्ञां याति—नियतमाश्रयतीत्यन्वयः । चित्—ज्ञानं, तन्मात्रं—तन्मयं स्वस्वरूप-भूतज्ञानवद्वस्तुसत्ता, स्वस्वरूपभूतसत्पदप्रवृत्तिनिमित्तवदित्यर्थः । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति श्रुतेः ।

अनुवाद—

संक्षेप में अनुबन्ध निर्णय । श्रोतृवर्ग की रुचि के निमित्त आशीर्वाद के छल से संक्षेप में ग्रन्थ के विषयादि अनुबन्ध का वर्णन करते हैं । जिनकी चिन्मात्र सत्ता को श्रुति स्थान-स्थान पर "ब्रह्म" शब्द से कहती है । जिनका अंश,–माया नियन्ता पुरुष ही,–निज अंश मत्स्यादि लीलावतार एवं ब्रह्मा विष्णु प्रभृति गुणावतार रूपवैभव को प्रकाश करते रहते हैं । जिनका ही "नारायण" नामक रूप परव्योम में विलसित है, वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, इस जगत् में उनके श्रीचरणकमल सेवी भक्तगण को निज प्रेम प्रदान करें ॥८॥

सारार्थः—स्वरूपभूत आकृति, गुण एवं विभूति विशिष्ट स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की ही आकृति, गुण, विभूति के मध्य में जहाँ किसी एक की भी विशेष रूप से अभिव्यक्ति नहीं है, ऐसे एक अवस्थाविशेष को ही ब्रह्म कहते हैं । उस अवस्थाविशेष को ही श्रुति,–चिद्रूप (ज्ञानरूप) सत्ता (विद्यमानता) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कहती है, जो निज स्वरूपानुभवरत विशुद्ध ज्ञानी है, वह श्रीभगवान् की नित्य विद्यमान स्वरूपभूत अनन्त रूप गुण लीला विभूति की धारणा करने में असमर्थ है । वह ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की तादृश चिद्रूप सत्ता को ब्रह्म रूप से अनुभव करता है । परमात्मा—स्वरूपशक्ति विशिष्ट होकर भी सान्निध्य मात्र से ही माया वृत्ति सत्त्व रजः एवं तमो गुण के द्वारा जगत् सृष्टि प्रभृति कार्य करते हैं । आप श्रीभगवान् के अंश हैं, एवं सर्वान्तर्य्यामी पुरुष रूप में भी ख्यात हैं । इस श्लोकस्थ "पुमान्" शब्द का लक्ष्य उक्त पुरुषरूपी परमात्मा है । पुरुष तीन प्रकार है, प्रथम पुरुष–सङ्कर्षण, द्वितीय–प्रद्युम्न, तृतीय–अनिरुद्ध । सङ्कर्षण का कार्य,–माया के प्रति ईक्षण करना, प्रद्युम्न का कार्य,–लीलावतार का आविर्भावन, एवं अनिरुद्ध का कार्य,–गुणावतार प्रकटन है । ग्रन्थकार–इस ग्रन्थ के व्याख्या ग्रन्थ सर्वसम्वादिनी में

सर्वसम्वादिनी

इति तस्य भगवत्त्व-साम्येऽपि श्रीकृष्णस्यैव स्वयंभगवत्त्वं दर्शितम्; 'नारायणाख्यं रूपम्'—पाद्मोत्तर-खण्डादि-प्रतिपाद्यः परमव्योमाख्य-महावैकुण्ठाधिपः श्रीपतिः। 'स्वयंभगवान्' इति (भा०१।३।२८) 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति श्रीभागवत-प्रामाण्यमिहेति सूचितम्; 'श्री' इति तदव्यभिचारिणी स्वरूपशक्तिरपि

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

तथा प्रतीतिमासीदतीत्यर्थः। भक्तिभावितमनसां तु व्यञ्जित-तत्तद्विशेषा सैव पुरुषत्वेन प्रतीता भवतीति बोध्यम्, "सत्यं ज्ञानम्" इत्युपक्रान्तस्यैवानन्दमयपुरुषत्वेन निरूपणात्। अतएवमुक्तं जितन्ते स्तोत्रे;—

"न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम्। तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे।।" इति।

न चैवं प्राचीनाङ्गीकृतमिति वाच्यम्, उक्तरीत्या तस्याप्यनभीष्टत्वाभावात्। यस्य कृष्णस्यांशः पुमान् मायां वशयन्नेव स्वैरंशकैर्विभवति। कारणार्णवशायी सहस्रशीर्षा पुरुषः संकर्षणः कृष्णांशः प्रकृतेर्भर्त्ता, तां वशे स्थापन्नेव स्व-वीक्षणक्षुब्धया तयाण्डानि सृष्ट्वा, तेषां गर्भेष्वम्बुभिरर्द्धपूर्णेषु सहस्रशीर्षा प्रद्युम्नः सन्,

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तथा च,—श्रीकृष्णः—स्वस्वरूपभूतश्रीविग्रहधारि ब्रह्मेति भावः। एवञ्च ब्रह्मपदं—ज्ञानपरं ज्ञानिपरञ्च; धर्म्म-धर्म्मिणोरभेदात् प्रत्येकं तयोर्भेदाच्च; एवं शरीर-शरीरिणोरपि भेदाभेदौ। एवं तच्छरीरावशिष्टस्यापि ब्रह्मत्वं, विशिष्टस्य विशेष्यानतिरेकात्। यस्यांशः पुमांश्च—परमात्मा प्रथमपुरुषः, मायां—प्रकृतिं वशयन् तद्गुणयोगेन, स्वैरंशकैः—स्व-स्वरूपभूतजीवात्मरूपधर्म्मैः, विभवति—विविधो भवति। श्रीवैकुण्ठनाथस्य विलासरूपत्वं दर्शयति—एकमिति। रसामृतसिन्धावप्युक्तम्, "सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश-कृष्णस्वरूपयोः" इति। श्रीशेति—श्री-राधयोरप्यैक्यं सूचयति। स्फुरदुर्व्विति,—भगवद्विशेषणं,

अनुवाद—

"अंशकैः" लीलावताररूपैः गुणावताररूपैश्च, पुमान्–पुरुषः सर्वान्तर्य्यामी परमात्माख्यः।" पुमान् शब्द से "निर्विशेष" अर्थ किए हैं, एवं मूल में सङ्कर्षण के कार्य को 'मायां वशयन्' वाक्य से प्रकाश कर सर्व-सम्वादिनी में "अंशकैर्विभवति" इसकी व्याख्यामें प्रद्युम्न का कार्य, लीलावतार, अनिरुद्ध का कार्य-गुणावतार प्रकटन" ग्रन्थकारने व्याख्या की है, सुतरां इस ग्रन्थ में सङ्कर्षण एवं तदवतार प्रद्युम्न-अनिरुद्ध ये तीन पुरुष को एक मान कर ही वर्णन किया है।

परव्योम एवं भगवान्। ब्रह्माण्ड के बाहर, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कारतत्त्व एवं आकाशादि पञ्च महाभूत, यह आठ आवरण है, उसके बाहर यह धाम विद्यमान है। इसमें नारायण अथवा महानारायण इत्यादि नाम से प्रसिद्ध श्रीकृष्ण की विलासभूमि विराजते हैं। आप मूलतः भगवान् शब्द से अभिहित होते हैं, और सर्वावतारी श्रीकृष्ण "स्वयं भगवान्" हैं।

"अनन्यापेक्षि यद्रूपं स्वयंरूपः स उच्चते।" "स्वरूपमन्याकारं यत्तस्य भाति विलासतः। प्रायेण आत्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते"। जो स्वरूप दूसरी की अपेक्षा नहीं करता है, वह "स्वयं रूप" है। और जो स्वरूप,-मूलस्वरूप श्रीकृष्ण से लीलाविग्रह रूप में प्रकाशित होने से अङ्ग सन्निवेश तदपेक्षा विभिन्न है, अथच शक्ति प्रकाश में प्राय तुल्य है, उसको विलास कहते हैं। श्रीकृष्ण स्वरूप किसी की अपेक्षा नहीं करता है, कारण—स्वतःसिद्ध स्वरूप है, अपर से प्रकाशित नहीं है, इस स्वरूप को ही भागवत में "स्वयं भगवान्" शब्द से कहा है। "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्रीसूतने कहा—हे ऋषिगण! आप के निकट जिस अवतार का नाम कीर्त्तन मैंने किया, वे सव सहस्रशीर्षा पुरुष के अंश, कला हैं, किन्तु श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं।

अवतार का कार्य। "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।" इस वाक्य के अनुसार भूभार हरण कर धर्म संस्थापन ही अवतार का कार्य है। श्रीकृष्ण,-

अथैवं सूचितानां श्रीकृष्णतद्वाच्यवाचकतालक्षणसम्बन्ध-तद्भजनलक्षणविधेय-सपर्य्यायाभिधेय

सर्वसम्वादिनी

दर्शिता। 'इह' जगति; तत्पादभाजां तच्चरणारविन्दं भजताम्; 'प्रेम' प्रीत्यतिशयम्; 'विधत्तां' कुरुताम्, प्रादुर्भावयत्वित्यर्थः ॥८॥

(मू० १म० अनु०) 'तत्र पुरुषस्य' इति। अत्रैतदुक्तं भवति।—यद्यपि प्रत्यक्षानुमान-शब्दार्षोपमानार्थापत्त्यभाव-सम्भवैतिह्य-चेष्टाख्यानि दश प्रमाणानि विदितानि, तथापि भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटव-दोष-रहित-वचनात्मकः शब्द एव मूलं प्रमाणम्;—अन्येषां प्रायः पुरुष- भ्रमादि-दोषमयतयान्यथा-प्रतीति-दर्शनेन प्रमाणं वा तदाभासो वेति पुरुषैर्निर्णेतुमशक्यत्वात्; तस्य [दोषचतुष्टय-रहितस्य-शब्दस्य]

श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण-कृता टीका।

स्वैरंशकैः—मत्स्यादिभिः, विभवति— विभवसंज्ञकान् लीलावतारान् प्रकटयतीत्यर्थः। यस्यैव— कृष्णस्य, नारायणाख्यमेकं—मुख्यं रूपम्, आवरणाष्टकाद्बहिःष्ठे परमव्योम्नि विलसति, स नारायणो यस्य विलास इत्यर्थः। अनन्यापेक्षिरूपः स्वयंभगवान्, प्रायस्तत्समगुणविभूतिराकृत्यादिभिरन्यादृक् तु विलास इति सर्व्वमेतच्चतुर्थ-सन्दर्भे विस्फुटीभविष्यद्वीक्षणीयम् ॥८॥

अथैवमिति। सूचितानां—व्यञ्जितानां चतुर्णामित्यर्थः। श्रीकृष्णश्च ग्रन्थस्य विषयः, तद्वाच्य-वाचकलक्षणश्च सम्बन्धः, तद्भजनं—तच्छ्रवण-कीर्त्तनादि, तल्लक्षणं यद्विधेयं, तत्सपर्य्यायं यदभिधेयं,—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

प्रेमविशेषणं वेति। अत्रायं विवेकः—यदा ज्ञानानन्द-तात्पर्य्येण ब्रह्मशब्द-प्रयोगस्तदा धर्म्मत्वम्, यदा ज्ञानादिमत्तात्पर्य्येण ब्रह्मशब्द-प्रयोगस्तदा अंशत्वम्; यदा शरीरित्वेन ज्ञानादिमत्त्वेन च प्रबोधयितुं प्रयुक्तो ब्रह्मशब्दस्तदा सम्पूर्णभगवत्परः। कृष्ण-शरीरादेरपि ज्ञानानन्दस्वरूपतया सच्चिदानन्दविग्रह इत्यादिप्रयोग इति ॥८॥

अथेति प्रमाणं विनिर्णीयत इत्यनेनास्यान्वयः। किमर्थं प्रमाणविनिर्णय इत्यत आह,-एवं सूचितानामिति। तत्र श्रीभागवतसन्दर्भं वच्मीत्यनेन श्रीकृष्णस्वरूप-तद्भजनयोरभिधेयत्वम्, तयोर्व्वाच्यवाचकतालक्षण-

अनुवाद—

अपूर्व रसास्वादन के निमित्त भूतल में अवतीर्ण होने पर भी भूभार हरणादिकार्य भी उनसे हुआ था, अतः साधारण के मध्य में उनका ग्रहण हुआ, किन्तु आप स्वयं भगवान्, सर्वावतारी सहस्रशीर्षा भगवान् का भी अवतारी हैं। तज्जन्य अन्यान्य अवतार से श्रीकृष्ण को पृथक् करने के अभिप्राय से "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" कहा गया है।

प्रेम। जिस के उदय से चित्त अत्यन्त आर्द्र होता है, इष्ट वस्तु में निरतिशय स्नेह होता है, इस प्रकार प्रगाढ़ भाव को ही प्रेम कहा गया है।

"सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥"

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही इस ग्रन्थ का विषय हैं, उनके सहित ही ग्रन्थ का सम्बन्ध है, इसका प्रकाश— "सः श्रीकृष्णः" शब्द से हुआ है। "तत्पादभाजां" उस पद से अभिधेय साधन भक्ति निर्दिष्ट हुई है। और प्रेम शब्द,-प्रयोजन रूपमें कथित है, इस प्रकार "यस्य ब्रह्मेति" इत्यादि श्लोक से आशीर्वाद प्रार्थना के छल से संक्षेप में विषयादि अनुबन्ध चतुष्टय का कथन हुआ है ॥८॥

अनुबन्धचतुष्टयनिरूपण। पूर्व श्लोकमें संक्षेप से जो अनुबन्ध चतुष्टय का कथन हुआ है, उसका ही विस्तार करते हैं। पूर्व श्लोक में संक्षेप से सूचित ग्रन्थ का 'विषय' श्रीकृष्ण, ग्रन्थ के सहित श्रीकृष्ण का वाच्य-वाचकतारूप 'सम्बन्ध' शास्त्र में कर्त्तव्य रूपसे निर्दिष्ट तदीय श्रवणकीर्त्तनादि लक्षण भजन (भक्ति) 'अभिधेय' है, एवं तदीय 'प्रेम' ही 'प्रयोजन' है। इस अनुवन्ध चतुष्टय का अर्थ निर्णय करने के निमित्त

तत्प्रेमलक्षणप्रयोजनाख्यानामर्थानां निर्णयाय तावत् प्रमाणं निर्णीयते। तत्र पुरुषस्य

सर्वसम्वादिनी

तु तदभावात् [अन्यथा-प्रतीति-दर्शनाभावात्]। अतो राज्ञा भृत्यानामिव तेनैवान्येषां बद्धमूलत्वात्, तस्य तु नैरपेक्ष्यात्, यथाशक्ति क्वचिदेव तस्य तैः साचिव्यकरणात्, स्वाधीनस्य तस्य तु तान्युपमर्द्यापि प्रवृत्ति-दर्शनात्, तेन [स्वाधीन-शब्देन] प्रतिपादिते वस्तुनि तैः [शब्दानुग-प्रत्यक्षादिभिः] विरोद्धुमशकचत्वात्, तेषां [प्रत्यक्षादीनां] शक्तिभिरस्पृश्ये वस्तुनि तस्यैव तु साधकतमत्वात्। तथा हि प्रत्यक्षं तावन्मनोबुद्धीन्द्रिय-पञ्चक-जन्यतया [मानस-भेदेन, तथा चक्षुरादिक-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-भेदेन च] षड्विधं भवेत्। प्रत्येकं पुनः सविकल्पक-[मनोग्राह्य]-निर्विकल्पक[अतीन्द्रिय]-भेदेन द्वादश-विधं भवति। तदेव[प्रत्यक्षं]च पुनः वैदुषमवैदुषञ्चेति द्विविधम्—

तत्र वैदुषे [यथेश्वरस्य, तत्पार्षदानां लब्धसमाधीनां सिद्धानाञ्च वैदुषप्रत्यक्षे] न विप्रतिपत्तिः [विरोधः],-भ्रमादि-नृदोष-राहित्यात्; शब्दस्यापि तन्मूलत्वाच्च [वैदुष-प्रत्यक्षमूलत्वाच्च]; किन्तु अवैदुषे [यथा जीवानाम-वैदुषप्रत्यक्षे]

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

तच्च, तत्प्रेमलक्षणं प्रयोजनञ्च—पुरुषार्थस्तदाख्यानाम्। एकवाच्यवाचकत्वम्—पर्य्यायत्वम्। 'समानः पर्य्यायोऽस्य' इति सपर्य्यायः। समानार्थकसहशब्देन समासात् 'अस्वपदविग्रहो' बहुव्रीहिः। 'वोपसर्ज्जनस्य' इति सूत्रात् सहस्य सादेशः।

"सहशब्दस्तु साकल्य-यौगपद्य-समृद्धिषु। सादृश्ये विद्यमाने च सम्बन्धे च सह स्मृतम्॥" इति श्रीधरः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

सम्बन्धश्च सूचितः। "प्रेम दद्याद्भजद्भ्यः" इत्यनेन भजनस्य विधेयत्वं, प्रेम्नः फलत्वं सूचितम्। श्रीकृष्णेति तद्भजनोपलक्षणं; तेन कृष्ण-तद्भजनयोर्व्वाच्यता, ग्रन्थस्य वाचकतेति परस्परसम्बन्धो दर्शितः। श्रीकृष्ण-सम्बन्ध-कथनात् तस्याभिधेयता-लाभः। भजनस्य विधेयतयाऽभिधेयत्वमिति विशेषाय स्वातन्त्र्येण तत्कीर्त्तनम्। विधेय-पर्य्यायाभिधेयेत्यस्य—विधेय-लक्षणाभिधेयेत्यर्थः। एवञ्च; भागवत-

अनुवाद—

प्रमाण का निर्णय करते हैं। उस के मध्यमें देखने में आता है कि—अतिव्युत्पन्नमति एवं व्यवहार विज्ञ होने पर भी सव पुरुष की ही बुद्धि,—भ्रमादि दोषचतुष्टय दुष्ट है, सुतरां अलौकिक अचिन्त्य स्वभाव पारमार्थिक वस्तु ग्रहण करने में वह अयोग्य है। यह निमित्त—पुरुष कृत प्रत्यक्षादि दस प्रमाण भी दोषयुक्त है॥९॥

सारार्थः—श्रीबलदेव विद्याभूषण की टीका में विषय, सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजनरूप अनुबन्ध चतुष्टय, श्रीराधामोहनगोस्वामी की टीका में सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन गृहीत है। ग्रन्थ श्रवण में श्रोतृवर्ग की प्रवृत्ति उत्पादन के निमित्त ग्रन्थ के प्रथम में ही अनुबन्ध को कहना आवश्यक है।

"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते। ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सविधेयकः॥
सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य वस्तुनो वापि कस्यचित्। यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत् केन गृह्यते॥"

सम्बन्ध एवं विषयतत्त्व। जिस प्रकार चक्षु का विषय रूप है, चक्षु केवल रूप को ही ग्रहण करता है। उस प्रकार इस ग्रन्थ का विषय श्रीकृष्ण है। ग्रन्थ के साथ श्रीकृष्ण का वाच्य-वाचकता सम्बन्ध है। अर्थात् ग्रन्थ श्रीकृष्ण का वाचक-प्रतिपादक है। श्रीकृष्ण—ग्रन्थ का वाच्य-प्रतिपाद्य है। जिसको कहा जाता है—वह वाच्य है, जो कहता है—वह वाचक है।

अभिधेय तत्त्व। श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन ये नौ प्रकार साधन भक्ति ही "भजन" कारण भक्ति एवं भजन—उभय शब्द ही एकार्थबोधक है। अनादि सिद्ध भगवद् ज्ञानाभाव को ही भगवद् विमुखता कहते हैं। उस विमुखता की प्रतिकूल भगवदुन्मुखता ही अभिधेय है। उसको ही श्रीभगवान् की उपासना अथवा भजन कहते हैं, उसका वर्णन ही इस स्थल में श्रवण कीर्त्तनादि नवविध रूप से हुआ है।

भ्रमादिदोष-चतुष्टयदुष्टत्वात् सुतरामलौकिकाचिन्त्यस्वभाववस्तुस्पर्शायोग्यत्वाच्च तत्प्रत्यक्षादीन्यपि सदोषाणि ॥९॥

सर्वसम्वादिनी

एव संशयः [**द्वैधज्ञानम्; मिथ्या-ज्ञानं वा**]; तदीयं ज्ञानं हि व्यभिचरति [**अव्याप्त्यतिव्याप्त्य-सम्भावनेति दोषत्रयेणाक्रान्तं भवति**]; यथा—'माया-मुण्डावलोकने देवदत्तस्यैव मुण्डमिदं विलोक्यते' इत्यादौ । न तु शब्दः; यथा—'हिमालये हिमम्, रत्नाकरे रत्नम्' इत्यादौ तच्छब्देनैव बद्धमूलम्; यथा दृष्टचर-मायामुण्डकेन केनचिद्भ्रमात् सत्येऽप्यश्रद्धीयमाने सत्यमेवेदमिति नभो-वाण्यादौ जानन्नपि वृद्धोपासनं विना न किञ्चिदपि तत्त्वेन निर्णेतुं शक्नोतीति हि सर्वेषामेव न्यायविदां स्थितिः । शब्दस्य तु नैरपेक्ष्यम्; यथा—'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ;स एष शब्दो 'दशमोऽहमस्मि' इति प्रमायास्तिरस्कारिणं मोहं श्रवणपथ-प्रवेशमात्राद्विनिवर्त्तयत्येवेति स्पष्टमेव नैरपेक्ष्यम् । आत्मशक्त्यनुरूपमेव प्रत्यक्षेण शब्दस्य साचिव्यकृतिः; यथा—'अग्निर्हिमस्य

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

तत्रेति; पुरुषस्य—व्यवहारिकस्य व्युत्पन्नस्यापि भ्रमादिदोषग्रस्तत्वात्ताद्दृक्पारमार्थिकवस्तु-स्पर्शानर्हत्वाच्च तत्प्रत्यक्षादीनि च सदोषाणीति योज्यम् । 'भ्रमः प्रमादो विप्रलिप्सा करणापाटवञ्च' इति जीवे चत्वारो दोषाः । तेष्वतस्मिंस्तद्बुद्धिः—भ्रमः, येन स्थाणौ पुरुष-बुद्धिः । अनवधानतान्यचित्ततालक्षणः—प्रमादः, येनान्तिके गीयमानं गानं न गृह्यते । वञ्चनेच्छा—विप्रलिप्सा, यथा शिष्ये स्वज्ञातोऽप्यर्थो न प्रकाश्यते । इन्द्रिय-मान्द्यं—करणापाटवम्, येन दत्तमनसापि यथावत् वस्तु न परिगीयते । एते प्रमातृजीव-दोषाः

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

सन्दर्भमित्यस्य, भगवत इदं—श्रीकृष्ण-स्वरूप-तद्भजनम्,—तस्य सन्दर्भम्—काण्डं; तत्त्वतो निर्णायकवाक्य-जातमिति पर्य्यवसितोऽर्थः । वच्मीत्यस्य-कथयामीत्यर्थः । वस्तुतस्तु भागवत-सन्दर्भ—भगवद्भजन-

अनुवाद—

प्रयोजन तत्त्व । श्रवणकीर्त्तनादिमय साधनभक्ति के अनुष्ठान से भीतरबाहर भगवत् साक्षात्कारमय समुदित प्रेम ही यहाँ पर "प्रयोजन" रूप से कथित है । "यमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्" भगवत् साक्षात्कारमय अनन्त सुख प्राप्ति की लालसा से ही जीव की प्रवृत्ति भजन में होती है । अतएव साक्षात्कारमय प्रेम ही प्रयोजन है । जगत् में सुखप्राप्ति, दुःख निवृत्तिरूप प्रयोजन—सर्वत्र दृष्ट होता है । किन्तु सुख प्राप्ति न होने से दुःख निवृत्ति नहीं होती है, उस निरवच्छिन्न सुख अथवा आनन्द ही भगवत् प्रेम है, जिसके हृदयाकाश में प्रेम-सूर्य्य विराजमान है, उसका दुःख तिमिर से भय कैसे होगा ? अतः सुख प्राप्ति ही जीव मात्र का मूल प्रयोजन होने से सुखमय प्रेमको ही प्रयोजन कहा गया है । इसका विशद वर्णन पञ्चम षष्ठ सन्दर्भ में है ।

भ्रमादिदोषचतुष्टय । "भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव" दोष चतुष्टय है, भ्रम—मिथ्याज्ञान, मिथ्यामति, नैयायिकगण इसे अप्रमा कहते हैं, अर्थात् एक वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान । भ्रम दो प्रकार है,-विपर्य्यास एवं संशय । शरीर में आत्मबुद्धि—विपर्य्यास, यह पुरुष अथवा स्थाणु (शाखा हीन वृक्ष) इस प्रकार बुद्धि-'संशय' । पित्त, दूरत्व, मोह, भय, प्रभृति कारण से भ्रम अनेक प्रकार होता है ।

"तत् प्रपञ्चो विपर्य्यासः संशयोऽपि प्रकीर्त्तितः । आद्यो देहे आत्म बुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः ॥
भवेन्निश्चयरूपा सा संशयोऽथ प्रदर्श्यते । किं स्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशयः ॥
पित्त दूरत्वादिरूप दोष नानाविधस्मृतः ॥

शर्करा अति मधुर है—पित्त रोगाक्रान्त रसना से तिक्त बोध होता है । चन्द्र-सूर्य्य का बोध परिमित होता है, मरुभूमि में सूर्य्य किरण से तरङ्गायित नदी का बोध होता है । इस भ्रान्ति में दूरत्व कारण है ।

सर्वसम्वादिनी

भेषजम्' इत्यादावेव; न तु 'भवान् बभूव गर्भे मे मथुरा-नगरे सुत' इत्यादौ। शब्दस्य तु तदुपमर्द्दकत्वम्; यथा—'सर्पदष्टे त्वयि विषं नास्ति' इति मन्त्र इत्यादौ। तेन [शब्देन] प्रतिपादिते प्रत्यक्षाविरोधित्वम्; यथा—'सौवर्णं भसितं स्निग्धम्' इत्यादौ। तस्यैव तु साधकतमत्वं यथा—[क्वचिन्नरदेहे] ग्रहचेष्टादाविति। सर्वप्रत्यक्षसिद्धं यत्तत् सत्यमित्येष पक्षः सर्वस्यैकत्र मिलनासम्भवात् पराहतः। अथ बहूनां प्रत्यक्षसिद्धमित्येषोऽपि क्वचिद्देशे पौरुषेय-शास्त्रे वा कस्यापि वस्तुनोऽन्यथा-ज्ञानदर्शनात् पराहतः।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

प्रमाणेषु सञ्चरन्ति। तेषु भ्रमादि-त्रयं प्रत्यक्षे, तन्मूलकेऽनुमाने च; विप्रलिप्सा तु शब्दे इति बोध्यम्। प्रत्यक्षादीन्यष्टौ भवन्ति प्रमाणानि तत्रार्थ-सन्निकृष्टं चक्षुरादीन्द्रियं—प्रत्यक्षम्। अनुमितिकरणं—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

प्रतिपादक-श्रीभागवताख्यग्रन्थस्य सन्दर्भम्,—अर्थनिर्णायकवाक्य-जातं वच्मीत्यर्थः। एवञ्च श्रीभागवतस्य प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धा एवास्य ग्रन्थस्य प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धा इति ज्ञेयम्। तत्रेति—प्रमाणेष्वित्यर्थः।

अनुवाद—

आत्मा—अहं शब्द वाच्य है, अज नित्य, परिणामशून्य है. किन्तु स्थूलोऽहम् कृशोऽहम्, स्थूलत्व कृशत्व धर्मयुक्त देह में आत्म बोधक अहं शब्द का प्रयोग होता है। इसका कारण मोह है, गृह में कभी सर्प को देखकर भावी काल में उसके अवर्त्तमान में भी सर्पबुद्धि का कारण भय है। प्रमाद—अनवधानता, निकट में शब्द होने पर भी उसका ज्ञान न होना, विप्रलिप्सा,—वञ्चना करने की इच्छा, जिस प्रकार—ज्ञान उत्तम वस्तु होने पर भी शिष्य को शास्त्राध्ययन से वञ्चित करना। करणापाटव—इन्द्रिय वर्ग की अपटुता, मनोयोग से भी वस्तु ज्ञान उत्तमरूपसे न होना।

प्रत्यक्षादि प्रमाण। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, आर्ष, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, चेष्टा, प्रमाण के बिना प्रमेय की सिद्धि नहीं होती है। कारण—प्रमायाः करणम्—प्रमाणम्॥ यथार्थ ज्ञानका नाम 'प्रमा' रज्जु में सर्प ज्ञान—अयथार्थ ज्ञान। वह प्रमा नहीं है, रज्जु में रज्जु ज्ञान ही प्रमा है। जिस से प्रमा ज्ञान होता है, अर्थात् यथार्थ अनुभव होता है, वह प्रमाण है। आम को देखकर आम ज्ञान होना प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है, उससे यथार्थ ज्ञान होता है। प्रमाण की मान्यता में मतभेद है। चार्वाक—प्रत्यक्ष प्रमाण को मानता है, बौद्ध—प्रत्यक्ष-अनुमान, वैशेषिक—प्रत्यक्ष-अनुमान, शब्द प्रमाण-इस मतमें अनुमानान्तर्गत है। सांख्य दर्शन—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम को मानते हैं। न्याय दर्शन—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, मीमांसक-प्रभाकर—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द-अर्थापत्ति को मानते हैं। भट्ट मत में अभाव को भी प्रमाण मानते हैं। धर्मराजाध्वरीन्द्र—अनुपलब्धि को प्रमाण मानते हैं। पौराणिकगण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य को प्रमाण मानते हैं। श्रीजीव गोस्वामी के मतमें श्रीमन्मध्वाचार्य स्वीकृत प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द प्रमाणत्रय स्वीकृत है। अन्यान्य प्रमाण समूह, उक्त प्रमाणत्रय में अन्तर्भूत है।

प्रत्यक्ष। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। चक्षु प्रभृति इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष है। वह अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी व्यवसायात्मक होने से प्रमा ज्ञान होता है। जो प्रत्यक्ष यथार्थ ज्ञान का कारण है, वह ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। उक्त प्रत्यक्ष-निर्विकल्पक सविकल्पक भेद से द्विविध है। विषयेन्द्रिय संयोग से आपाततः निर्विशेष रूप से ज्ञान होता है, वह निर्विकल्पक है। धर्म सहकृत धर्मिका ज्ञान सविकल्पक है, निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकं, सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्॥ श्रीजीव गोस्वामीपाद के मत में उक्त प्रत्यक्ष—"वैदुष्य-अवैदुष्य" भेद से द्विविध है। विद्वान् का प्रत्यक्ष—वैदुष्य, अज्ञ का प्रत्यक्ष अवैदुष्य है। वैदुष्य प्रत्यक्ष भ्रमादिशून्य हेतु निर्दोष है।

सर्वसम्वादिनी

अथ प्रतिज्ञा–हेतूदाहरणोपनय–निगमनाभिध–पञ्चाङ्गमनुमानं यत्तदपि व्यभिचरति। तत्र विषम-व्याप्तौ यथा—वृष्ट्या तत्कालनिर्वापित-वह्नौ चिरमधिकोदित्वर-धूमे पर्वते 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' इत्यादौ, वर्षासु धूमायमान-स्वभावे पर्वते वा; न तु शब्दः; यथा—'सूर्य्यकान्तात् सौर-मरीचि–योगेनाग्निरुत्तिष्ठते' इत्यत्र। तत् (अनुमानं) शब्देनैव बद्धमूलं यथा—'अरे शीतातुराः पथिकाः! माऽस्मिन् धूमाद्वह्नि-सम्भावनां कृढ्वम्, दृष्टमस्माभिरत्रासौ वृष्ट्याधुनैव निर्वाणः; किन्त्वमुत्रैव धूमोद्गारिणि गिरौ दृश्यते वह्निः' इत्यादौ। धूमाभास एवायम्, न तु वह्निः; 'किन्त्वमुत्रैव' इत्यादि-वाक्यादौ च। यदि वक्तव्यम्—एवमाभासत्वेन पूर्वत्र स्वरूपासिद्धो हेतुरित्यतो न सदनुमान-व्यभिचारितेति,—समानाकारत्वात्, विषपर्वत

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अनुमानम्, अग्न्यादिज्ञानं—अनुमितिः, तत्करणं—धूमादिज्ञानम्। आप्त-वाक्यं—शब्दः, (तर्कसंग्रह-शब्द-प० पृ० ३९)। उपमितिकरणं—उपमानम्, गो-सदृशो गवयः—इत्यादौ सञ्ज्ञासंज्ञि-सम्बन्धज्ञानं—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तत्प्रत्यक्षादीत्यत्रास्यान्वयः। तत्प्रत्यक्षादीनि—लौकिकपुरुष-प्रत्यक्षादीनि। तेनेश्वर-प्रत्यक्षस्य सदोषत्व-व्यावृत्तिः। आदिना—अनुमानोपमानानुपलब्धि-परिग्रहः, सदोषाणि—भ्रम-जनकतया सम्भावितानि।

अनुवाद—

अनुमान। 'अनु' शब्द का अर्थ पश्चात्, 'मान' शब्द का अर्थ ज्ञान है। प्रथम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होने से, पश्चात् तत् सम्बन्धि अन्य अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान 'अनुमान' है। जिस प्रकार प्रथम धूम को देखकर 'इस पर्वत में अग्नि है' कहा जाता है। यहाँ अनुमान है।

अनुमितिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यज्ञानमनुमितिः॥ व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निरिति साहचर्य्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्त्वं पक्ष धर्मता।

जिससे अनुमिति का ज्ञान होता है, वह ही 'अनुमान' है। परामर्श से जो विशिष्ट ज्ञान होता है, उसे अनुमिति कहते हैं, व्याप्ति प्रकार से अभिन्न—जो पक्ष विषयक ज्ञान, वह ही परामर्श है, जिस प्रकार—यह पर्वत-अग्नि व्याप्य धूमयुक्त है। यह ज्ञान परामर्श है, धूम युक्त होने से ही पर्वत वह्निमान है, यह ज्ञान अनुमिति है। जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है, इस प्रकार साहचर्य्य (सामान्याधिकरण्य) का नियम को व्याप्ति कहते हैं। अर्थात् व्याप्ति धूम-अव्यभिचारि वह्नि का सामानाधिकरण्य-व्याप्ति है। व्याप्य—अर्थात् व्याप्ति का आश्रय-धूमादि का पर्वतादि में प्रवर्त्तनत्व,-वह ही पक्षधर्मता है।

यह पूर्ववत्—'कारणवत्' शेषवत्—'कार्यवत्' सामान्यतोदृष्ट—'उभय भिन्न हेतु का त्रिविध अनुमान है, उसे केवलान्वयि-केवलव्यतिरेकि-अन्वयव्यतिरेकि शब्द से कहते हैं।

शब्द। "आप्तोपदेशश्च शब्दः" आप्त—यथार्थ वक्ता का उपदेश-वह ही शब्द प्रमाण है। आप्तवाक्यं शब्दः; आप्तस्तु यथार्थवक्ता। आप्त पुरुष का वाक्य शब्द है, आप्त शब्द से यथार्थ वक्ता को जानना होगा। आप्त शब्द का अर्थ—विश्वस्त भी है। आप्त शब्दका अर्थ– भ्रम प्रमादादि दोष चतुष्टय रहित है। त्रिविध अर्थ का एक ही तात्पर्य है। जिस वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत पदार्थ सम्बन्ध—अन्य किसी भी प्रमाण द्वारा बाधाप्राप्त नहीं होता है—वह वाक्य ही प्रमाण है। इससे इस वाक्य का अवश्य ही निश्चय की वैशिष्ट्य है। दर्शन जगत् में कपिल, कणाद, गौतमादि तत्त्ववादी महर्षिगण, प्रत्यक्षादि जो प्रमाण कहे हैं, उससे जिस वाक्य की बाधा नहीं होती है—इस प्रकार ईश्वरप्रोक्त वाक्य ही यहाँ पर शब्द प्रमाण है। कारण स्वकृत सर्वसम्वादिनी में श्रीजीव गोस्वामीपादने कहा है—"तथापि भ्रम प्रमाद विप्रलिप्सा करणापाटव दोषरहितवचनात्मकः शब्द एव मूलं प्रमाणम्। अन्येषां प्रायः पुरुष भ्रमादिदोषमयतयान्यथा-प्रतीतिदर्शनेन प्रमाणं वा तदाभासो वेति पुरुषैर्निर्णेतुमशक्यत्वात् तस्य तदभावात्"।

सर्वसम्वादिनी

वाष्पादिषु नेत्रज्वालादीनामपि दर्शनात् ? (उच्यते—) अलम्, धूमादीनामसार्वत्रिकत्वात्तद्वाष्पातीत-कालगत-धूमजातत्वादि-सम्भवाच्च न धूम-धूमाभासयोरग्नि-सद्भावासद्भावमात्र-प्रतिपत्तेरग्नि-ज्ञानादेव धूम-ज्ञाने साध्य-साधन-समभिव्याहारात् परस्पराश्रयः प्रसज्येत।

तदेवं तादृश-प्रत्यक्षस्यैव प्रमां प्रति व्यभिचारे समव्याप्तावपि तद्व्यभिचारः। शब्दस्य नैरपेक्ष्यं यथा—'दशमस्त्वमसि' इत्यादावेव। आत्मशक्त्यनुरूपमेव च तस्य तेन साचिव्यकरणं यथा—हीरक-गुणविशेषम-दृष्टवद्भिः पार्थिवत्वेन सर्वमेवाश्मादिकं द्रव्यं लौहच्छेद्यमित्यनुमातुं शक्यते, न तु श्रुत-तादृशगुणकं हीरकं तच्छेद्यमितीत्यादौ। शब्दस्य तदुपमर्दकत्वं यथा—वह्नितप्तमङ्गं वह्नितापेन शाम्यति; शुण्ठ्यादि-द्रव्यं जाठराग्नि-पाकादौ माधुर्य्यादिभाग्भवतीत्यादौ। तेन प्रतिपादितेऽनुमानेनाविरोधत्वं यथा—'एकैवेय-मोषधिस्त्रिदोषघ्नी' इत्यादौ। तच्छक्तिभिरस्पृश्येऽर्थे शब्दस्यैव साधकतमत्वं यथा—ग्रहचेष्टादावेवेति।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

उपमितिः (तर्कसंग्रह-उपमान—प० पृ० ३८), तत्करणं—सादृश्यज्ञानम्। असिद्धयदर्थदृष्टचा साधकान्यार्थ-कल्पनं—अर्थापत्तिः, यथा—दिवाऽभुञ्जाने पीनत्वं—रात्रिभोजनं कल्पयित्वा साध्यते। अभावग्राहिका—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तेनापुरुष-प्रत्यक्षादेः क्वचिद्वस्तु-साधकत्वे, अनुमानस्येश्वर-साधकत्वेऽपि च न क्षतिः। प्रत्यक्षादेः सदोषत्वे हेतुः—दुष्टत्वादित्यन्तम्। भ्रमादीत्यादिना—प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटव-परिग्रहः॥९॥

अनुवाद—

प्रत्यक्षादि दश प्रमाण विद्यमान होने पर भी भ्रमप्रमाद करणापाटव—यह दोषचतुष्टयशून्य वचनात्मक "शब्द ही मूल प्रमाण है," अपर व्यक्ति का वाक्य—भ्रमादि दोषयुक्त है, तन्निमित्त उक्त वाक्य से अन्य प्रकार ज्ञान होता है, यथार्थ ज्ञान नहीं होता है, सुतरां वह प्रमाण अथवा प्रमाणाभास है, यह निश्चय नहीं होता है। ग्रन्थकार के मत में "यश्चानादित्वात् स्वयमेव सिद्धः। स एव निखिल ऐतिह्यमूलरूपो महावाक्यसमुदायः,-शब्दोऽत्र गृह्यते। स च शास्त्रमेव, तच्च वेद एव। य एवानादिसिद्धः, सर्वकारणस्य भगवतो अनादिसिद्धं पुनः सृष्टयादौ तस्मादेवाविर्भूतं अपौरुषेयं वाक्यम्। तदेव भ्रमादिरहितं सम्भावितम्। तच्च सर्वजनकस्य तस्य च सदोपदेशायावश्यकं मन्तव्यम्। तदेव चाव्यभिचारि प्रमाणम्।"

अनादि सिद्ध हेतु जो स्वयंसिद्ध है, निखिल ऐतिह्य के मूलीभूत महावाक्यसमष्टिरूप शब्द ही इस स्थल में प्रमाण रूप से गृहीत है। वह शब्द ही शास्त्र है, एवं वह शास्त्र ही वेद है। जिसकी प्रसिद्धि अनादि काल से है। वेद—श्रीभगवान् के अनादि सिद्ध वाक्य है। महाप्रलय में अविनश्वर श्रीभगवद्धाम में अन्तर्हित होकर, पश्चात् ऋषि के आदि में उन श्रीभगवान् से ही जगत् में अपौरुषेय वाक्यरूप में आविर्भूत होते हैं, यह वेद वाक्य ही उक्त भ्रमादि दोषशून्य है। समस्त मानव के जनक स्वरूप—श्रीभगवान् के सन्तान स्थानीय जीवगणों को उपदेश प्रदान के निमित्त इसकी आवश्यकता है। अतएव सर्वसुहृत् भगवान् के वाक्य ही व्यभिचारशून्य प्रमाण है।

आर्ष्य। देवता अथवा ऋषि वाक्य।

उपमान। प्रसिद्ध किसी पदार्थ के सादृश्य से अपर किसी पदार्थ को बोध कराने के निमित्त उसका सादृश्य जन्य जो ज्ञान उसे उपमान कहते हैं। जैसे "गो सदृशः गवयः" किसीने कहा, गवय आकृति से गो तुल्य है। इस वाक्य से जिसने गवय नहीं देखा है, गो के सादृश्य से अदृष्ट गवय का ज्ञान उसको होगा। "प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्" सादृश्य का यथार्थ ज्ञान जिससे होता है, वह ही उपमान् है।

अर्थापत्ति। अर्थ की सिद्धि नहीं होती है, यह देखकर अपर एक साधकार्थ की कल्पना से अर्थापत्ति होती है। उपपाद्यज्ञानेन उपपादक कल्पनं—अर्थापत्तिः। उपपाद्य ज्ञान द्वारा उपपादक कल्पना को

सर्वसम्वादिनी

तदेवं मुख्ययोरेव तयोराभासीकृतौ, पराणि तु स्वयमेवानपेक्ष्याणि भवन्ति,—तस्य [शब्दस्य] तयोश्च [प्रत्यक्षानुमानयोश्च] अनुगतत्वात् । अथ तथात्व-ज्ञानार्थं तानि च दर्श्यन्ते ।—तत्र, देवानामृषीणाञ्च वचनमार्षम्; गो-सदृशो गवय इति ज्ञानमुपमानम्; पीनत्वमह्न्यभोजिनि नक्तं-भोजित्वं गमयति,तदन्यथा न भवतीत्यर्थगिरोः कल्पनं यस्य फलमसावर्थापत्तिः; सन्निकर्षं विना नेन्द्रियाणि गृह्णन्ति, तस्मात् घटाभावे प्रमाणं तदनुपलब्धिरूपोऽभाव एव; सहस्रे शतं सम्भवतीति बुद्धौ सम्भावनं सम्भवः; अज्ञात-वक्तृकतागत-पारम्पर्य्य-प्रसिद्धमैतिह्यम्; अङ्गुल्युत्तोलनतो घट-दशकादि-ज्ञानकृच्चेष्टेति । किञ्च, पश्वादिभिश्चाविशेषान्न प्रत्यक्षादिकं ज्ञानं परमार्थप्रमापकम्; दृश्येते चामीषामिष्टानिष्टयोर्दर्शन-घ्राणादिना प्रवृत्ति-निवृत्ती । न च तेषां काचित् परमार्थ-सिद्धिः; दृश्यते चातिबालानां मातरपित्राद्याप्त-शब्दादेव सर्वज्ञान-प्रवृत्तिस्तं विना चैकाकितया रक्षितानां जड़-मूकतेति; न च व्यवहारसिद्धिरिति ।।९।।

श्रीमद्बलदेव विद्याभूषण-कृता टीका ।

अनुपलब्धिः, भूतले घटानुपलब्ध्या यथा घटाभावो गृह्यते । 'सहस्रे शतं सम्भवेत्' इति बुद्धौ सम्भावना—सम्भवः ।। अज्ञातवक्तृकं परम्परा-प्रसिद्धं—ऐतिह्यं, यथेह तरौ यक्षोऽस्ति;—इत्येवमष्टौ ।।९।।

अनुवाद—

अर्थापत्ति कहते हैं । जैसे "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" स्थूल देवदत्त, दिन में भोजन नहीं करता । दिवस में भोजन न करने पर भी देवदत्त स्थूल है । स्थूलत्व का कारण भोजन है, दिन में जब भोजन नहीं करता, तब निश्चय ही रात्रिमें भोजन करता है, अन्यथा स्थूल रहना असम्भव है । रात्रि भोजन विषयक ज्ञान यहाँ कारण है, अतएव इसका नाम है उपपादक, स्थूलत्व ज्ञान फल है,—उसका नाम—उपपाद्य । उपपाद्य ज्ञान से जिस स्थान में उपपादक की कल्पना की जाती है, वह अर्थापत्ति है ।

अभाव । अभावग्राहिणी बुद्धिः । भूतल में घट नहीं है, सुतरां घटका अभाव है । इस अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं । "ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणमनुपलब्धिरूपम् प्रमाणम्" ज्ञान रूप करण से अनुत्पन्न जो अभावानुभव, उसका असाधारण कारण को अनुपलब्धि कहते हैं । पदार्थ की अनुपलब्धि 'अप्राप्ति' होनेसे ही अभाव निश्चय होता है, यह नहीं है । ऐसा होनेपर ईश्वर-धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ का अभाव निश्चय हो जायेगा । ऐसा नहीं, योग्यानुपलब्धि ही अभाव निर्णायक है, अर्थात् जगत् में इन्द्रिय ग्रहणयोग्य जो पदार्थ-उसका अभाव निश्चायक ही "अनुपलब्धि" है ।

सम्भव । एकशत के मध्यमें दश है, इस प्रकार बुद्धिमें जो सम्भावना है, उसका नाम ही सम्भव है ।

ऐतिह्य । जिसका वक्ता अज्ञात है, अथच घटना पुरुष परम्परा से प्रसिद्ध है । उस ज्ञान को 'ऐतिह्य' कहते हैं । जिस प्रकार 'इह वटे यक्षो निवसति', यह प्रसिद्ध है, किन्तु वक्ताके साथ किसी का परिचय नहीं है ।

चेष्टा । हस्तपदादि के द्वारा जो सङ्केत होता है, उसे 'चेष्टा' कहते हैं । जैसे कोई ऊपरके और हाथ उठाकर कहे, वृक्ष इतना बड़ा है । उल्लिखित प्रमाण समूह जीव की बुद्धि वृत्तिसे उत्पन्न होकर प्रकाशित हैं, सुतरां प्रमातृ जीव की बुद्धि उक्त भ्रमादि दोषचतुष्टय दुष्ट होनेसे बुद्धिके दोष समूह प्रमाण निचय में संक्रमित होते हैं । अतः ग्रन्थकर्त्ता कहते हैं—"तत् प्रत्यक्षादीनि सदोषाणि" ।

मेघवारि वर्षणसे निर्वापित अनलसे प्रचुर धूमोद्गम होता है, इसे देखकर "पर्वतो वह्निमान्, धूमात् । अनुमान सदोष है, प्रमा का अन्तराय है । 'आर्ष' प्रमाण यथार्थ ज्ञान का अन्तराय है, एक ऋषि समर्थित पदार्थ में अपर ऋषि दोषारोपण करते हैं । सुतरां यहाँपर विषय अवधारण के निमित्त 'आर्ष' वाक्यरूप प्रमाण अन्तराय है, इस प्रकार मुख्य मुख्य प्रमाण समूह ही जब दोषयुक्त है, तब उसके अनुगत प्रमाण समूह सुतरां दोषयुक्त हैं ।।९।।

ततस्तानि न प्रमाणानीत्यनादिसिद्ध-सर्व्वपुरुषपरम्परासु सर्व्वलौकिकालौकिकज्ञान-निदानत्वादप्राकृतवचनलक्षणो वेद एवास्माकं सर्व्वातीत-सर्व्वाश्रय-सर्व्वाचिन्त्याश्चर्य्यस्वभावं वस्तु विविदिषतां प्रमाणम् ॥१०॥

सर्वसम्वादिनी

अथैवं शब्दस्यैव प्रमाणत्वे पर्य्यवसिते कोऽसौ शब्द इति विवेचनीयम्। तत्र 'भ्रमादि-रहितं वचः शब्दः' इत्यनेनैव पर्य्याप्तिर्न स्यात्;—यथा स्वमतिगृहीते पक्षे भ्रमादि-रहितोऽयमयमेवेति प्रति-स्वं मतभेदे निर्णयाभावापत्तेस्तथा तस्यापि शब्दस्य प्रत्यक्षावगम्यत्वेन परानुगतत्वादप्रामाण्यापत्तेः। तस्माद्यो [शब्दः] निज-निज-विद्वत्तायै सर्वैरेवाभ्यस्यते;—यस्याधिगमेन सर्वेषामपि सर्वैव विद्वत्ता भवति;—यत्कृतयैव परमविद्वत्तया प्रत्यक्षादिकमपि शुद्धं स्यात्;—यश्चानादित्वात् स्वयमेव सिद्धः; स एव निखिलैतिह्य-मूलरूपो महावाक्य-समुदयः शब्दोऽत्र गृह्यते। स च शास्त्रमेव; तच्च वेद एव;—य एवानादिसिद्धः सर्वकारणस्य भगवतोऽनादिसिद्धं पुनः पुनः सृष्ट्यादौ तस्मादेवाविर्भूतमपौरुषेयं वाक्यम्। तदेव भ्रमादि-रहितं सम्भावितम्; तच्च सर्वजनकस्य तस्य च सदोपदेशायावश्यकं मन्तव्यम्; तदेव चाव्यभिचारि प्रमाणम्। तच्च तत्कृपया कोऽपि कोऽपि गृह्णाति। कुतर्क-कर्कशा मूढ़ा वा तन्न गृह्णन्तु नाम, तेषामप्रमापदं कथमपयातु? न चेश्वर-विहित वैद्यकादि-शास्त्रममतम्। प्रमाणाभावादितरवद्-यातीति चेन्न;—परेषां तदनुगतत्वादेव शास्त्रत्व-व्यवहारः। न च बुद्धस्यापीश्वरत्वे सति तद्वाक्यं च प्रमाणं स्यादिति वाच्यम्; येन शास्त्रेण तस्येश्वरत्वं मन्यामहे, तेनैव तस्य दैत्यमोहन-शास्त्रकारित्वेनोक्तत्वात्।

अत्र [**वेदस्य प्रामाण्य-विषये**] वाचस्पतिश्चैवमाह [शङ्करभाष्यस्य 'भामती'-टीकायामुपोद्घाते].—**"न च ज्येष्ठ-[अग्रजात] प्रमाण-प्रत्यक्ष-विरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्ष्यस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वं वेति युक्तम्;—अस्यापौरुषेयतया निरस्त-समस्त-दोषाशङ्कस्य बोधकतया च स्वतःसिद्धप्रमाण-भावस्य स्वकार्य्य-प्रमितौ परानपेक्षत्वात्, प्रमितावनपेक्षत्वेऽप्युत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात् तद्विरोधादनुत्पत्ति-लक्षणमस्याप्रामाण्यमिति चेत्? न;—उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्। न ह्यागमज्ञानं**

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

ततस्तानि न प्रमाणानीति। ततः—भ्रमादिदोषयोगात्, तानि—प्रत्यक्षादीनि परमार्थप्रमाकरणानि न भवन्ति। माया-मुण्डावलोके 'तस्यैवेदं मुण्डम्' इत्यत्र प्रत्यक्षं व्यभिचारि। वृष्ट्या तत्कालनिर्व्वापित-वह्नौ चिरं धूम-प्रोद्गारिणि गिरौ 'वह्निमान् धूमात्' इत्यनुमानञ्च व्यभिचारि दृष्टम्। आप्तवाक्यञ्च तथा, एकेनाप्तेन मुनिना समर्थितस्यार्थस्यापरेण तादृशेन दूषितत्वात्। अत उक्तम्; "नासावृषिर्यस्य मतं न भिन्नम्" इति। एवं मुख्यानामेषां सदोषत्वात् तदुपजीविनामुपमानादीनां तथात्वं सुसिद्धमेव।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ततः—पुरुष-प्रत्यक्षादेः सदोषत्वात्। तानि—पुरुष-प्रत्यक्षादीनि, न प्रमाणानि—नेश्वर-तद्भजनयोर्याथार्थ्येन साधन-समर्थानि। अत्रैव हेत्वन्तरं—सुतरामचिन्त्यालौकिकवस्तु-स्पर्शायोग्यत्वाच्चेति। अनुमानस्येश्वर-साधनत्वसम्भवेऽपि श्रीकृष्णरूप-तद्भजन-साधनायोग्यत्वम्। ननु वेद एवेत्येव-कारासङ्गतिः? वेदार्थ-विवेकेऽनुमानापेक्षणात्, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि श्रुतेः। अस्यार्थः;—

अनुवाद—

अचिन्त्य पदार्थज्ञान में वेद का प्रामाण्य। अचिन्त्य अलौकिक वस्तु ज्ञान में वेद ही एकमात्र अव्यभिचारी प्रमाण है, पूर्वोक्त भ्रमादि दोष दुष्ट होने से जीव के प्रत्यक्षादि प्रमाण,—अचिन्त्य स्वभावयुक्त वस्तु निर्णय करने में असमर्थ है। सर्वातीत, सर्वाश्रय, सर्वाचिन्त्य, आश्चर्यस्वभाव वस्तु को जानने के निमित्त अनादि काल से सकल पुरुष परम्परागत, समस्त लौकिक अलौकिक ज्ञान का कारण, अप्राकृत वाङ्मय वेद को ही हम सव प्रमाण रूपसे स्वीकार करेंगे ॥१०॥

सर्वसम्वादिनी

सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपहन्ति,—येन कारणाभावान्न भवेत्; अपि तु तात्त्विकम् । न च तत्तस्योत्पादकम्,—अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि सांव्यवहारिकेभ्य (प्रमाणेभ्य) स्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् ;—यथा वर्णे ह्रस्व-दीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि समारोपितास्तत्त्वप्रतिपत्ति-हेतवः । न हि लौकिका 'नागः' इति वा, 'नगः' इति वा पदात् कुञ्जरं तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः । न चानन्यपरं वाक्यं स्वार्थे उपचरितार्थं कर्त्तुं युक्तम् । उक्तं हि—(पू०मी०सू० १।२।२६—शवरभाष्ये) 'न विधौ परः शब्दार्थः, इति । ज्येष्ठं [अग्रजात-ज्ञानं] चानपेक्षितस्य [शुक्तिज्ञानस्य] बाध्यत्वे हेतुर्न तु बाधकत्वे,—रजत-ज्ञानस्य ज्यायसः शुक्तिज्ञानेन कनीयसा बाध-दर्शनात् । तदनपबाधने तदपबाधात्मनस्तस्योत्पत्तेरनुपपत्तिः । दर्शितञ्च तात्त्विक-प्रमाण-भावस्यानपेक्षितत्वम् । तथा च पारमर्षं सूत्रम्—(पू०मी०सू० ६।५।५४) 'पौर्वापर्य्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्' इति; तथा (कुमारिल्लभट्ट-कृत-तन्त्रवार्त्तिके ३।३।२)—

"पौर्वापर्य्य-बलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयते । अन्योऽन्य-निरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत्" ।।६।। इति ।

अत्र सांव्यवहारिकमिति सार्वत्रिकमेव व्यवहारिकमिति ज्ञेयम्,—क्वचिदुपमर्द्दस्य [अर्वाचीनज्ञानस्य] दर्शितत्वादेव शास्त्रत्व-व्यवहारः । दृश्यते चान्यत्र,—सूर्य्यादि-मण्डलस्य सूक्ष्मतायाः प्रत्यक्षीकृतिरप्यनुमान-शब्दाभ्यां बाधिता भवतीति दूरस्थ-वस्तुनस्तादृशतया [स्थूलस्य सूक्ष्मतया] दृष्टत्वाच्छास्त्रप्रसिद्धत्वाच्च । तदेवं स्थिते श्रीवैष्णवास्त्वेवं वदन्ति ।—वेदस्य न प्राकृत-प्रत्यक्षादिवदविद्यावद्विषय-मात्रत्वेन यावदेवाविद्या, तावदेव तद्व्यवहारः । सति व्यवहारे प्रामाण्यं चेति मन्तव्यम्;—अपौरुषेयत्वान्नित्यत्वात्, सर्वमुक्त्येक-कालाभावेन [सर्वेषामेव जीवन्मुक्तानां यावत्सद्योविदेहमुक्ति प्रपञ्चे अवस्थाने] तदधिकारिणां सन्ततास्तित्वात्, परमेश्वर-प्रसादेन परमेश्वरवदेवाविद्यातीतानां चिच्छक्त्येक-विभवानामात्मारामाणां पार्षदानामपि ब्रह्मानन्दोपरिचय-भक्ति-परमानन्देन सामादि-पारायणादेर्दर्शयिष्यमाणत्वात्, श्रीमत्परमेश्वरस्य स्व-वेद-

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

किञ्चाप्त-वाक्यं लौकिकार्थ-ग्रहे प्रमाणमेव, यथा—'हिमाद्रौ हिमम्' इत्यादौ । तदुभयनिरपेक्षञ्च तत्,—'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ । तदुभयागम्ये साधकतमञ्च तत्,—ग्रहाणां राशिषु सञ्चारे यथा । किञ्चाप्त-वाक्येनानुगृहीतं तदुभयं प्रमापकम् । दृष्टचरमायामुण्डकेन पुंसा सत्येऽप्यविश्वस्ते तस्यैवेदं मुण्डमिति नभोवाण्यानुगृहीतं प्रत्यक्षं यथा । 'अरे शीतार्त्ताः पान्थाः ! मास्मिन्नग्निं सम्भावयत, वृष्ट्या निर्व्वाणोऽत्र स दृष्टः किन्त्वमुष्मिन् धूमोद्गारिणि गिरौ सोऽस्ति' इत्याप्तवाक्येनानुगृहीतमनुमानं च यथेति । तदेवं

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

आत्मा वै—आत्मैव, द्रष्टव्यः—साक्षात् कर्त्तव्यः, कथमित्यपेक्षायामाह—श्रोतव्य इत्यादि त्रयम् । तत्र श्रवणं—वेदेतिहासपुराणादिभ्यः कार्य्यं; "श्रोतव्यः श्रुति-वाक्येभ्यः" इति श्रवणात् । बहुवचनं—गणार्थम्; तेन पुराणादि-परिग्रहः । वेदार्थ-प्रतीतावपि तत्रार्थान्तरपरत्व-सम्भावनयाऽप्रामाण्यशङ्का; तस्याः सम्भवेनाह—'मन्तव्यः' इति । मननं—बहुभिर्हेतुभिरनुमानम्, "मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः" इति श्रवणात् ।

अनुवाद—

सारार्थः—**श्रीकृष्ण एवं तद्भक्ति निरूपण में अनुमान का अस्वातन्त्र्य । "तानि न प्रमाणानि" इसका तात्पर्य्य यह है कि—लौकिक प्रत्यक्षादि,—श्रीभगवान् एवं उनका भजन विषयक यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं हो सकता है । प्रत्यक्षादि प्रमाण समूह के मध्य में यथाकथञ्चित् अनुमान की ईश्वर साधन योग्यता होने पर भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के रूप एवं उनका भजन निरूपण की योग्यता नहीं है, किन्तु अनुमान यदि वेदानुगत होता है और अनुमन्ता यदि भगवत् कृपाशक्ति प्राप्त होता है, तब अनुकूल तर्कानुगृहीत मनन द्वारा वेद से अवगत अर्थ का निश्चय सम्यक् रूपसे करके उसका ध्यान निदिध्यासन पुनः पुनः करने के अनन्तर आत्म-साक्षात्कार हो सकता है । श्रुति कहती है—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।"**

सर्वसम्वादिनी

मर्य्यादामवलम्बयैव मुहुः सृष्टयादि-प्रवर्त्तकत्वाच्च। येषां तु पुरुषज्ञान-कल्पितमेव वेदादिकं सर्वं द्वैतम्, तेषामपौरुषेयत्वाभावात्तत एव भ्रमादि-सम्भवात् स्वप्न-प्रलापवद्व्यवहारसिद्धावपि प्रामाण्यं नोपपाद्यत इति तन्मतमवैदिकविशेष इति। नन्वर्वाग्जन-संवादादि-दर्शनात् कथं तस्यानादित्वादि? उच्यते,— (ब्र०सू० १।३।२९) "अतएव च नित्यत्वम्" इत्यत्र सूत्रे शाङ्कर-शारीरक-भाष्य-प्रमाणितायां श्रुतौ श्रूयते,— (ऋक्सं० १०म० ७१सू० ३म०) "यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्" इति; स्मृतौ च (महाभा० शान्ति-प० २१०।१९)—

"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा" ॥१०॥ इति;

तस्मान्नित्यसिद्धस्यैव वेद-शब्दस्य तत्र तत्र प्रवेश एव, न तु तत्कर्तृकता। तथा चानादिसिद्धवेदानुरूपैव प्रतिकल्पं तत्तन्नामादि-प्रवृत्तिः। तथा हि—(ब्र०सू० १ ३।३०) "समान-नाम-रूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च" इत्यत्र तत्त्ववाद-भाष्यकृद्भिः श्रीमध्वाचार्य्यैरुदाहृता श्रुतिः (ऋक्सं० १० म० १९० सू० ३म०)—"सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"; (तै० नारा० ६।१।३८)—

"तथैव नियमः काले स्वरादि-नियमस्तथा। तस्मान्नानीदृशं क्वापि विश्वमेतद्भविष्यति" ॥११॥ इति; स्मृतिश्च (महाभा० शान्तिप० २३१।५६,५७)—

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥१२॥

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः" ॥१३॥ इति।

अत्र शब्दपूर्वक-सृष्टिप्रक्रमे श्रुतिश्चाद्वैत-शारीरकभाष्ये (ब्र०सू० १।३।२८ शा०भा०) दर्शिता—(छा०ब्रा०) "एता इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रानिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄन्"—इत्यादिका, तथा (तै०ब्रा० २अष्ट०,२अ०, ४ अनु० २म०) "स भूरिति व्याहरत् भूमिमसृजत" इत्यादिका च; तथा श्रीरामानुज-शारीरके (ब्र०सू० १।३।२७)

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

प्रत्याक्षानुमानशब्दाः प्रमाणानीत्याह मनुः;—

"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्म्मशुद्धिमभीप्सता।।" इति। [मनु-१२,१०५]

एवमस्मद्वृद्धाश्च। सर्व्वपरम्परासु—ब्रह्मोत्पन्नेसु देव-मानवादिषु सर्व्वेषु वंशेषु।

"परम्परा परीपाट्यां सन्तानेऽपि बधे क्वचित्।" इति विश्वः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तथा च तर्कानुगृहीतेन मननेन वेदादवगतमर्थं सम्यक्तयाऽवधार्य्य पुनः पुनर्ध्यानिरूपनिदिध्यासनं कार्य्यम्, तत आत्म-साक्षात्कार इति पर्य्यवसितार्थः। आत्मपदश्चात्र परमेश्वर-परं—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इत्यादि-श्रुत्येकवाक्यत्वात्। न च—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" [बृ०, आ०, २, ४, ५,] इत्यादि जीवात्मानमुपक्रम्य

अनुवाद—

लौकिक ज्ञान—कर्मविद्या। इस जगत् में हम सब जिस नियम से परस्पर व्यवहार करते हैं, एवं मनुष्य, गो, अश्व, काष्ठ, लोष्ट्र, वृक्ष, लता, गुल्म प्रभृति विविध चेतन, अचेतन उद्भिद् पदार्थ के नाम गुण क्रिया अवस्थादि को जानते हैं, यह समस्त ज्ञान के प्रति एकमात्र वेद ही कारण है, वेद से ही हम यह सब तत्त्व को जानते हैं। यह मत श्रुति एवं स्मृति का भी है—"वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सतासती प्रजापतिः" छान्दोग्य (६-३-३) "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः। ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्म्ममे स महेश्वरः।"

अलौकिक ज्ञान—ब्रह्मविद्या अथवा ब्रह्मज्ञान। इसका ज्ञान भी वेद से ही होता है। वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः॥ (गीता १५, १५) ॥१०॥

तच्चानुमतं—"तर्काप्रतिष्ठानात्" [ब्र०, सू०, २, १, ११] **इत्यादौ,** "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" [म०, भा०, भी, प०, ५, २२,] **इत्यादौ,** "शास्त्रयोनित्वात्" [ब्र०, सू०, १,१,३.] **इत्यादौ,** "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" [ब्र०,सू०,२,१ २७] **इत्यादौ,** "पितृ-देव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर। श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्य-साधनयोरपि" [भा०, ११, १०, ४,] **इत्यादौ ॥११॥**

सर्वसम्वादिनी

दर्शिता च,—(तै०ब्रा० २अष्ट०, ६अ०, २अनु० ३म०) "वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सतासती प्रजापतिः" इति। अतएवौत्पत्तिके शब्दस्यार्थेन सम्बन्धे समाश्रिते निरपेक्षमेव वेदस्य प्रामाण्यं मतम्। (ब्र०सू० १।३।२८) "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इत्यत्र संवादादिरूप-प्रक्रिया तु श्रोतृबोध-सौकर्य्यकरीति सामञ्जस्यमेव भजते। **तस्माद्वेदाख्यं शास्त्रं प्रमाणम्; तत्तल्लक्षणहीनत्वात्तद्विरुद्धत्वाच्चावैदिकं तु शास्त्रं न प्रमाणम् ॥१०॥**

येषां वेश्वरकल्पना नास्ति, तेषामपि शास्त्रस्यात्यर्वाग्जन-कृतत्वेन प्रसिद्धत्वादनाद्यविच्छिन्न-वेद-प्रलोपन-भूयिष्ठ-वृत्तित्वेनानादिसिद्ध-वर्णाश्रम-लोपि-चारित्र्येण वर्णश्च तं तं निजान्नादिना विलुप्यैव स्वगोष्ठीषु

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

लौकिकज्ञानं-कर्म्मविद्या, अलौकिकज्ञानं-ब्रह्मविद्या। अप्राकृतेति-"वाचा विरूपनित्यया" इति मन्त्रवर्णात्,

"अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्व्वाः प्रवृत्तयः ॥"

इति स्मरणाच्च। स्फुटमन्यत् ॥१०॥

ननु कोऽयमाग्रहो वेद एवास्माकं प्रमाणं? इति चेत्तत्राह—तच्चानुमतमिति, श्रीव्यासाद्यैरिति शेषः। तद्वाक्यान्याह,—तर्केत्यादीनि साध्यसाधनयोरपीत्यन्तानि। तर्केति—ब्रह्मसूत्र-खण्डः, तस्यार्थः;—परमार्थ-निर्णयस्तर्केण न भवति, पुरुषबुद्धि-वैविध्येन तस्य नष्टप्रतिष्ठत्वात्। एवमाह श्रुतिः—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्युक्तत्वादात्मपदं जीवात्म-परमिति वाच्यं; "न वा अरे पत्युः कामाय" इत्यादिना स्वात्मोपाधिक-पत्यादिनिष्ठ-प्रियत्वाख्यानेन स्वात्मसुखस्यैव परमप्रयोजनत्वमुक्त्वा, परमात्म-सुखस्य सर्व्वतोऽतिशयस्य प्राप्तये सर्व्वथा यतितव्यमित्याशयेन 'आत्मा द्रष्टव्यः' इत्युपसंहारात् ॥१०॥

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'इत्यादि श्रुतेश्चेति चेन्न,वेद-निरपेक्षस्यानुमानस्य लोकातीतश्रीकृष्ण-तल्लीला-श्रवणादि भजनासाधनत्वात्। 'तर्काप्रतिष्ठानात्'इति वेदान्तसूत्रस्य-शास्त्रविनाकृतानुमानस्य वस्त्वसाधकत्वादित्यर्थः।

अनुवाद—

तर्क की अप्रतिष्ठा एवं शब्द का प्रामाण्य। वेद ही हमारे प्रमाण है, अत्याग्रह से इस प्रकार क्यों कहना है? उत्तर में कहते हैं, ब्रह्मसूत्र में कथित है—पुरुष की बुद्धिवृत्ति अनेकविध है, अत पुरुषमति प्रभव तर्क की स्थिरता नहीं है, उससे परमार्थ वस्तु का निश्चय नहीं होता है। महाभारत में उक्त है—शास्त्र ही ईश्वर ज्ञान का हेतु है। लोक में जो दोष प्रसिद्ध है, 'ब्रह्म कर्त्ता' शब्द में उक्त दोष नहीं है। कारण ब्रह्म का कर्तृत्व श्रुति प्रमाण सिद्ध है। अविचिन्त्य विषय में शब्द ही एकमात्र मूल प्रमाण है, श्रीमद्भागवत में उक्त है,—हे ईश्वर! साध्य-प्रेम, साधन-तत्साधनरूपभक्ति, अर्थ-श्रीभगवान के स्वरूप, विग्रह, वैभवादि है, यह समस्त पितृदेव मनुष्यगण के बोधगम्य न होने से आपके वाक्यरूप वेद ही उनके श्रेष्ठ चक्षु ज्ञापक है, अर्थात् वे सव आपके वेदवाणीरूप उपदेश द्वारा स्वयं अवगत होकर, अतत्त्वज्ञ लोक को उक्त समस्त तत्त्व कहते हैं। यहाँ पर महर्षि वेद व्यास ही ईश्वर वाणीरूप वेद शब्द ही मूल प्रमाण है, स्वीकार किये हैं। सुतरां शब्द ही एकमात्र प्रमाण है, मैंने जो भी कहा है, वह सर्वसम्मत है, स्वकपोलकल्पित नहीं है ॥११॥

सर्वसम्वादिनी

सम्पादनेन चार्वाचीनत्वेनैवावगतत्वात् तत् [शास्त्रं] केनाप्यधुनैवोत्थापितमित्येव स्फुटमायाति। ननु वेदेऽपि "ग्रावाणः प्लवन्ते", "मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्" इत्यादि-दर्शनादनाप्तत्वमिव [असत्यवक्तृत्वमिव] प्रतीयते ? उच्यते,—कर्मविशेषाङ्गभूतानां ग्राव्णां [कर्मफलदाने] वीर्य्य-वर्द्धनाय स्तुतिरियम्; सा च श्रीराम-कल्पित-सेतुबन्धादौ प्रसिद्धत्वेन यथावदेवेति न दोषः ; तथा—"मृदब्रवीदापोऽब्रुवन्" इत्यादौ तत्तदभिमानि-देवतैव व्यपदिश्यत इति ज्ञेयम्। तदेवं सर्वत्रैव सर्वत्रैवाप्त एव वेदः। किन्तु सर्वज्ञेश्वर-वचनत्वेनासर्वज्ञ-जीवैर्दुरूहत्वात्तत्-प्रभावलब्ध-प्रत्यक्ष-विशेषवद्भिरेव सर्वत्र तदनुभवे शक्यते, न तु तार्किकैः। तदुक्तं पुरुषोत्तमतन्त्रे,—

"शास्त्रार्थयुक्तोऽनुभवः प्रमाणं तूत्तमम्। अनुमाद्या न स्वतन्त्राः प्रमाण-पदवीं ययुः" ॥१४॥ इति।

तथैव मतं ब्रह्मसूत्रकारैः,—(ब्र० सू० २।१।११,२७) "तर्काप्रतिष्ठानात्", "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इत्यादौ; तथा च श्रुतिः,—(कठ० १।२।९) "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ"; (ऋक्सं० १०म० ८२सू० ७म०)"नीहारेण प्रावृता जल्पचाश्च"इत्याद्याः;—जल्प-प्रवृत्तास्तार्किका इति श्रुतिपदार्थः। अतएव वराहपुराणे—

"सर्वत्र शक्यते कर्त्तुमागमं हि विनानुमा। तस्मान्न सा शक्तिमती विनागममुदीक्षितुम्" ॥१५॥ इति ; अद्वैत-वादिभिश्चोक्तम्,—(भर्तृहरि-कृत-'वाक्यपदीये' १म-का० ३४श-श्लो०)

"यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते" ॥१६॥ इति;अद्वैत-शारीरकेऽपि,—(ब्र०सू० २।१।११—शा०भा०) "न च शक्यन्ते अतीतानागत-वर्त्तमानास्तार्किका एकस्मिन् देशे काले च समाहर्त्तुं येन

श्रीमद्‌बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

"नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ !" [कठ १,२,९,] इति।

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः ;—'यद्ययं निर्व्वह्निः स्यात्तदा निर्धूमः स्यात्' इत्येवंरूपः,स च व्याप्तिशङ्कां निरस्यन्ननुमानाङ्गं भवेदतस्तर्केणानुमानं ग्राह्यमिति। "अचिन्त्याः" इत्युद्यमपर्व्वणि दृष्टम्। "शास्त्रेति" ब्रह्मसूत्रम्। 'न' इत्याकृष्यम्। 'उपास्यो हरिरनुमानेनोपनिषदा वा वेद्यः' इति सन्देहे, "मन्तव्यः"

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अचिन्त्याः—लोकातीततया दुर्घटत्वेन प्रतीयमानाः, भावाः—ईश्वर-गुणलीलादिरूपाः शास्त्रप्रसिद्धाः। तर्केण—स्वमतिकल्पितानुमानेन, योजयेत्—मायिकत्वादिरूपेण कल्पयेदिति वचनार्थः शास्त्रं योनिः—प्रमाणमस्येति सूत्रार्थः, यद्वा शास्त्रस्य योनिः—कारणं तत्त्वात्। तथा च शास्त्रस्य परमकारुणिक-यथार्थसर्व्वार्थदर्शिप्रतारणादिदोषरहित-परमेश्वर-प्रणीतत्वेन शास्त्रमेव गरीयः प्रमाणमिति। ननु शास्त्रस्य परमेश्वर-प्रणीतत्वे किं मानं ? इत्यतो वेदान्त-सूत्र दर्शयति—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति। तु-कारः—अन्यप्रमाणतः प्रामाण्यसूचनाय। श्रुतेः—वेदस्य, शब्दमूलत्वात्—"अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्

अनुवाद—

सारार्थः—तर्क की प्रतिष्ठा—अर्थात् स्थिरता नहीं है, यहाँ तर्क शब्दार्थ का ज्ञान होना आवश्यक है। तर्क—व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। व्याप्य धूमादि का आरोप कर व्यापक अग्नि का आरोप को तर्क कहते हैं। यथा—यदि पर्वत वह्नि हीन हो, तव निर्धूम होगा। यहाँ पर यदि कहा जाय—वृष्टि द्वारा निर्वापित वह्नि से जो धूम निर्गत होता है, सुतरां अग्नि न रहने से भी धूम नहीं रहता है, कहना ठीक नहीं है। इस प्रकार तर्क पश्चात् पुनर्वार तर्क उपस्थित होने से तर्क निर्विषय हो जाता है। अतएव सूत्रकारने कहा है—"तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः।"

इस सूत्र की व्याख्यामें आचार्य शङ्कर की व्याख्या इस प्रकार है—"इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यं, यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धानास्तर्का अप्रतिष्ठिताः सम्भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात्। तथाहि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोपेक्षिता स्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते, तैरप्युत्प्रेक्षितास्तदन्यैराभास्यन्ते, इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यं समाश्रयितुं पुरुषमतिवैरूप्यात्॥

सर्वसम्वादिनी

तदीयं मतं सम्यग्ज्ञानमिति प्रतिपद्यामहि;-वेदस्य चनित्यत्वे विज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वे च सति व्यवस्थित-विषयार्थत्वोपपत्तेः। तज्जनितस्य ज्ञानस्य च सम्यक्त्वमतीतानागत-वर्त्तमानैः सर्वैरपि तार्किकैरपह्नोतुमशक्यम्" इति।

यत्त्वागमे क्वचित्तर्केण बोधना दृश्यते, तत्तत्रैव शोभनम्,—आगमरूपत्वात्,बोधन-सौकर्य्यार्थमात्रोद्दिष्ट-तर्कत्वात्। यदि च यत्तर्केण सिध्यति, तदेव वेद-वचनं प्रमाणमिति स्यात्, तदा तर्क एवास्ताम्, किं वेदेनेति वैदिकम्मन्या अपि ते वाह्या एवेत्ययमभिप्रायः सर्वत्रैव। अतएव तेषां शृगालत्वमेव गतिरित्युक्तं भारते (महाभा०, शान्ति-प० कश्यप-शृगाल-संवादे १८०।४७—४९)। यत्तु (वृ० २।४।५) "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादिषु मननं नाम तर्कोऽङ्गीकृतः, तत्रैवमेवमुक्तं यथा कूर्मपुराणे—

"पूर्वापराविरोधेन कोन्वर्थोऽभिमतो भवेत्। इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्क-तर्कञ्च वर्जयेत्" ॥१७॥ इति।

अथैवं सर्वेषां वेद-वाक्यानां प्रामाण्य एव स्थिते केचिदेवमाहुः,—कार्य्य एवार्थे वेदस्य प्रामाण्यम्, न सिद्धे—तत्रैव [क्रियान्वितवेदे] शक्ति-तात्पर्य्ययोरवधारितत्वात्। तत्र शक्तिर्यथा—(सा० द० २।७) "उत्तम-वृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयन-प्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वचसः 'सास्नादि [गलकम्बल]

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

[वृ० आ० ४, ४, ५] इति श्रुतेरनुमानेन स वेद्य इति प्राप्ते, नानुमानेन वेद्यो हरिः। कुतः? शास्त्रम्—उपनिषद्, योनिः—वेदन-हेतुर्यस्य—तत्त्वात्। "उपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" [वृ, आ, ३, ९, २६] इत्याद्या हि श्रुतिः। "श्रुतेस्तु" इति ब्रह्मसूत्रम्। 'न' इत्यनुवर्त्तते; ब्रह्मणि कर्त्तरि लोक-दृष्टाः श्रमादयो दोषा न स्युः। कुतः? "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इति सङ्कल्पमात्रेण निखिलसृष्टि-श्रवणात्। ननु श्रुतिर्व्वाधितं कथं ब्रूयादिति चेत्तत्राह,—शब्देति। अविचिन्त्यार्थस्य शब्दैकप्रमाणकत्वात्। दृष्टञ्चैतन्मणि-मन्त्रादौ। "पितृदेव"—इत्युद्धवोक्तिरेकादशे। हे ईश्वर! तव वेदः पित्रादीनां श्रेयः—श्रेष्ठं चक्षुः। क्व? इत्याह—"अनुपलब्धेऽर्थे" इत्यादि। तथा च वेद एवास्माकं प्रमाणमिति मद्वाक्यं सर्व्वसम्मतमिति नापूर्व्वं मयोक्तम् ॥११॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ऋग्वेदो जायते" [वृ० आ० १, ४, १५] इत्यादि "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं वेदांश्च तस्मै प्रहिणोति" इत्यादिश्रुतिरूपशब्दः, मूलं—परमेश्वर-प्रणीतत्वे प्रमाणं यस्याः,—तत्त्वात्। "पितृदेवे"-ति तव वेदचक्षुरिति समन्वयः। चक्षुः—ज्ञापकं, श्रेयः—उत्तमम्। अनुपलब्धे—प्रत्यक्षाद्यागोचरे, अर्थे—त्वत्स्वरूपगुणलीलादिरूपे। साध्यं—प्रेमादिरूपफलं, साधनं—तत्साधनं; तयोरपीत्यर्थः। श्रीमन्माध्वभाष्ये त्वेवं व्याख्या—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति। न चेश्वर-पक्षे अयं विरोधः। "योऽसौ विरुद्धोऽविरुद्धो-

अनुवाद—

अथोच्येतान्यथा वयमनुमन्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति, नहि प्रतिष्ठितस्तर्कएव नास्तीति वक्तुं—शक्यते,एतदपि हि तर्काणामप्रतिष्ठितत्वं तर्केणैव प्रतिष्ठाप्यते। केषाञ्चित्तर्काणामप्रतिष्ठितत्वदर्शनेनान्येषामपि तज्जातीयकानां तर्काणामप्रतिष्ठितत्वकल्पनात्। सर्वतर्कप्रतिष्ठायाञ्च सर्वलोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः। अतीत वर्त्तमानाध्वसाम्येन ह्यनागतेऽप्यध्वनि सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय वर्त्तमानो लोक दृश्यते। तस्मान्न तर्का-प्रतिष्ठानं दोष इति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः। यद्यपि क्वचिद्विषये तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमुपलक्ष्यते, तथापि प्रकृते तावद्विषये प्रसज्यत एवाप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्मोक्षस्तर्कस्य। वेदस्य तु नित्यत्वे विज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वे च सति व्यवस्थितार्थविषयत्वोपपत्तेः, तज्जनितस्य ज्ञानस्य सम्यक्त्वं अतीतानागतवर्त्तमानैः सर्वैरपि तार्किकै-रपह्नोतुमशक्यं, अतः सिद्धमस्यैवौपनिषदो ज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानत्वम्।"

तर्क में दोष की सम्भावना होने पर, उससे निर्दोष पदार्थ समन्वय कभी भी नहीं हो सकता है। प्रतिवादिगण के तर्क में निज पक्ष में भी साधारण दोष समूह होते हैं। सुतरां केवल शुष्क तर्क के द्वारा

सर्वसम्वादिनी

मत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रतिपद्यते । अनन्तरं 'गां चारय', 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां [गोश्चारणानयनाभ्यां] गो-शब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः', आनयन-शब्दस्य च 'आहरणमर्थः' इति सङ्केतमवधारयति ।" ततः प्रथमत एव कार्य्यान्वित एव प्रवृत्तेस्तत्रैव शक्तिग्रहः ; तथा च तात्पर्य्यमपि तत्रैव भवेत् ।

अत्रोच्यते ।—सिद्धे शक्त्यभावः कुतः ? किं सङ्गति-ग्राहक-व्यवहारस्य सिद्धेऽभावात् ? तत्रापि [अर्थसम्बन्धेन] कार्य्य-संसर्गित्वाद्वा ? नाद्यः,—'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि-वाक्यजन्यस्य पित्रादि-श्रोतृ व्यवहार-मुख-विकाशादेर्दर्शनात् ; नापि द्वितीयः,—कार्य्यसंर्गित्वस्य पुत्रजन्मादावभावात् । न चात्रापि 'तं [तव जातपुत्रं] पश्य' इत्यादिकं कार्य्यं कल्प्यम्,—तत्कल्पकाभावात् । प्राथमिक-कार्यान्वित-शक्ति-ग्रहानुपपत्तिरेव तत्कल्पिकेति चेत् ? न;—कार्य्यान्विते वाक्ये शक्ति-ग्रहासिद्धेः, कार्य्यपद एव कार्य्यान्वितत्वाभावेन व्यभिचारात्, योग्येतरान्वितत्व-मात्रेण सङ्गति-ग्रहोपपत्तौ विशेषण वैयर्थ्याच्च । न च कार्ये कार्यान्तरान्वितत्वमस्तीति वाच्यम्,—तदन्वितत्वायोगादनवस्थापत्तेश्च । न च (कार्य्ये) कार्यान्वितत्व एव प्राथमिक-शक्तिग्रह-नियमः । [कार्य्यान्वित-व्यतिरिक्त-] सिद्ध [पद] निर्देशेऽपि बालक-व्युत्पत्तिर्दृश्यते—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

ऽनुरागवाननुरागवानिन्द्रोऽनिन्द्रः प्रवृत्तिरप्रवृत्तिः स परः परमात्मा" इति पैङ्ग्यादिश्रुतेरेव शब्दमूलत्वाच्च न विरोधः । "यद्वाक्योक्तं न तद्युक्तिर्विरोद्धुं शक्नुयात् क्वचित् । विरोधे वाक्ययोः क्वापि किञ्चित्-साहाय्यकारणम्" इति पुरुषोत्तमतन्त्रे इति । ननु वेदस्य प्रमाण्ये सिद्धे एव वेदावगत-परमेश्वर-प्रणीतत्वक-वेदस्य बलवत्त्वमवधार्य्यं, तच्च न सम्भवति; परस्पराश्रयादिति चेन्न । स्थावर-जङ्गमप्राणिनां सुखदुःखादि-वैचित्र्येण मन्द-मध्योत्तमयोनिवैचित्र्येण च तेषां कर्म्म-वैचित्र्यमेव तद्वैचित्र्यकारणं वाच्यं, कारणान्तरा-दर्शनात् । तानि च कर्म्माणि शास्त्रतोऽवगम्य अनादिशिष्ट-परम्परया क्रियमाणानि दृश्यन्ते, शास्त्रोक्त-

अनुवाद—

वेद वेद्य अर्थनिचय का संस्थापन सम्भव नहीं है । जीव की अनवधानता निबन्धन काल्पनिक वेद वहिर्भूत तर्क प्रतिष्ठाकी सम्भावना नहीं है, कारण मानव बुद्धि कल्पनाविद्या में अभ्यस्त है । प्रकृत अर्थ के प्रति प्रणिधान नहीं होता है, तर्क एवं शून्य मार्ग में भ्रमण करते करते आश्रयहीन होकर अवशेष में ईश्वर की सत्ता में भी सन्दिहान होता है । जिस प्रकार एकने यत्न से तर्क स्थापन किया, दूसरेने उसे खण्डन किया, तीसरेने पुनर्वार स्थापन किया, अपरने खण्डन किया । इस रीति से मानव की बुद्धिविचित्रता से तर्क की स्थिरता नहीं होता है । अतःपर सूत्र मध्यस्थित आशङ्का अंशकी व्याख्या करते हैं । यहाँ अन्यरूप अनुमान करता हूँ—जिससे तर्क की अप्रतिष्ठा दोष नहीं हो सकता है । प्रतिष्ठित तर्क ही नहीं है, ऐसी नहीं कही जाती है । कारण तर्क की अप्रतिष्ठा भी तर्क से ही होती है । किसी तर्क को अप्रतिष्ठ देखकर सब तर्क को अप्रतिष्ठ मानलेना ठीक नहीं है, समस्त जगत् व्यवहार उच्छिन्न हो जायेगा । इस प्रकार सन्देह के उत्तर में कहते हैं—"एवमपि अविमोक्षप्रसङ्गः" जागतिक किसी तर्क की प्रतिष्ठा होने पर भी, जगत्कारणरूप अनिर्वचनीय विषय विशेष में तर्क का स्वातन्त्र्य नहीं है, अतएव तर्क द्वारा अचिन्त्य विषय निश्चित न होने से जीवकी मुक्ति नहीं होगी । जब वेद नित्य है, विज्ञानोत्पत्ति का भी एकमात्र कारण है, तव अव्यभिचारी सिद्ध अर्थ भी उसका ही विषय है, सुतरां वेद जनित ज्ञान ही पूर्ण है, औपनिषद् ज्ञान असत् है, कहने की क्षमता किसी की नहीं है । अतएव उपनिषत् प्रतिपाद्य ज्ञान का ही सम्यक् ज्ञानत्व सुसिद्ध है एवं उक्त ज्ञान से ही मुक्ति होती है अपर से नहीं ।

इस सूत्र व्याख्या में श्रीभाष्य कहते हैं—"तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वादपि श्रुतिमूलो ब्रह्मकारणवाद एव समाश्रयणीयो न प्रधानकारणवादः ।" साधारण तर्क की अप्रतिष्ठा होने पर भी वेद मूलक तर्क सिद्ध ब्रह्म जगत्कारणतावाद ही आश्रयणीय है, किन्तु प्रधान जगत्कारणतावाद को आश्रय करना ठीक नहीं है ।

सर्वसम्वादिनी

'इदं वस्त्रम्' इत्यादौ। तस्मात् सिद्धे सिद्धायां शक्तौ दृष्टे च श्रोतृ-प्रतीति-विरोधाभावे वक्तुस्तात्पर्य्यमपि तत्र सेत्स्यतीति सिद्धवन्निर्दिष्टानामुपनिषदादीनामपि स्वार्थे प्रामाण्यमस्त्येव। तदुक्तम्,—"तस्मान्मन्त्रार्थ-वादयोरन्य [कर्म] परत्वेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यं भवत्येव। तद्यदि स्वरसत एव निष्प्रतिबन्धमवधारितरूप-मनधिगतविषयश्च विज्ञानमुत्पद्यते शब्दात, तदन्तरेणापि तात्पर्य्यं तस्य प्रामाण्यं किं न स्यात्? तत्संगान-विगानयोः [वन्दन-निन्दनयोः] पुनरनुवाद-गुणवादत्वे उपनिषदां पुनरनन्यशेषत्वादपास्तसमस्तानर्थ-मनन्तानन्दैकरसमनधिगतमात्मतत्त्वं गमयन्तीनां प्रमाणान्तर-विरोधेऽपि [विरुद्धस्य प्रत्यक्षादि-प्रमाणस्य] तस्यैवाभासीकरणेन च स्वार्थ एव प्रामाण्यमिति। तदेवं सर्वस्मिन्नपि वेदात्मके शब्दे स्वार्थं प्रति प्रामाण्यमुपलब्धे, स कथमर्थं प्रसूत इति विव्रियते।—तत्र वर्णानामाशुविनाशित्वान्नार्थं जनयितुं शक्तिः सम्भवति। ततश्च पूर्वपूर्वाक्षर-जन्य-संस्कारवदन्त्याक्षरस्यैवार्थ-प्रत्यायकत्वं मन्यन्ते। ते च संस्काराः कार्यमात्र-प्रत्यायिताः,—अप्रत्यक्षत्वात्। संस्कार-कार्यस्य स्मरणस्य क्रमवर्त्तित्वात् समुदाय-प्रत्यया-भावान्नान्त्यवर्णस्याप्यर्थप्रत्यायकत्वमित्यभिप्रेत्यापरे तु स्फोटमेव तत्प्रत्यायकमाहुः,—(ब्र०सू० १।३।२८—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

कर्म्मणां केषाञ्चित् फलानि च दृश्यन्ते, ज्योतिरायुर्व्वेदादिशास्त्राणि दृष्टफलानि सुप्रसिद्धानीति वेदस्य प्रामाण्यमवधार्य्यते। एवं 'वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात्' इत्याद्यनुमानेनापि परमेश्वर-प्रणीतत्वं वेदस्य सिध्यति; तदन्यस्यालौकिकवेदार्थानवगन्तृत्वादिति सिद्धं परमेश्वर-प्रणीतो वेदः प्रमाणम्। एवमनुमानेन वेदप्रामाण्यसिद्धावपि वेदस्य नित्यनिर्द्दोषपरमेश्वर-प्रणीतत्वेन तदर्थस्यानुमानादिना बाधस्यायोगात् वेदस्य प्रामाण्यम्। अनुमानस्य नानाविधत्वेऽपि अनुकूलतर्क-सहकृतस्य प्रामाण्यमवगन्तव्यम्। तथा वेदार्थ-विचार एव सदनुमानं विधेयमित्यपि बोध्यमिति दिक्॥११॥

अनुवाद—

यहाँ श्रीमन्मध्वाचार्य का मत इस प्रकार है—"एतावानेव तर्क इति प्रतिष्ठापकप्रमाणाभावात्। यावदेव प्रमाणेन सिद्धं तावदहापयन् स्वीकुर्य्यान्नैव चान्यत्र शक्यं मानमृते क्वचित्।" तर्क की सीमा यहाँतक —है इस प्रकार निर्णय का कोई प्रमाण नहीं है, वैदिक प्रमाण से जो सिद्ध होता है, उसको परित्याग करने का कोई हेतु नहीं है, किन्तु वेद वहिर्भूत प्रमाण कभी भी स्वीकार्य्य नहीं है।

श्रीनिम्बार्काचार्य के मत में—तर्कानवस्थानाच्चोक्तसिद्धान्तस्य नासामञ्जस्यम्। दृढ़ तर्केण वेदविरुद्धे प्रधानादिके जगत्कारणेऽनुमिते तु तादृशेन तर्केण सत्प्रतिपक्षसम्भवात्। एवमेव तार्किक विप्रतिपत्त्या अनिर्म्मोक्षप्रसङ्गाद्वेदोक्तस्यैवोपादेयत्वमिति सिद्धम्।" (वेदान्तपारिजातसौरभ)

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण के मतमें—"पुरुष धी वैविध्यात्तर्का नष्टप्रतिष्ठा मिथोविहन्यमाना विलोक्यन्ते। अतोऽपिताननादृत्यौपनिषदी ब्रह्मोपादानता स्वीकार्य्या। न च लब्धमाहात्म्यानां केषाञ्चित्तर्काः प्रतिष्ठिताः, तथाभूतानामपि कपिलकणभुगादीनां मिथोविवादसन्दर्शनात्। यद्यप्यर्थविशेषे तर्कः प्रतिष्ठितस्तथापि ब्रह्मणि सोऽयं नापेक्ष्यते, अचिन्त्यत्वेन तदनर्हत्वात् श्रुतिविरोधाच्चेति त्वदुक्तचसङ्गतेश्च। श्रुतिश्च ब्रह्मणस्तर्का-गोचरतामाह, "नैषातर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येन सुज्ञानाय प्रेष्ठ" इति कठानाम्। स्मृतिश्च—"ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः। यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम्" इत्याद्या। तस्मात् श्रुतिरेव धर्म इव ब्रह्मणि प्रमाणम्।" तार्किकों की बुद्धि विविधता के कारण तर्क की प्रतिष्ठा नहीं होती है, अतः उपनिषद् कथित ब्रह्म की जगत्कारणता स्वीकार्य है, ब्रह्म अचिन्त्य पदार्थ है,वह मनुष्य मतिप्रभव तर्क का अविषय है। श्रुति—प्रिय नचिकेत! परतत्त्वबोधसमर्था बुद्धि को कर्कश न करो, सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट यह बुद्धि परतत्त्वानुभव करने में समर्था होगी। श्रीमद्भागवत में वर्णित है—प्रशान्तात्मा मुनिगण जिस बुद्धि के द्वारा ब्रह्मानुभव करते हैं, वह बुद्धि उस तर्काप्लुत होनेसे उससे ब्रह्मतत्त्वानुभव नहीं होता है।

सर्वसम्वादिनी

शा०भा०) "स च वर्णानामनेकत्वेनैक-प्रत्ययानुपपत्ते रेकैकवर्ण-प्रत्ययाहित-संस्कार-बीजेऽन्त्यवर्ण-प्रत्ययजनित-परिपाके प्रत्ययिन्येकप्रत्ययविषयतया झटिति प्रत्यवभासते ।

अतएव स्फोटरूपत्वाद्वेदस्य नित्यत्वम्,—(ब्र०सू० १।३।२८—शा०भा०) "तस्य प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् ।" वेदान्तिनस्तु (जैमिनीकृतायां 'द्वादशलक्षण्यां' १मअ० ५मपा० ५मसू०—शवरकृत-भाष्ये) "वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः" इत्येतं न्यायमनुसृत्य 'द्विर्गौ'-शब्दोऽयमुच्चारितः ; न तु द्वौ गो-शब्दावित्येकतैव सर्वैः प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद् वर्णात्मकानामेव शब्दानां नित्यत्वमङ्गीकृत्य ते च वर्णाः पिपीलिका-पंक्तिवत् क्रमाद्यनुगृहीतार्थविशेषसंबद्धाः सन्तः स्व-व्यवहारेऽप्येकैक-वर्णग्रहणानन्तरं समस्त-वर्ण-प्रत्यय-दर्शिन्यां बुद्धौ तादृशमेव प्रत्यवभासमानास्तं तमर्थमव्यभिचारेण प्रत्याययिष्यन्तीत्यतो वर्णवादिनां लघीयसी कल्पना स्यात् । स्फोटवादिनां तु दृष्ट-हानिरदृष्ट-कल्पना च ; तथा वर्णाश्चेमे क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति; स स्फोटोऽर्थं व्यनक्तीति गरीयसी कल्पना स्यादिति मन्यन्ते । तदेवं वर्णरूपाणामेव वेद-शब्दानां नित्यत्वमर्थ-प्रत्यायकत्वं चाङ्गीकृतम् । तत्र 'मुख्या'-'लक्षणा'-'गुण'-भेदेन त्रिधा शब्द-वृत्तिः । 'मुख्या'पि 'रूढ़ि'-'योग'-भेदेन द्विधा । 'रूढ़िः' स्वरूपेण जात्या गुणेन वा निर्देशार्हे वस्तुनि संज्ञा-संज्ञि-सङ्केतेन प्रवर्त्तते ; यथा—'डित्थः (काष्ठमयो हस्ती) गौः शुक्लः' ।

'लक्षणा'—तेनैव सङ्केतेनाभिहितार्थसम्बन्धिनी; यथा—'गङ्गायां घोषः' । इयं पुनस्त्रिधा—'अजहत्-स्वार्था', 'जहत्स्वार्था', 'जहदजहत्स्वार्था' च ; यथा (क्रमेण)—'श्वेतो धावति', 'गङ्गायां घोषः',

अनुवाद—

अतएव धर्म के समान श्रुति ही ब्रह्म प्रतिपादन में प्रमाण है ।

सम्प्रति परतत्त्व प्रतिपादन में अपौरुषेय वेद ही मूल प्रमाण है, ग्रन्थकार के इस कथन का पोषकरूपमें विन्यस्त "शास्त्रयोनित्वात्" इस ब्रह्मसूत्र की व्याख्या प्रदर्शित हो रही है । आचार्य्य शङ्कर कहते हैं—"महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति । किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदाभिन्नस्य देवतिर्य्यङ्‌मनुष्य वर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्याप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः सम्भवः "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदः" इत्यादिश्रुतेस्तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वञ्चेति । अथवा यथोक्तमृग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे । शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यत इत्यभिप्रायः । तस्माच्छास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि । (भाष्य—१, १, ३,)

अनेक प्रकार विद्या स्थान द्वारा विपुलीकृत ऋग्वेदादि शास्त्र का प्रकाश सर्वज्ञ ईश्वर व्यतीत अपर व्यक्ति से सम्भव नहीं है । अनेक शाखा के भेद से विभक्त देवता, तिर्यग्योनि, मनुष्य, वर्ण एवं आश्रमादि विभाग का कारण, निखिल ज्ञान के आकर स्वरूप—ऋग् प्रभृति वेद है, जो महापुरुष से साधारण जीव के निःश्वास तुल्य अनायास प्रकाश हुआ है, आप जो निरतिशय सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान हैं, विश्व कार्य ही उसका निःसन्दिग्ध उदाहरण है । तज्जन्य पूर्वसूत्र में उक्त है, जिन महापुरुष से समस्त भूत सृष्ट, पालित, एवं लीन होते हैं, उनको ब्रह्म शब्द से जानना ।

श्रीपाद् आचार्य रामानुज कहते हैं—"शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं तत् शास्त्रयोनिः, तस्य भावः शास्त्रयोनित्वं—तस्माद्, ब्रह्मज्ञानकारणत्वाच्छास्त्रस्य तद् योनित्वं ब्रह्मणः । अत्यन्तातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षादि प्रमाणाविषयतया ब्रह्मणः शास्त्रैकप्रमाणकत्वादुक्तस्वरूपं ब्रह्म—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि वाक्यं बोधयत्येवेत्यर्थः" (श्रीभाष्य)

सर्वसम्वादिनी

'सोऽयं देवदत्तः' इति। श्रीरामानुजादिभिस्त्वन्त्या न मन्यते, तत्तु तद्ग्रन्थेष्वेवान्वेष्टव्यम्। ['सोऽयं देवदत्तः' इति दृष्टान्ते] स इति पदेन तत्कालानुभूत उच्यते; अयमितीदानीमनुभूयमान उच्यते। अत्र द्वयोरन्वये विरोध एव नास्ति, कथं 'लक्षणा' स्यादिति संक्षेपः। गौणी चाभिहितार्थ-लक्षित-गुणयुक्ते तत्सदृशे; यथा—'सिंहो देवदत्तः'; यथाहुः,—(कुमारिलभट्ट-कृत-तन्त्रवार्त्तिके १।४।२२)।

"अभिधेयाविनाभूत-प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते। लक्ष्यमाण-गुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता" ॥१८॥ इति।

इह 'लक्षणा' च 'रूढ़िं' प्रयोजनं वापेक्ष्यैव भवति। आद्ये, यथा—'कलिङ्गः साहसिकः'; अन्ते, यथा—'गङ्गायां घोषः (घोष-निवासः)'; अत्र तटस्य शीतलत्व-पावनत्वादेर्बोधनं प्रयोजनम्। 'गौण्यां' तु प्रयोजनमेवापेक्ष्यम्; यथा—'गौर्वाहीकः', अज्ञत्वाद्यतिशय-बोधनमत्र प्रयोजनम्। 'योग'स्तु एतत्त्रिविध-वृत्ति-प्रतिपादित-पदार्थयोः प्रकृति-प्रत्ययार्थयोर्योगेन; यथा—'पङ्कजम्', 'औपगवः', 'पाचकः'।

'व्यञ्जना'भिधा च वृत्तिर्मन्यते; यथा—'गङ्गायां घोषः' इत्युक्ते तन्निवासभूतस्य तटस्य शीतलत्व-पावनत्वादिकं गम्यमित्यादि; तदुक्तम्,—(सा०द० २।१६) "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति नयेनाभिधा-लक्षणा-तात्पर्य्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु ययाऽन्योऽर्थो बोध्यते, सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृति-प्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जन-निगमन-ध्वनन-प्रत्यायन-भावाभिप्रायादि-व्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम" इति।

अनुवाद—

ब्रह्म ज्ञान का एकमात्र कारण शास्त्र अर्थात् शास्त्रप्रमाण से ब्रह्म को जाना जाता है, सुतरां ब्रह्म का शास्त्रयोनित्व है। ब्रह्म पदार्थ—अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष प्रमाणादि का अविषय है, तज्जन्य "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि शास्त्र वाक्य का ही अतीन्द्रिय स्वरूप ब्रह्मका ज्ञापक है। श्रीमन्मध्वाचार्य के मतमें—ऋग्यजुःसामाथर्वाश्च भारतं पञ्चरात्रकम्। मूलरामायणञ्चैव शास्त्रमित्यभिधीयते॥

यच्चानुकूलमेतस्य तच्च शास्त्रं प्रकीर्तितम्। अतोऽन्यग्रन्थविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत्॥

इति स्कान्दे—शास्त्रं योनिः प्रमाणमस्येति शास्त्रयोनिः" (माध्वभाष्य)

ऋक्, यजुः, साम अथर्ववेद, भारत पुराण, रामायण को शास्त्र कहते हैं, इसके अनुकूल ग्रन्थ भी शास्त्र मध्य में परिगणित है, एतद्व्यतीत ग्रन्थसमूह शास्त्र नहीं है, वह कुवर्त्म है, सुतरां उल्लिखित शास्त्र समूह ही ब्रह्मानुभूति का एकमात्र कारण है। श्रीपाद निम्वादित्य कहते हैं—

किं प्रमाणकमित्याकाङ्क्षायां सिद्धानामाह—शास्त्रमेव योनिस्तज्ज्ञप्तिकारणं, यस्मिंस्तदेवोक्तलक्षण-लक्षितं वस्तु ब्रह्मशब्दाभिधेयमिति।" (वेदान्तपारिजातसौरभ)

तत्त्वजिज्ञासा में 'ब्रह्म' ही जिज्ञास्य हुए हैं। अनन्तर लक्षण सूत्रमें जगत् के जन्म स्थिति लय जिनसे हैं, उन सत्य धर्मयुक्त वस्तु ही ब्रह्म है, लक्षण उक्त है, सम्प्रति उस विषय में प्रमाण दर्शाते हैं। ब्रह्म विषयक ज्ञानका एकमात्र कारण 'शास्त्र' सुतरां शास्त्रोक्त लक्षण द्वारा लक्षित वस्तु ही ब्रह्म शब्द का अभिधेय है।

श्रीगोविन्दभाष्यकार श्रीबलदेवविद्याभूषण के मतमें—"ईक्षतेर्नेत्यतो नेत्याकृष्यं, मुमुक्षुभिरसौ नानुमेयः, कुतः? शास्त्रेति। शास्त्रमुपनिषद् योनिर्बोधहेतुर्यस्य, तत्त्वात्—उपनिषद्बोध्यत्वश्रवणादित्यर्थः। अन्यथौपनिषद समाख्याविरोधः। "मन्तव्यः" इति श्रुत्या तु स्वानुसारितर्कोऽभ्युपगतः। "पूर्वापरा-विरोधेन कोऽर्थोऽत्राभिमतो भवेत्। इत्याद्यमूहनं तर्कं शुष्कतर्कन्तु वर्जयेत्" इत्यादि स्मृतेः। गौतमादि शुष्कतर्कहेयत्वन्तु वक्ष्यते। तर्काप्रतिष्ठानादिति। तस्माद्वेदान्ताद्विदित्वासौ ध्येय इति। इदमेवादुष्टं प्रमाणमिति सूत्रयति—श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति। इत्थञ्च हरेरात्ममूर्त्तित्वमनुभूतेरनुभवितृत्वं स्वात्मकर्मा-धिष्ठानशालित्वं चेत्यादि श्रूयमाणरूपतया तस्योपासनं सिद्ध्यति। (श्रीगोविन्द भाष्य)

इसके बाद उक्त होगा—"ईक्षतेर्नाशब्दं" सूत्र। उससे 'न' को आकर्षण कर इस सूत्र की व्याख्या करें। उपनिषद् ज्ञान ही जिनका एकमात्र हेतु है, भगवान् अनुमेय नहीं है। "औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" अन्यथा

सर्वसम्वादिनी

अथैताश्च वृत्तयः पद-वाक्यत्वमापन्नेष्वेव शब्देषु तत्तदर्थं बोधयितुमुदयन्ते। तस्य पदत्वञ्च विभक्त्यर्थालिङ्गनेन जायते। तानि च पुनर्वाक्यतामापद्य विशेषार्थं बोधयन्ति।—

(सा०द० २।१) "वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्ति-युक्तः पदोच्चयः।" तत्र "योग्यता—पदार्थानां परस्पर-सम्बन्धे बाधाभावः; अन्यथा 'वह्निना सिञ्चति' इत्यपि वाक्यं स्यात्।" (तै०स० २।५।१) "प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्" इत्यादौ तु तद्विधानामचिन्त्य-प्रभावत्वाद्योग्यताऽस्त्येव। (सा०द० २।१) "आकाङ्क्षा—प्रतीतिपर्य्यवसान-विरहः श्रोतृ-जिज्ञासारूपः; अन्यथा 'गौरश्वः', 'पुरुषो हस्ती' इत्यपि वाक्यं स्यात्। (तत्रैव) 'आसत्तिः'—बुद्ध्यविच्छेदः; अन्यथेदानीमुच्चरितस्य 'देवदत्त'-पदस्य दिनान्तरोच्चारितेन 'गच्छति' इति पदेन सङ्गतिः स्यात्। अत्राकाङ्क्षा-योग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चय-धर्मत्वमुपचारात्।" इति।

तच्च वाक्यं महावाक्यानुगतम्। महावाक्यञ्च वाक्यसमुदायः अस्यार्थस्तूपक्रमोपसंहारादिभिरेवावधार्य्यते। तथा हि (ब्र०सू १।१।४७—माध्वभाष्यधृत-बृहत्संहिता-वाक्यम्)—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्य-निर्णये" ॥१६॥ इति;

'उपक्रमोपसंहार'योरेकरूपत्वम्, ('अभ्यासः') पौनःपुन्यम्, ('अपूर्वता') अनधिगतत्वम्, 'फलम्'

अनुवाद—

औपनिषद् नाम व्यर्थ होगा। अनुकूल तर्क द्वारा ही मनन करें। शात्र वाक्य का पूर्वापर समीक्षा करके अर्थबोध पूर्वक मनन करना कर्त्तव्य है। शुष्क तर्क वर्जित है। शास्त्रोक्त मूलक शब्द ही निर्दोष प्रमाण है। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" भगवान् श्रीहरि आत्ममूर्त्ति ज्ञान ज्ञाता स्वाभिन्नगुणधामविशिष्ट हैं, शास्त्र से उनको जानकर ही उपासना होती है। आचार्य श्रीशङ्कर कृत उक्त सूत्र की व्याख्या—

"शब्दमूलञ्च ब्रह्म शब्दप्रमाणकं नेन्द्रियादिप्रमाणकं, तद्यथाशब्दमभ्युपगन्तव्यं। लौकिकानामपि मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनां देशकालनिमित्त वैचित्र्यवशाच्छक्तयो विरोद्धानेककार्यविषया दृश्यन्ते, ता अपि तावन्नोपदेशमन्तरेण केवलेन तर्केणावगन्तुं शक्यन्ते। अस्य वस्तुन एतावत्य एतत्सहाया एतद्विषया एतत् प्रयोजनाश्च शक्तय इति। किमुताचिन्त्यप्रभावस्य ब्रह्मणो रूपं विना शब्देन न निरूप्येत। तथाहुः—पौराणिकाः, अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतेभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्। तस्मात् शब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्याधिगमः।" (शारीरिक भाष्य)

ब्रह्म—शब्दमूल, शब्द ही उनका एकमात्र कारण है। इन्द्रियादि जन्य ज्ञान तद्विषय में प्रमाण नहीं है। वस्तु समूह के मध्य में जो विरुद्ध शक्ति है, विज्ञ के उपदेश व्यतीत केवल तर्क द्वारा, शक्ति, सहाय, विषय, प्रयोजन ज्ञान नहीं होता है, सुतरां अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्मरूप शब्द व्यतीत अपर किसी भी प्रमाण से होना सम्भव नहीं है। पौराणिकगण कहते हैं—अचिन्त्य वस्तु तर्क गोचर नहीं है, प्रकृत्यतीत वस्तु ही अचिन्त्य है, अतएव अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान,–केवल वैदिक शब्द से ही होता है।

श्रीरामानुज कहते हैं—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" तु शब्द उक्तदोषं व्यावर्त्तयति। नैवमसामञ्जस्यम्। कुतः श्रुतेः, श्रुतिस्तावन्निरवयवत्वं ब्रह्मणोस्ततो विचित्रसर्गञ्चाह, श्रौतेऽर्थे यथाश्रुतिप्रतिपत्तव्यमित्यर्थः। (श्रीभाष्य) उक्त सूत्रस्थ 'तु' शब्द ब्रह्म का असामञ्जस्य दोष को निषेध करता है, शब्दमूलता ही श्रुति का कारण है। यह श्रुति ही ब्रह्म की निरवयवता, ब्रह्म से ही जगत् की सृष्टि को कहती है, अतएव श्रुति का यथाश्रुत अर्थ करना होगा। श्रीमन्मध्वाचार्य कहते हैं—

"नचेश्वरपक्षेऽयं विरोधः। "योऽसौ विरुद्धोऽविरुद्धोऽनुरागवाननुरागवानिन्द्रोऽनिन्द्रः प्रवृत्तिरप्रवृत्तिः स परः परमात्मा। इत्यादि पैङ्ग्यादिश्रुतेरेव शब्दमूलत्वाच्च न युक्तिविरोधः।" (माध्वभाष्य)

ईश्वर के कर्त्तृत्व में कुछ भी विरोध नहीं है। पैङ्ग्यादि श्रुति द्वारा विरोध परिहार हुआ है। ईश्वर में अचिन्त्य शक्ति द्वारा विरुद्धधर्म का जीव में विरुद्धधर्मक गुणसमूह का सामञ्जस्य नहीं होता है।

सर्वसम्वादिनी

प्रयोजनम्, ('अर्थवादः') प्रशंसा, ('उपपत्तिः') युक्तिमत्त्वञ्चेति षड्विधानि तात्पर्य्यलिङ्गानि। एवमन्वय-व्यतिरेकाभ्यां गतिसामान्येनापि महावाक्यार्थोऽवगन्तव्यः। अत्र युक्तिमत्त्वं नाम न शुष्कतर्कानुगृहीतत्वम् किन्तु तच्छास्त्रोदितं कथञ्चित्तत्सम्भावना-मात्रं लक्षणं शास्त्र-वैयर्थ्य-प्रसङ्गादेव।

यत्र तु वाक्यान्तरेणैव विरोधः स्यात्तत्र बलाबलत्वं विवेचनीयम्। तच्च शास्त्रगतम्, वचनगतञ्च। पूर्वं [शास्त्रगतं] यथा—"श्रुति-स्मृति-विरोधे तु श्रुतिरेव बलीयसी" इत्यादि; उत्तरञ्च [वचनगतञ्च] यथा—(पू०मी०सू० ३।३।१४) "श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" इत्यादि। निरुक्तानि चैतानि— "श्रुतिश्च शब्दः क्षमता च लिङ्गम्, वाक्यं पदान्येव तु संहतानि।
सा प्रक्रिया यत् करणं सकाङ्क्षं स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या" ॥२०॥ इति।

अनुवाद—

श्रीनिम्वार्काचार्य कृत व्याख्या—"समाधत्ते—नोक्तदोषोऽस्ति, "सोऽकामयत बहुस्याम्, स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवत्, एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः, यथोर्णनाभिः सृजते तथा पुरुषाद्भवति विश्वम्'"—इत्यस्यार्थस्य शब्दमूलत्वादन्यं निर्म्मूलम्।" (वेदान्तपारिजात सौरभ)

श्रुतिवेद्य ब्रह्म जगत्कारण होने से उनमें जड़त्व दोष होगा, जगत् ब्रह्मरूप होने से जगद्दर्शन से जीव की मुक्ति हीगी, मुमुक्ष गम्यत्व ब्रह्म में नहीं रहेगा, अतः प्रधान ही जगत् कारण है। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"—इत्यादि श्रुति विरोध भी होगा ? इस पूर्वपक्ष का समाधान हेतु कहते हैं—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्"।

कार्यरूपताप्राप्ति एवं निराकारविषयक श्रुतिसमूह के द्वारा ब्रह्ममें विरोधात्मक दोष नहीं होगा, कारण ब्रह्म में जगत् से अभिन्न निमित्तकारणत्व एवं उपादान कारणत्व रहने पर भी उनमें जगत् से विलक्षणता एवं शक्ति परिणाम द्वारा जगत्कारणता है, इस विषय में श्रुति प्रमाण है। श्रुति कहती है,—ईश्वरने इच्छा की, मैं अनेक बनूंगा, अनन्तर अपने को सृजन किया। जगत् की रचना कर उसमें प्रवेश किया, जो पृथिवी में रहकर समस्त जीव का शासन करता है, अथच पृथिवी उनको जान नहीं सकती, ऐसो उनकी महिमा है, ऊर्णनाभि के समान ब्रह्म जगत् सृष्टि करते हैं। शक्ति जगत्रूप में परिणत होती है। स्वरूपत उनका परिणाम नहीं है। अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न भगवान् में कुछ भी असम्भव नही है। तज्जन्य उनकी शक्ति का नाम अघटन-घटन पटीयसी है। श्रीगोविन्द भाष्य में उक्त है—

शङ्काच्छेदाय तु शब्दः। उपसंहारसूत्रान्नेत्यनुवर्त्तते। ब्रह्म कर्त्तृत्वपक्षे लोकदृष्टा दोषा न स्युः। कुतः—श्रुतेः। अलौकिकमचिन्त्यं ज्ञानात्मकमपि मूर्त्तं ज्ञानवच्चेकमेव बहुधावभातञ्च निरंशमपि सांशञ्च मितमप्यमितञ्च सर्वकर्त्तृ निर्विकारञ्च ब्रह्मेति श्रवणादेवेत्यर्थः। सर्वकर्त्तृत्वेऽपि निर्विकारत्वञ्चेत्येतत् सर्वं श्रुत्यनुसारेणैव स्वीकार्य्यं, नतु केवलयायुक्त्या प्रतिविधेयमिति। ननु श्रुत्यापि बाधितार्थकं कथं बोधनीयं ? तत्राह शास्त्रेति। अविचिन्त्यार्थस्य शब्दैकप्रमाणत्वादित्यर्थः। तादृशे मणिमन्त्रादौ दृष्टं ह्येतत् प्रकृते कैमुत्यमापादयति।"

पूर्व सूत्र का संशय निरसन हेतु इस सूत्र में "तु" शब्द का प्रयोग है, उहसंहार सूत्र से "न" शब्द की अनुवृत्ति लेकर अर्थ करना होगा, अर्थात् ब्रह्म का जगत् कर्त्तृत्व, साधारण के पक्ष में दोष नहीं हो सकता है। कारण ब्रह्म लोकातीत अचिन्त्यनीय एवं ज्ञान स्वरूप है, मूर्त्तिमान्, ज्ञानविशिष्ट, एक होकर भी अनेक रूप से प्रतिभात, अंशशून्य होकर भी अंशयुक्त, कर्त्ता होकर भी निर्विकार इत्यादि विषय का प्रकाश शास्त्र से होता है। सुतरां श्रुति मानकर चलना कर्त्तव्य है, केवल युक्ति नहीं। अविचिन्त्य पदार्थ में में शब्द ही एकमात्र प्रमाण है। लौकिक मणि का अचिन्त्य प्रभाव है, उसका कारणस्वरूप ब्रह्म में उस प्रकार ब्रह्म में तादृश प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

तत्र च वेद-शब्दस्य सम्प्रति दुष्पारत्वाद्दुरधिगमार्थत्वाच्च तदर्थनिर्णायकानां मुनीनामपि परस्पर-विरोधाद्वेदरूपो वेदार्थ-निर्णायकश्चेतिहास-पुराणात्मकः शब्द एव विचारणीयः। तत्र च यो वा वेदशब्दो नात्म-विदितः सोऽपि तद्दृष्ट्यानुमेय एवेति सम्प्रति तस्यैव प्रमोत्पादकत्वं स्थितम्। तथाहि महाभारते मानवीये च—

सर्वसम्वादिनी

तच्च विरोधित्वं परोक्षवादादि-निबन्धनं चिन्तयित्वेतरवाक्यस्य बलवद्वाक्यानुगतोऽर्थश्चिन्तनीयः। इदं प्रतिपाद्यस्याचिन्त्यत्वे एव युक्तिदूरत्वं व्याख्यातम्—(महाभा० भीष्मप० ५।१२; स्कान्दे च) "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इत्यादि-दर्शनेन; चिन्त्यत्वे तु युक्तिरप्यवकाशं लभते, चेल्लभताम्, न तत्रास्माकमाग्रह इति सर्वथा वेदस्यैव प्रामाण्यम्। तदुक्तं (ब्र०सू० २।२।३८) शङ्करशारीरकेऽपि—"आगमबलेन ब्रह्मवादी कारणादि-स्वरूपं निरूपयति, नावश्यं तस्य (अनुमानस्य) यथादृष्टं सर्वमभ्युपगतं मन्तव्यम्" इति

तदेवं वेदो नामालौकिकः शब्दस्तस्य परमं प्रतिपाद्यं यत्तदलौकिकत्वादचिन्त्यमेव भविष्यति। तस्मिंस्त्वन्वेष्टव्ये तदुपक्रमादिभिः सर्वेषामप्युपरि यदुपपद्यते, तदेवोपास्यमिति ॥११॥

अथैवं प्रमाण-निर्णये स्थितेऽपि पुनराशङ्कोत्तरपक्षं दर्शयति,—(मू० १म अनु०) 'तत्र च वेदशब्दस्य' इति; 'सम्प्रति'—कलौ; अप्रचरद्रूपत्वेन दुर्मेधस्त्वेन च 'दुष्पारत्वात्'। उपसंहरति,—'तदेवं वेदत्वं

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

एवं चेदृगादिवेदेनास्तु परमार्थ-विचारः? तत्राह,—तत्र च वेदशब्दस्येति। तर्हि न्यायादिशास्त्रैर्वेदार्थनिर्णेतृभिः सोऽस्तु? इति चेत्तत्राह,—तदर्थनिर्णायकानामिति। तस्यैवेति—इतिहास-पुराणात्मकस्य वेदरूपस्य इत्यर्थः। समुपबृंहयेदिति—वेदार्थं स्पष्टीकुर्य्यादित्यर्थः। पूरणादिति—वेदार्थस्येति बोध्यम्।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

दुष्पारत्वादिति—केषाञ्चिद्वेदानामुच्छन्नत्वात् केषाञ्चित् प्रच्छन्नत्वाच्चेति भावः। तदर्थ-निर्णायकानां—वेदान्तसूत्रादिकारिणां मुनीनां व्यास-कणादादीनाम्। वेदरूपः—गौण्या निरूढ़लक्षणया वेदशब्दप्रतिपाद्यः,

अनुवाद—

श्रुति कहती है—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" जो वेदवित् नहीं है वह ब्रह्म को नहीं जान सकता है, अतः वेद ही स्वतःसिद्ध निर्दोष प्रमाण है। वेदानुकूल तर्क ही तत्त्व निर्णय में उपयोगी है, वेद प्रतिकूल शुष्क तर्क वितण्डा प्रभृति तत्त्व निर्णायक नहीं है। "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" यहाँ "अचिन्त्य" पद का अर्थ लोकातीत होने से दुःसाध्य रूप में प्रतीयमान है। भाव—शास्त्र प्रसिद्ध श्रीभगवत् गुणलीलादिरूप वस्तु। तर्क—स्वमति कल्पित अनुमान, एवम्भूत अचिन्त्य पदार्थ को स्वकपोल कल्पित अनुमान द्वारा मायिक कहना ठीक नहीं है।

"शास्त्रयोनित्वात्"—जिनका प्रमाण शास्त्र है, सुतरां समस्त अर्थ का यथार्थदर्शी लोकप्रतारणादि दोषहीन परमकारुणिक परमेश्वर प्रणीत शास्त्र ही स्वरूपोपलब्धि में बलवत् प्रमाण है।

"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्, अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो जायते" यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं वेदांश्च तस्मै प्रहिणोति" इत्यादि श्रुतिरूप शब्द ही परमेश्वर प्रणीतत्व के प्रति मूल प्रमाण है। ग्रन्थकर्त्ताने वेद-न्याय-पुराण-इतिहास कथित प्रमाण निचय के द्वारा, वेद—शब्दात्मक एवं उक्त शब्द भी परमेश्वर सम्भूत है, पुरुष कल्पित नहीं है, सुतरां प्रमेयवस्तु निर्णय में वेद शब्द ही अनन्य प्रमाण है, यह ही स्थापन किया गया है ॥११।

इतिहास एवं पुराण की आवश्यकता। प्रमाण रूप में वेद का स्थापन होने पर संशय है कि—कलि में वेद का स्वल्प प्रचार है, वेद शाखा भी प्रायः उच्छिन्न है, जो उपलब्ध है—उसकी धारणा करना मेधा हीन व्यक्ति के लिए दुरूह है, वेदार्थ निर्णायक वेदान्त सूत्रादि से भी वेदार्थनिर्णय करना असम्भव है।

"इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत् ।" [म० भा० आ० १, २६७]

इति, "पूरणात् पुराणम्" इति चान्यत्र । न चावेदेन वेदस्य वृंहणं सम्भवति, न ह्यपरिपूर्णस्य कनक-वलयस्य त्रपुणा पूरणं युज्यते । ननु यदि वेद-शब्दः पुराणमितिहासञ्चोपादत्ते, तर्हि पुराणमन्यदन्वेषणीयम् । यदि तु न, न तर्हीतिहासपुराणयोरभेदो वेदेन । उच्यते;— विशिष्टैकार्थ-प्रतिपादक—पद-कदम्बस्यापौरुषेयत्वादभेदेऽपि स्वरक्रम-भेदाद्भेद-निर्देशो-

सर्वसम्वादिनी

सिद्धम्' इति; अतएव (ब्र०सू०२।१।१) "स्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष-प्रसङ्गात्" इत्यनेन न्यायेनाप्यन्यत्र स्मृतिवत् स्मृत्यन्तर-विरोध-दृष्टत्वञ्च नात्रापतति ।

ननु, (ब्र०सू० १।२।२०) "न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात्" इत्यत्र प्रधानं स्मृत्युक्तमेव; न च श्रौतमिति प्रतिपादयता श्रीबादरायणेन पुराणानामपि प्राधानिक-प्रक्रियत्वात् स्मृतित्वं बोध्यते ? न; तत्र स्वतन्त्रं

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

त्रपुणा—सीसकेन । पुराणेतिहासयोर्व्वेदरूपतायां कश्चिच्छङ्कते—नन्वित्यादिना । तत्र समाधत्ते—उच्यत इत्यादिना । निखिलशक्ति-विशिष्टभगवद्रूपैकार्थप्रतिपादकं यत् पद-कदम्बमृगादिपुराणान्तं तस्येति ।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

नात्मविदितः—अप्रचरद्रूपत्वात् । तद्दृष्ट्या—इतिहासपुराणदृष्ट्या । समुपवृंहयेदिति;—वेदयति—विहित-निषिद्धं परतत्त्वस्वरूपं च ज्ञापयतीति वेदस्तम्, अभिधेय-प्रकाशतया पूरयेत्; इतिहास-पुराणयोर्व्वेद-शास्त्रान्तर्भूतत्वं जानीयादिति यावत् । नाम-व्युत्पत्त्यापि वेद-समुपवृंहणमाह—पूरणादिति,—वेद-पूरणादित्यर्थः । पुराणमिति ह्रस्वः संज्ञायाम् । वृंहणं—पूरणं, पुराणं—वेद-शब्देनोपादीयमानं पुराणम् । अन्यवत्—उच्छन्नप्रच्छन्नवेदवत्, अन्वेषणीयमिति—इदानीं प्रचरत्पुराणेतिहासयोर्व्वेद-व्यवहाराभावादिति भावः । पदकदम्बस्येति—वेद-घटकस्य पुराणेतिहास-घटकस्य चेत्यादेः, अपौरुषेयत्वात्—जीवाप्रणीतत्वात्, परमेश्वरप्रणीतत्वादिति यावत् । अभेदेऽपि—वेदशब्द-प्रतिपाद्यत्वेऽपि, स्वर-क्रम-भेदात्—स्वर-क्रमयोर्भेदात्, भेदनिर्द्देशः वेद-पुराणयोर्भेदेन व्यवहारः । स्वरः—दात्तोदात्तादिरूपः । तथा च दात्तोदात्तादि-स्वर-भेदेनाध्ययन-विधिविषयता वेदस्य । पुराणेतिहासयोर्न दात्तादि-स्वरभेदेनाध्ययन-विधिविषयता, किन्तु—

"इतिहास-पुराणानि श्रुत्वा भक्त्या विशाम्पते ! मुच्यते सर्व्वपापेभ्यो ब्रह्महत्यादिभिर्व्विभो !
ब्राह्मणं वाचकं विद्यान्नान्यवर्णजमादरात् । श्रुत्वान्यवर्णजाद्राजन् ! वाचकान्नरकं व्रजेत् ।।"

तथा,—"देवार्च्चामग्रतः कृत्वा ब्राह्मणानां विशेषतः । ग्रन्थिश्च शिथिलं कुर्य्याद्वाचकः कुरुनन्दन !
पुनर्व्वध्नीत तत् सूत्रं न मुक्त्वा धारयेत् क्वचित् । हिरण्यं रजतं गाश्च तथा कांस्योपदोहनाः ।
दत्वा च वाचकायेह श्रुतस्याप्नोति यत् फलम् ।।"

कांस्योपदोहनाः—कांस्यक्रोड़ाः । "वाचकः पूजितो येन प्रसन्नास्तस्य देवताः"

अनुवाद—

तत्त्व विचार में मुनिगण एकमत नहीं है । अतएव वेदार्थनिर्णायक वेदरूप इतिहास पुराणात्मक शब्द से परमार्थ विचार करना आवश्यक है । वेदार्थसमूह पुराण इतिहास में उपलब्ध है । अतः इतिहास पुराणात्मक वेदवाक्य द्वारा यथार्थ ज्ञान निर्णय करना कर्त्तव्य है । महाभारत एवं मनुस्मृति में कथित है— "इतिहास पुराण द्वारा वेद को पूर्ण करें" अन्यत्र भी उक्त है—"वेद का पूरण होता है—अतः इसका नाम पुराण है" जो वेद नहीं है, उस से वेद का पूरण सम्भव नहीं है, सुवर्ण वलय का पूरण सीसे के द्वारा नहीं होता है । संशय हो सकता है कि—वेद शब्द का अर्थ इतिहास पुराण होने से पुराण नामक अपर पदार्थ होना आवश्यक है, अन्यथा वेद के साथ इतिहास पुराण की अभिन्नता होगी ?

ऽप्युपपद्यते। ऋगादिभिः सममनयोरपौरुषेयत्वेनाभेदो माध्यन्दिनश्रुतावेव व्यज्यते,— "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्व्वेदः सामवेदोऽथर्व्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्" [बृ०आ० २, ४, ०१] **इत्यादिना ॥१२॥**

सर्वसम्वादिनी

यत् प्रधानम्, तदेव निषेधयता तेन प्रधान-स्वातन्त्र्यप्रतिपादकं साङ्ख्यदर्शनमेव स्मृतित्वेन मन्यते। (ब्र०सू० १।४।३) **"तदधीनत्वादर्थवत्"** इति सूत्रान्तरेण हि परमेश्वराधीनतया विश्रुतमव्याकृताद्यपर-पर्य्यायिम्मन्यतयेव प्रधानम्; तथा च पुराणे दृष्टमिति न स्मृतिसाधारण्यं तस्येति वेदत्वमेव स्थितम् ॥१२॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

ऋगादिभागे स्वर-क्रमोऽस्ति, इतिहास-पुराणभागे तु स नास्ति—इत्येतदंशेन भेदः। "एवं वा" इति मैत्रेयीं पत्नीं प्रति याज्ञवल्क्य-वचनम्। अरे—मैत्रेयि! अस्य—ईश्वरस्य। महत.—विभोः, पूज्यस्य वा। भूतस्य—पूर्व्वसिद्धस्य। स्फुटार्थमन्यत् ॥१२॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तथा,—"ज्ञात्वा पर्व्व-समाप्तिञ्च पूजयेद्वाचकं बुधः। आत्मानमपि विक्रीय स इच्छेत् सफलं क्रतुम् ॥"
तथा,—"विस्पष्टमद्रूतं शान्तं स्पष्टाक्षरपदं तथा। कलस्वर-समायुक्तं रसभाव-समन्वितम् ॥
बुध्यमानः सदा ह्यर्थं ग्रन्थार्थं कृत्स्नशो नृप! ब्राह्मणादिषु सर्व्वेषु ग्रन्थार्थं चार्पयेन्नृप!
य एवं वाचयेद्विद्वान् स विप्रो व्यास उच्यते ॥"

तथा,—"सप्तस्वरसमायुक्तं काले काले विशाम्पते! प्रदर्शयन् रसान् सर्व्वान् वाचयेद्वाचको नृप!" इति—तिथितत्त्व-नैयतकालिककल्पतरु धृत-भविष्यपुराणादि-वचनानुसारेणाध्ययन-विषयतेति विशेषादिति भावः। क्रम-भेदः—उपक्रमोपसंहार-विशेषनियमित आनुपूर्व्वी-विशेषः। ऋगाद्याख्यानुपूर्वी-विशेषवत्त्वं—वेद-पदप्रवृत्तिनिमित्तं, स्वरविशेषेणाध्ययन-विधिविषयतावच्छेकं, शूद्रस्याध्ययन-श्रवणादिनिषेधविषयताव-च्छेदकञ्च। पुराणाद्यानुपूर्व्वीमत्त्वञ्च—शूद्राद्यध्ययन-निषेधविषयतावच्छेदकं, श्रवण-विधिविषयतावच्छेक-ञ्चेति वेद-पुराणाद्योरपौरुषेयत्वाविशेऽपि भेद-निर्द्देशः। विशिष्टैकार्थ-प्रतिपादकत्वापौरुषेयत्वसाम्येन गौण्या लक्षणया पुराणादौ वेदशब्दप्रयोगः। वस्तुत एवं विधिनिषेधवाक्य-ब्रह्मप्रतिपादकवाक्य-कदम्बानां केनापि प्रमाणेन लोके प्रागनवगतार्थपराणामपौरुषेयाणां वेदत्वं, पुराणादीनां च परमदयालुना भगवता

अनुवाद—

समाधान—वेद एवं पुराणादि—उभय वाक्यनिचय के द्वारा ही निखिल शक्तिविशिष्ट भगवद्रूप अर्थ प्रतिपादित हुआ है, उभय ही अपौरुषेय है। सुतरां इस अंश में वेद के ऋगादि भाग में उदात्त अनुदात्त प्रभृति स्वर क्रम-भेद है, किन्तु इतिहास पुराण भाग में वैसा नहीं है। इस अंश में उभय की भिन्नता है। ऋगादि वेद के सहित पुराण इतिहास का अपौरुषेयत्व पक्ष में अभेद है, इसका वर्णन माध्यन्दिन श्रुति में है, याज्ञवल्क निज पत्नी मैत्रेयी को कहे थे—"अरे मैत्रेयि! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास एवं पुराण—यह समस्त ही पूर्व सिद्ध विभुरूप परमेश्वर के निःश्वास स्वरूप हैं, अर्थात् यह सब शास्त्र निःश्वास के तुल्य अनायास ही उनसे निर्गत हुए हैं ॥१२॥

सारार्थः—**वेद का उच्छन्नत्व एवं प्रच्छन्नत्व का दर्शन हम सब करते हैं। वेद में वर्णित है—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इस वाक्य से सन्ध्या नित्य अनुष्ठेय है, समर्थित हुआ। "संक्रान्त्यां पक्षयोरन्ते द्वादश्यां श्राद्धवासरे सायं सन्ध्यां न कुर्वीत कृते च पितृहा भवेत्" पाक्षिक निषेधपर निषेध वाक्य भी उक्त श्रुति का अनुमापक होने से वह प्रमाणरूप से गृहीत हुआ। इस प्रकार वेद में अनेक विषय उच्छन्न, प्रच्छन्न है। उक्त अंश समूह का दर्शन पुराण इतिहास में होता है। वेद में जिसका संक्षेप है, उसका विस्तार रूप से इतिहास पुराण में है। अतः श्रुति की आज्ञा वह है—जो व्यक्ति इतिहास पुराणादि शास्त्राध्ययन न करके**

अतएव स्कान्द-प्रभासखण्डे;—

"पुरा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः। आविर्भूतास्ततो वेदाः सषड़ङ्ग-पदक्रमाः॥
ततः पुराणमखिलं सर्व्वशास्त्रमयं ध्रुवम्। नित्यशब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्।
निर्गतं ब्रह्मणो वक्त्रात्तस्य भेदान्निबोधत॥ ब्राह्मञ्च पुराणं प्रथमं—" **इत्यादि।**

सर्वसम्वादिनी

ननु ब्रह्मसूत्रस्यापि वेदान्तर्भूतत्वं श्रूयते? इत्याशङ्क्याह,—(मू०१म-अनु०)'विश्वात्यन्त-' इति;श्रीभागवत-स्वरूपज्ञाने प्रमाणान्तरमाह,—'एवं स्कान्द' इति। 'यत्र' इत्यादिकञ्च पद्यं यथा-मात्स्यमेव ज्ञेयम्।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

पुरेत्यादौ वेदानां पुराणानाञ्चाविर्भाव उक्तः। ससृजे—आविर्भावयामास। समानेति—यज्ञदत्त-पञ्चमान् विप्रानामन्त्रयस्व इतिवत्। कार्ष्णमिति,—कृष्णेन—व्यासेनोक्तमित्यर्थः। अतएवेति—पञ्चम-

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

स्वयं स्त्री-शूद्र-ब्रह्मबन्धूनां श्रवणाद्यर्थं वेदादनन्तरोक्तानां वेदादवगतार्थ-बोधकतया न तत्र वेदशब्दस्य मुख्या वृत्ति; किन्तु गौणी वृत्तिः। तथा भेदेऽपि मुख्य-गौण-वेदशब्दप्रतिपादितानां वेद-पुराणेतिहासानामेकग्रन्थत्वं—ब्रह्मवेदनरूपैकप्रतिपत्तिरूपत्वात्, "सर्व्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" इति श्रुतेः। वेद-पुराणेतिहासानामभेदेऽपि न वेदमपेक्ष्य पुराणेतिहासयोर्न्यूनत्वं, परन्तु तुल्यप्रधानभावः, अपौरुषेयत्वेन स्वतः प्रमाणतातौल्यात्। यद्वा; वेदशब्दस्य शक्तिद्वयी, एका—ऋगाद्यानुपूर्व्वी-विशेषरूपेण अपरा च—अपौरुषेयत्वेन ऋगादि-वेदचतुष्टय-पुराणेतिहाससाधारणी;—इति वृत्तिद्वयस्वीकारफलञ्चोक्तमेवावधेयम्। अत्र वेदपूरणं नाम—वेदोत्थापिताकाङ्क्षा-निवर्त्तनम्। तदुक्तम्,—

"अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकाङ्क्षञ्चेद्विभागे स्यात्।" इति।

अर्थैक्यं—तात्पर्य्यविषयार्थ-प्रतिपत्तेरैक्यं, वेदस्थले तात्पर्य्यविषयप्रतिपत्तिर्ब्रह्मतत्त्वनिर्णयः। एकं वाक्यम्—एको ग्रन्थः, विभागे—ग्रन्थयोः पृथगुपन्यासेऽपि। अत्राकाङ्क्षा—'वेदादर्थ-प्रतीतौ सत्यां तत्रासम्भावनादिना कथमेतदर्थ-सङ्गतिः?' इति शिष्य-जिज्ञासा, तन्निवृत्तिश्च पुराणेतिहासाभ्यां क्रियत इति वेदमपेक्ष्य पुराणेतिहासयोरुत्कर्ष-प्रतीतिरिति वेद-पुराणयोरेकग्रन्थत्वे पुराणेतिहासयोर्वेदार्थसंग्राहकत्वेन पौनरुक्त्यदोष इति परास्तम्; वेद-चतुष्टयार्थ-विवरणरूपत्वात्तयोरिति॥१२॥

समानजातीय-निवेशितत्वादिति—समानजातीय एव पूरकेऽन्वयात्, स्वान्वयितावच्छेदक-धर्म्माच्छिन्नेनैव पूरणादिति यावत्। वेदगत-संख्याया अवेदेन पूरणं न भवतीति पर्य्यवसितम्। वेदानां वेदमिति—

अनुवाद—

वेद की आलोचना करता है, वह मुझको प्रहार करता है।

स्वर,—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से त्रिविध है। उच्चैरादीयते उच्चार्य्यते इति उदात्तः, उच्च रूप से उच्चार्य्यमाण स्वर—उदात्त, इसका विपरीत अर्थात् नीच भावसे उच्चार्य्यमाण स्वर—अनुदात्त, एवं समाहृत स्वर—स्वरित, अर्थात् जिससे उच्च-नीचरूप स्वर उत्पन्न होता है, इस प्रकार स्वर संग्राहक अवस्था को स्वरित कहते हैं।

क्रम—यज्ञादि के अङ्गरूप वैदिक विधान। कोषकारके मतमें कल्प एवं विधिनामक इसके और भी दो प्रर्य्याय है, इस प्रकार स्वर भेद एवं क्रम भेद केवल वेद में ही है। सुतरां इस अंश में वेद के सहित इतिहास पुराणों का भेद है, तत्त्वांश में नहीं॥१२॥

वेद एवं पुराणादि का आविर्भाव। उक्त माध्यन्दिन श्रुति को समर्थन प्रदान के निमित्त अन्यान्य श्रुति पुराणादि का वचन दर्शाते हैं। स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड में उक्त है,—पूर्वकाल में पितामह ब्रह्मा

अत्र शतकोटिसंख्या ब्रह्मलोके प्रसिद्धेति तथोक्तम्। तृतीयस्कन्धे च;—

"ऋग्यजुःसामाथर्व्वाख्यान् वेदान् पूर्व्वादिभिर्म्मुखैः।" [भा० ३, १२, ३७]

इत्यादिप्रकरणे,—

"इतिहास-पुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः। सर्व्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्व्वदर्शनः॥" [भा०३,१२,३९] **इति।**

अपि चात्र साक्षादेव वेद-शब्दः प्रयुक्तः पुराणेतिहासयोः। अन्यत्र च;—

"पुराणं पञ्चमो वेदः—इतिहासः पुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते। वेदानध्यापयामास महाभारत-पञ्चमान्॥" **इत्यादौ। अन्यथा—**"वेदान्" **इत्यादावपि पञ्चमत्वं नावकल्पेत, समानजातीय-निवेशितत्वात् संख्यायाः। भविष्यपुराणे;—**

"कार्ष्णञ्च पञ्चमं वेदं यन्महाभारतं स्मृतम्।" **इति।**

सर्वसम्वादिनी

'सारस्वतस्य' इति तत्कल्पमध्ये या भगवल्लीलास्तत्सम्बन्धिनः।

(स्कान्दे प्रभास-खण्डे) "ये स्युर्नरामराः" इति कल्पान्तर-भगवत्कथा तु तत्र प्रायिकचेत्यर्थः; सा च **"पाद्मकल्पमथो शृणु"** इत्याद्या। यत्र विशेष-वाकचम्, तत्रान्यत्र क्वचिदेवेति ज्ञेयम्। अत्र प्रभासखण्डे

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

वेदत्वश्रवणादेवेत्यर्थः। चतुर्णामिवान्तर्भूतत्वेति—भगवन्निःश्वसितभूते ये इतिहास-पुराणे ते चतुर्णा-मेवान्तर्गते। 'तेष्वेव यत् पुरावृत्तं, यच्च पञ्चलक्षणमाख्यानं, ते एव तद्भूते ग्राह्ये; न तु ये व्यासकृतत्वेन भुवि ख्याते शूद्राणामपि श्रव्ये' इति कर्म्मठैर्यत् कल्पितं तन्निरस्तमित्यर्थः॥१३॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ऋगादिचतुर्णां वेदानामर्थविदकं पुराणमित्यर्थः। अतएव—श्रुति-स्मृतिभिरितिहास-पुराणयोः पञ्चमत्व-निरुक्तेरेव। अन्तर्भूतत्व-कल्पनयेति,—चतुर्णां वेदानामन्तर्भूतत्व-कल्पनम्—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्—ऋग्वेदः प्रथमः, ततो यजुर्व्वेदः, ततः सामवेदः, ततोऽथर्व्वाङ्गिरसः—अथर्व्ववेदः, तेष्वितिहास-पुराणम्,—इति श्रुत्यर्थ-कल्पनात्। तत्रायमभिप्रायः—"तस्मात्तपस्तेपानाच्चत्वारो वेदा अजायन्त, ऋचः

अनुवाद—

उग्र तपस्या किये थे, उससे षड़ङ्ग पद क्रमके सहित वेद आविर्भूत हुए। उसके पश्चात् नित्य शब्दमय शतकोटि श्लोक निबद्ध पवित्र सर्वशास्त्रमय नित्य पुराणादि आविर्भूत हुए। वे सव इस प्रकार है, ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, श्रीभागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लिङ्ग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्माण्ड,—ये अष्टादश, महापुराण, एवं उपपुराण, उसमें ब्रह्मपुराण ही प्रथम है। ब्रह्मलोक में यह सव पुराणस्थ श्लोक संख्या शतकोटि है, श्रीमद् भागवत के तृतीय स्कन्द में वर्णित है, चतुर्मुख ब्रह्मा निज पूर्वादिमुखसे क्रमशः ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व वेद को प्रकाश किए थे। अनन्तर उन सर्वज्ञ ईश्वरने निज समस्त मुखों से इतिहास पुराणात्मक पञ्चम वेद का आविर्भाव कराये थे।

उक्त प्रमाण से ज्ञात होता है कि—इतिहास पुराण भी साक्षात् वेद शब्द से ही अभिहित होते हैं। अन्यत्र भी कथित है—पुराण ही पञ्चम वेद हैं। श्रीकृष्ण द्वैपायन प्रणीत महाभारत भी पञ्चम वेद शब्द से अभिहित होता है। 'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्'। संख्या—परस्पर समान जाति में ही विन्यस्त होती है। छान्दोग्योपनिषद में भी उक्त है—हे भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ-अथर्व वेद, पञ्चम वेद इतिहास पुराण का अध्ययन कर रहा हूँ।

श्रुति स्मृति वचननिचय के द्वारा इतिहास पुराण का पञ्चमवेदत्व सिद्ध होने पर जो लोक-महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्दग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः, इतिहासः पुराणम्" इत्यादि स्थल में इतिहास

तथा च साम-कौथुमीयशाखायां, छान्दोग्योपनिषदि च;—"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्व्वेदं सामवेदमाथर्व्वणं चतुर्थमितिहासं पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्॥" [३, १५, ७] **इत्यादि।**

अतएव "अस्य महतो भूतस्य" **इत्यादावितिहास-पुराणयोश्चतुर्णामेवान्तर्भूतत्व-कल्पनया प्रसिद्ध-प्रत्याख्यानं निरस्तम्। तदुक्तम्;**—"ब्राह्मं पुराणं प्रथमं" **इत्यादि ॥१३॥**

सर्वसम्वादिनी

यदष्टादश-पुराणाविर्भावानन्तरमेव भारतं प्रकाशितमिति श्रूयते, तत्,—श्रीभागवतविरोधात्, '**भारतार्थ-विनिर्णयः**' इति (**गारुड़ोक्तौ**) श्रीभागवतमाहात्म्य-विरोधाच्च,—पूर्वं कृतमपि भारतं तत्पश्चाज्जनमेजयादिषु प्रचारितमित्यपेक्ष्यैव ज्ञेयम्। तदेवं प्रमाण-प्रकरणं व्याख्यातम्॥१३॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

सामानि जज्ञिरे"—इत्यत्र सामान्यतो वेदचतुष्टयत्वमुक्त्वा तद्विवरणम्—ऋच इत्यादि। तपस्तेपनात्—ईश्वरात्। तथा "महतो भूतस्य" इति श्रुतावपि वेद-चतुष्टय-कथनानन्तरं तद्घटकेतिहास-पुराणमाह। अन्यथा न वा "अस्य महतो भूतस्य" इति श्रुतौ इतिहासः पुराणमित्यनन्तरं 'विद्या उपनिषद्' इत्यादि-श्रवणात् विद्योपनिषदामपि वेद-चतुष्टयानन्तर्गतत्वापत्तिः, प्रसिद्धभारतादीतिहासब्राह्मादिपुराणानां वेदार्थ-संग्राहकत्वेन व्यासादिकृतत्वेन च प्रसिद्धिर्न तेषामपौरुषेयत्वम्, तथा ऋगादिवेदमध्ये "संयु प्रजापतिं देवा अब्रुवन्" इत्याद्युपक्रम्य, "यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयेत्" इत्यादिश्रुतेः, अवचनेनैव प्रोवाच" इत्यादि श्रुतेश्चेतिहासरूपत्वात्, "यतो वा इमानि भूतानि जायन्त" त्यादिश्रुतेः "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" इत्यातिश्रुतेः, "स ब्रह्मणा सृजति रुद्रेण विलापयति हरिरादिरनादिः" इत्यादिश्रुतेश्च सर्ग-विसर्ग-निरोध-भगवदवतारादि-कथनलक्षण-पुराणरूपत्वाच्च केषाञ्चिदुच्छन्न-प्रच्छन्नतयाधुनिकानां जनानामज्ञातत्वात्, प्रचरद्रूपाणामपि दुरूहत्वात्, व्यासेन तदर्थान् सङ्कलय्य भारतादीतिहासपुराणानि कृतानीति

अनुवाद—

पुराण को वेदचतुष्टय के मध्य में अन्तर्भुक्त करते हैं। उनका मत भी खण्डित हुआ। इसलिए स्कन्द पुराण के वेदाविर्भाव प्रसङ्ग में प्रथमादि क्रम से ब्रह्म पद्म पुराणादि का कीर्त्तन किया गया है॥१३॥

सारार्थः—षड़ङ्ग—वेद के छह अङ्ग हैं।

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां चितिः। छन्दश्चेति षड़ङ्गानि वेदानां वैदिका विदुः॥

अकारादि वर्णोच्चारण बोधक—शिक्षा। वेदबोधित यागादि क्रिया का उपदेशक—कल्प। साध्यसाधन कर्त्तृ-कर्म-क्रिया समासादि का निरूपक—व्याकरण। शाब्दबोधातिरिक्त कतिपय अर्थनिर्णायक—निरुक्त। अक्षर एवं मात्रा संख्या निर्दिष्ट पद्यविशेष—छन्दः। ग्रह गणनादिरूप गणन शास्त्र—ज्योतिष। वैदिक पण्डितगण उक्त छह को वेदाङ्ग कहते हैं। अङ्ग रूप से कहने का तात्पर्य्य स्मृति में उक्त है—

"छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते। ज्योतिषामयनं नेत्रं निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥

शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥

वेद के चरण—छन्दः, हस्त—कल्प, नेत्र—ज्योतिष, श्रोत्र—निरुक्त, घ्राण—शिक्षा, मुख—व्याकरण है। अतएव साङ्ग वेदाध्ययनकारी व्यक्ति ब्रह्म लोक में निवास करता है।

पदक्रम—वेद का क्रमपाठ एवं पदपाठ—यह द्विविध रीति प्रसिद्ध है। न्याय शास्त्रकार के मतमें वेदार्थ—"मीनशरीरावच्छेदेन भगवद्वाक्यं-वेदः।" वेदान्त कहते हैं—धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषेयवाक्यं-वेदः। पुराण कहते हैं—ब्रह्ममुखनिर्गतधर्मज्ञापकशास्त्रं-वेदः। यह समस्त लक्षण की आलोचना से 'वेद' अपौरुषेय, धर्म एवं ब्रह्म का ज्ञापक है, निर्णय होता है। यहाँ ब्रह्म शब्द से निर्विशेष ब्रह्म का बोध नहीं होना चाहिये तथा कथित अर्थ—निर्वाण मुक्ति के उद्देश्य से हुआ है। ब्रह्म शब्द—निर्विशेष-सविशेष उभय स्वरूप का

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

बोध्यम् । प्रसिद्धप्रत्याख्यानं—प्रसिद्धानां भारत-ब्राह्मादीनां वेदत्वप्रत्याख्यानं निरस्तमिति । इतिहास-पुराणयोः श्रुतौ क्रमिकजातत्वेन कथनादितिहासस्य पञ्चमत्वम्, पुराणस्य षष्ठत्वं यद्यपि वक्तुमुचितम्, तथापीतिहासपुराणयोर्व्वेदार्थ-विवरणरूपत्वेनैकच्यमादृत्य पञ्चमत्वमुक्तम्, स्वतन्त्रेच्छत्वाद्भगवतः । श्रुतौ प्रागितिहासनिःसरणं ततः पुराणमिति क्रमनिर्द्देशात् व्यासेन तत्क्रमेणैव तयोराविर्भावनम् । तेन भारतानन्तरमेव पुराण-संग्रहः कृत इति ।

"अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवती-सुतः । भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम् ॥"

इति वचनस्यार्थः ;—सत्यवती-सुतः अष्टादशपुराणं कृत्वा भारताख्यानं अखिलं—पूर्णं चक्रे, 'खिल' शब्दस्योनार्थत्वात् । तदुपबृंहितं—वेदार्थैर्युक्तम् । यद्वा;—अखिलं—तदेव लोकादिगतसर्व्वं भारताख्यानम्, तदुपबृंहितं—तैः—पुराणैः, उपबृंहितं—पूर्णञ्चक्रे इत्यन्ययः, न तु अष्टादशपुराणानि कृत्वा भारतं चक्रे इत्यन्वयः, श्रुत्यादि-विरोधापत्तेः । अतएव वक्ष्यमाणगरुड़पुराण-भागवतलक्षणे—"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ-विनिर्णय इत्युक्तम्" । तथोक्तमिति—प्रसिद्धपुराणस्य वेदत्वमुक्तम् ॥१३॥

अनुवाद—

ही वाचक है । निखिल अवस्था में वह स्वरूपशक्ति समन्वित है । वेद शब्द का प्रकृति-प्रत्ययगत अर्थ है—"वेदयति धर्मं ब्रह्म च वेदः" जो धर्म एवं ब्रह्म तत्त्व का प्रकाशक है, वह ही वेद है ।

ऋग्वेद—एकविंशति शाखात्मक है, आयुर्वेद इस की शाखा है । यजुर्वेद—शतशाखात्मक है, धनुर्वेद इसका उपवेद है । सामवेद—सहस्रशाखात्मक है, गान्धर्ववेद इसका उपवेद है । अथर्ववेद—नवशाखात्मक है, स्थापत्य वेद इसका उपवेद है । महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायनने वेद विभाग कर, प्रथम पैल ऋषिको ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद, सुमन्तु को अथर्व वेद एवं सूत को इतिहास पुराण अध्ययन कराये थे ।

"एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा । शाखानान्तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत् ॥
सामवेदं सहस्रेण शाखानाञ्च विभेदतः । अथर्वाणमथो वेदं विभेद नवकेन तु ॥
ऋग्वेदश्रावकं पैलं प्रजग्राह महामुनिः । यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं सामवेदस्य श्रावकं सोऽन्वपद्यत । तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम् ।
इतिहास पुराणानि प्रवक्तुं मामचोदयत् ॥ (कुर्मपुराण-४९अः)

"इतिहास पुराणानि प्रवक्तुं मामचोदयत्" इस पाठ को देखकर श्रीकृष्ण द्वैपायनने सूत लोमहर्षण को पुराण पाठ करने के निमित्त कहे थे, किन्तु पढ़ाये नहीं, इस प्रकार भ्रम-पङ्कमें अपने को कोई निमज्जित न करे । श्रीवेदव्यासने लोमहर्षण को पुराणादि पढ़ाये थे । इसका उल्लेख श्रीमद्भागवत—१२, ७, ६, में है । सूत वाक्य—अधीयन्त व्यासशिष्यात् संहितां मत्पितुर्मुखात् । एकैकामहमेतेषां शिष्यः सर्वाः समध्यगाम् ॥
कश्यपोऽहञ्च सावर्णी रामशिष्योऽकृतव्रणः । अधीमहि व्यास शिष्याच्चत्वारो मूलसंहिताः ॥

उग्रश्रवा सूत,—निज पिता लोमहर्षण को व्यास शिष्य कहे थे, एवं कश्यप, सावर्णि एवं परशुराम शिष्य अकृतव्रण, तीन व्यक्ति के साथ अपना अध्ययन श्रीलोमहर्षण से हुआ है, स्वीकार किए हैं ।

"समानजातीयनिवेशितत्वात् संख्यायाः" इस प्रकार कथन का तात्पर्य्य यह है कि—संख्या द्वारा परस्पर समान धर्मविशिष्ट पदार्थ का ही ग्रहण होता है । वेद चार, इतिहास पुराण लेकर पाँच, ऐसा कहने पर पञ्चम स्थानीय वस्तु भी वेद ही है, सहज रूप से उसका बोध होता है । जैसे "यज्ञदत्त पञ्चमान् विप्रानामन्त्रयस्व" अर्थात् यज्ञदत्त को लेकर पाँच ब्राह्मण को निमन्त्रण करो, कहने से यज्ञदत्त भी ब्राह्मण है, यह बोध होता है ।

प्रसिद्ध प्रत्याख्यान—जगत् में प्रसिद्ध महाभारतादि इतिहास ग्रन्थ एवं ब्रह्मपद्म प्रभृति पुराण वेदार्थ

पञ्चमत्वे कारणञ्च वायु-पुराणे सूत-वाक्यम् ;—

"इतिहास-पुराणानां वक्तारं सम्यगेव हि। माञ्चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः ।।
एक आसीद्यजुर्व्वेदस्तं चतुर्द्धा व्यकल्पयत्। चातुर्होत्रमभूत्तस्मिंस्तेन यज्ञमकल्पयत् ।।
आध्वर्य्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथैव च। औद्गात्रं सामभिश्चैव ब्रह्मत्वञ्चाप्यथर्व्वभिः ।।
आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिर्द्विज-सत्तमाः! पुराण-संहिताश्चक्रे पुराणार्थ-विशारदः ।।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

पञ्चमत्वे कारणञ्चेति;—ऋगादिभिश्चतुर्भिश्चातुर्होत्रं चतुर्भिर्ऋत्विग्भिर्निष्पाद्यं कर्म्म भवति, इतिहासादिभ्यां तन्न भवतीति तद्भागस्य पञ्चमत्वमित्यर्थः। आख्यानैः—पञ्चलक्षणैः पुराणानि।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

यजुर्व्वेदस्य वेद-सामान्यरूपत्वकथनं = ऋक्सामाथर्व्ववेदातिरिक्तस्य यजुर्व्वेदत्वलाभाय। अतएवोक्तं "यजुः सर्व्वत्र गीयत" इति चतुर्द्धा विभागनिमित्तमध्वर्य्युत्वादि कार्य्यभेद इति भावः। "यच्छिष्टन्तु यजुर्व्वेदः" इति—अध्वर्य्युत्वलक्षण-वेदेभ्यः कांश्चिद्वेदानादाय यजुरादिनाम-भेदेन विभागे कृते यदवशिष्टं, तदपि यजुर्व्वेदनामकमित्यर्थः। न च—"अस्य महतो भूतस्य" इति श्रुतौ ऋगादिक्रमेणैव जातत्वात्

अनुवाद—

के संग्राहक है तथा महर्षि व्यास कृत होने से वेद के समान अपौरुषेय नहीं है, किन्तु ऋगादि वेद के मध्य में "संयु प्रजापतिं देवा अब्रुवन्" एवं "ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयेत्" इत्यादि ऐतिहासिक विवरण ही "इतिहास" और "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" एतस्मादाकाशः सम्भूतः" एवं "स ब्रह्मणा सृजति रुद्रेण विलापयति हरिरादिरनादिः" इत्यादि अंश ही सर्ग विसर्ग निरोध भगवदवतारादि कथनात्मक "पुराण" ही वेद तुल्य अपौरुषेय है। काल दोष होने से पुराण एवं इतिहास के अंश विशेष प्राय विलुप्त एवं प्रच्छन्न है। जिस अंश का प्रचार है, वह भी दुर्बोध्य है, तज्जन्य वेदार्थ संग्रह पूर्वक स्त्री शूद्र के श्रव्य रूपमें महर्षि वेदव्यास पुराण इतिहास का प्रणयन किये हैं। इस प्रकार अभिनव कल्पना करके कुछ व्यक्ति इतिहास पुराण को वेदवत् अपौरुषेय नहीं मानते हैं। किन्तु यह कथन प्रसिद्ध प्रत्याख्यान दोष दुष्ट है। अतएव प्रस्तुत ग्रन्थकर्त्ता माध्यन्दिन श्रुति छान्दोग्य उपनिषद प्रभृति ग्रन्थ से प्रमाणित किए हैं कि—ऋग् यजुः क्रम से इतिहास पुराण समूह उन महापुरुष के निःश्वास सम्भूत है, समस्त ही अपौरुषेय तथा वेद निर्विशेष है।

यदि ऋगादि वेदान्तर्गत ऐतिहासिक पौराणिक घटनामात्र ही इतिहास प्रमाण होगा, तव माध्यन्दिन श्रुति में पुराण इतिहास का उल्लेख पृथक् रूपसे नहीं होता। कारण ऋगादि वेदचतुष्टय का विषय कहने से ही तदन्तर्गत इतिहास पुराणांश का भी ग्रहण होता। ऋगादि वेदचतुष्टय अनायास आविर्भूत हुए, तदन्तःपाती पुराणादि के अंशसमूह आवद्ध होकर रह गये। अनन्तर "इतिहासः पुराणं" कह कर उक्त अंश समूह को निकाला गया। ऐसा कहना क्या सङ्गत है? सुतरां श्रुति में क्रमिक भाव से ऋगादि पुराणान्त वेदनिचय का आविर्भाव कीर्त्तन होने से पूर्वोक्त "प्रसिद्ध प्रत्याख्यान" दोष निरस्त हुआ। पद्मपुराण में वेदाविर्भाव के पश्चात् ब्रह्म पद्म प्रभृति का नामोल्लेख है, आविर्भाव कीर्त्तन भी है। किन्तु प्रतिवादीगण उक्त पुराणों का नामोल्लेख नहीं करते हैं। अतः उन सव के उस प्रकार कथन निःसन्देह निर्भित्तिक है ॥१३॥

पुराणादि का पञ्चम वेदत्व एवं आविर्भाव कारण—इतिहास एवं पुराण, पञ्चम वेदस्वरूप है एवं ऋगादि वेद के समान ही अपौरुषेय है। श्रुति स्मृति प्रमाण स्थापन कर, सम्प्रति पुराणादि का पञ्चम वेदत्व एवं आविर्भावके प्रति कारण निर्देष कर रहे हैं। इतिहास एवं पुराणों का पञ्चमवेदत्व का कारण-वायुपुराणस्थ सूत वाक्य से प्रकाशित हुआ है। "भगवान् ईश्वर प्रभु वेदव्यास,—मुझको इतिहास पुराण

यच्छिष्टं तु यजुर्व्वेद इति शास्त्रार्थ-निर्णयः। इति।

ब्रह्मयज्ञाध्ययने च विनियोगो दृश्यतेऽमीषाम्—"यद्ब्राह्मणानीतिहास-पुराणानि" **इति। सोऽपि नावेदत्वे सम्भवति। अतो यदाह भगवान् मात्स्ये;—**

"कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः! व्यास-रूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे॥" इति।

पूर्व्वसिद्धमेव पुराणं सुखसंग्रहणाय सङ्कलयामीति तत्रार्थः। तदनन्तरं ह्युक्तम्;—

"चतुर्लक्ष-प्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा। तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रभाष्यते॥
अद्याप्यमर्त्त्य-लोके तु शतकोटि-प्रविस्तरम्। तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षः संक्षेपेण निवेशितः॥"

(मत्स्य० ५३, ८-१२) इति।

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

उपाख्यानैः—पुरावृत्तैः, गाथाभिः—छन्दो-विशेषैश्च, संहिताः—भारतरूपाश्चक्रे। ताश्च—"यच्छिष्टं तु यजुर्व्वेदे" तद्रूपा इत्यर्थः। ब्रह्मेति;—ब्रह्मयज्ञे—वेदाध्ययने, अमीषां—इतिहासादीनां विनियोगो दृश्यते। सोऽपि—विनियोगः तेषामवेदत्वे न सम्भवति। कृत्वा—आविर्भाव्य। सङ्कलयामि—संक्षिपामि। अभिधेयभागः—सारांशः॥१४॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

कथमेकस्य यजुर्व्वेदस्य ऋगादिभेदेन विभागो व्यासकृत इति वाच्यम्। ऋगादिक्रमेण वेद उद्भूतः; तत्र यजुर्व्वेदस्य प्रचुरत्वेन समुदितस्य यजुर्व्वेदत्वेनैकत्वेन च व्यवहारात्तथोक्तेः "आधिक्येन व्यपदेशा भवन्ति" इति न्यायात्, ऋगादिभेदेन वेदस्य चतुर्द्धाव्यवहारस्य प्राक् सत्त्वेऽपि तदधिकारिभेद-कार्य्यभेद-व्यवस्थया व्यासेन व्यवस्थापनात्तस्य विभागकृत्त्वव्यपदेश इति भावः। आख्यानैरिति—प्रश्नोत्तरवचन-निबन्धैः सूतशौनक-सम्वादरूपैरित्यर्थः। उपाख्यानैः—प्राथमिक-ग्रन्थाभिधेयप्रकाशकैः शुक-परीक्षित् सम्वादादिरूपैः। गाथाभिः—पुरावृत्तेतिहाससम्वादाख्याभिरिति। पुराण-संहितां—पुराणसंग्रहं चक्रे इति। तथा चाख्यानादिभिः सुसज्जीकृत्य पुराणानि प्रादुश्चकार। यथोक्तं गीताव्याख्यायां स्वामि-चरणैः—"प्रायेण भगवन्मुखनिःसृतानेव श्लोकान् व्यलिखत्, कांश्चित् तत्सङ्गतये स्वयञ्च व्यरचयत्"—इति व्यक्तं प्रथमस्कन्धे;—

अनुवाद—

के प्रधान वक्ता रूपसे स्वीकार किए थे। पहले एकमात्र यजुर्वेद ही था, श्रीवेदव्यासने इसको चार भाग में विभक्त किया, उस विभागचतुष्टय के द्वारा चातुर्होत्र कर्म निष्पन्न होता है। तन्मध्य में यजुर्वेद द्वारा अध्वर्य्यु कर्म, ऋग्वेद से होतृ कर्म, सामवेद से उद्गाता का कर्म, एवं अथर्ववेद विभाग के द्वारा ब्रह्मकर्म निर्वाह होता है। हे द्विजश्रेष्ठगण! अनन्तर पुराणार्थविशारद श्रीवेदव्यास—आख्यान, उपाख्यान, गाथा सन्निवेश कर पुराण इतिहास संग्रह किये थे। अध्वर्य्युलक्षण वेद से कतिपय अंश ग्रहणपूर्वक यजुः प्रभृति नाम से चार वेद विभक्त होने के पश्चात् अवशिष्ट अंश से इतिहास पुराण का प्रकाश हुआ है। तज्जन्य पुराण इतिहास को पञ्चम वेद कहा गया है।

इतिहास पुराण का अध्ययन वेद के समान करना ही कर्त्तव्य है। इसप्रकार ब्रह्मयज्ञात्मक वेद अध्ययन में भी इतिहास पुराणादि का विनियोग होता है। सुतरां वेदातिरिक्त होने से सम्भव नहीं होता।

अतएव मत्स्य पुराण में श्रीभगवान्‌ने कहा है—"हे द्विजोत्तमगण! काल दोष से मानवगण विपुल पुराणार्थ ग्रहण करने में असमर्थ होगा, अतः प्रति योग में व्यासरूप प्रकट कर उक्त पुराण का संग्रह करता हूँ। इससे जानना होगा कि पुराणसमूह पूर्वसिद्ध ही है, अनायास से बोधगम्य के लिए भगवान् संक्षेप करते हैं। चारलक्ष परिमित श्लोक को अष्टादश भाग से विभक्त कर भूर्लोक में अष्टादश पुराण का प्रचार किया गया है। किन्तु देवलोक में अद्यावधि शतकोटि श्लोक युक्त है। उसका सारांश भूर्लोक में चतुर्लक्ष

अत्र तु "यच्छिष्टं तु यजुर्व्वेदे" इत्युक्तत्वात्तस्याभिधेयभागश्चतुर्लक्षस्तत्र मर्त्त्य-लोके संक्षेपेण सार-संग्रहेण निवेशितः, न तु रचनान्तरेण ।।१४।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

"स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् । शुकमध्यापयामास निवृत्ति-निरतं मुनिम् ।।" इति । व्याख्यातञ्च प्रथमस्कन्ध-सन्दर्भे;—"प्रथमतः सामान्यतः कृत्वा नारदोपदेशानन्तरमनुक्रम्य तत्सम्मत्याऽनुक्रमेण विशेषतः कृत्वा" इति । विनियोगः—अध्ययन-विषयत्वेन विधेयत्वं, नावेदत्वे सम्भवति—ब्रह्मपदस्य वेद एव शक्तेरिति भावः । तदर्थ इति; तस्य—शतकोटिप्रविस्तरस्य अर्थः—तात्पर्य्यविषयार्थोपसंहारो यत्र सः, चतुर्लक्ष इत्यर्थः । 'तदर्थः' इत्यस्य प्रकारान्तरेण स्वयमाह—'अत्र च' इत्यादि । पुराणेतिहासयोरपि 'यच्छिष्टम्' इत्यनेन ग्रहणं, तस्यापि यजुर्व्वेदान्तर्गतत्वादिति भावः । तस्य यजुर्व्वेद-भागस्याभिधेयभागो यत्र सः । 'अत्र' इत्यस्यार्थमाह,—'मर्त्त्यलोक' इति । न तु वचनान्तरेणेति—यजुर्व्वेदाभिधेय-भागविशेषात्मके पुराणविशिष्टस्य चतुर्लक्षत्वाश्रयस्य स्वरूपेणैवाभिहितः, न तु वचनान्तर-रूपेणेति भावः । वस्तुतः अभिधेयभागः—पुराण-तात्पर्य्य-विषयीभूतोऽर्थ इत्यर्थः, न तु बहुव्रीहिणा ग्रन्थ इत्यर्थः । चतुर्लक्षः—चतुर्लक्षश्लोकात्मक-ग्रन्थ-प्रतिपाद्यः, संक्षेपेण—सारसंग्रहेण, यजुर्व्वेदात्—शतकोटि-प्रविस्तरात्मक-यजुर्व्वेदभागात् सारार्थ-संग्राहक-तद्घटकवाक्येनेति यावत् निवेशितः—कृतः । अपौरुषेय-पुराणवचनघटितश्चतुर्लक्षः पुराणमिति पर्य्यवसितम् ।

अनुवाद—

श्लोकात्मक अष्टादश पुराण है ।

यजुर्वेदमें जो अवशिष्ट था—कहने से यजुर्वेद का अवशिष्टांश अभिधेय भाग—चतुर्लक्ष श्लोक है, मर्त्त्य-लोक में उसका सार सन्निविष्ट हुआ है । किन्तु श्रीवेदव्यास पृथक् रचना कर सन्निविष्ट नहीं किए हैं ।।१४।।

सारार्थः—चातुर्होत्र—ऋत्विक् चतुष्टय निष्पाद्य कर्म । "ब्रह्मोद्गाता होताध्वर्य्युश्चत्वारो यज्ञवाहकाः ।" (मत्स्य पुराण) ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्य्यु—यज्ञ कर्म सम्पादक चार व्यक्ति को ऋत्विक् कहा जाता है, चारजन के द्वारा अनुष्ठेय कर्म ही चातुर्होत्र है । पूर्वकाल में एक वेद से ही चार व्यक्ति का कार्य सम्पादन होता था । पश्चात् सुविधा के निमित्त—ऋग्वेदाध्यायी अध्वर्य्यु का वेदी निर्माणादिरूप यज्ञशरीर सम्पादनात्मक कर्म—आध्वर्य्यव, यजुर्वेदाध्यायी होता का होमादि यज्ञालङ्काररूप कर्म 'होत्र' है, सामवेदी उद्गाता का—यज्ञ के वैगुण्यादि नाशक श्रीविष्णु स्मरण-कीर्त्तनादिरूप कर्म है । "औद्गात्र" एवं अथर्व वेदाध्यायी ब्रह्मा का त्रुटि संशोधन एवं पर्य्यवेक्षणादिरूप कर्म—"ब्रह्मत्व" अथवा "ब्रह्म" ये समस्त विषय ऋगादि वेद चतुष्टय में पृथक् पृथक् भाव से वेदव्यास के द्वारा सन्निवेशित हुआ है । अनन्तर आपने उक्त चातुर्होत्र कर्म का देश काल पात्र निर्वाचन में विशेष विशेष व्यवस्थादि करने के निमित्त एवं अन्यान्य अवश्य ज्ञातव्य विषयों का विस्तार साधारण जनगण में करने के निमित्त यजुर्वेद के अवशिष्ट—इतिहास पुराणात्मक एककोटि अंश का सार अंश ग्रहणपूर्वक पाँचलक्ष श्लोक में संक्षेप कर इतिहास पुराण का आविर्भाव मर्त्त्यलोक में किया । तन्मध्य में इतिहास-महाभारत को एक लक्ष, एवं पुराणसमूह के चार लक्ष श्लोक है । एतज्जन्य ही (वेदात्मक होने से ही) इनके नाम भी पञ्चम वेद हुआ है ।

आख्यान—पञ्चलक्षात्मक पुराण । उपाख्यान—पुनरावृत्त । गाथा—छन्दोविशेष । यह सब विषय अवलम्बन से श्रीवेदव्यास पुराण व महाभारत का प्रकाश किए थे । श्रीविष्णु पुराण के निम्न लिखित व्याख्या में श्रीधरस्वामि पादने कहा है—

"आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः । पुराणसंहिताश्चक्रे पुराणार्थविशारदः ।
प्रख्यातो व्यासशिष्योऽभूत् सूतो वै लोमहर्षणः । पुराणसंहितां तस्मै ददौ व्यास महामुनिः ।।"

(वि० पु० ३ अंश, ६ अः १६-१७)

तथैव दर्शितं वेद-सहभावेन शिवपुराणस्य वायवीय-संहितायाम्;—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

"अम्बरीष! शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु।"—

इत्यनेनांशविशेषस्यैव भागवतत्वेन निर्द्देश, तद्युक्तत्वेनाष्टादशसाहस्रात्मकं भागवतमिति गीयत इति। एवञ्च भागवत-शब्दोऽपौरुषेय-पुराणभागविशेषपरः, "जन्माद्यस्य" इत्यादि "विष्णुरातममूमुचत्" इत्यन्त-ग्रन्थपरश्च; यथा वेदशब्दोऽपौरुषेयत्वेन ऋग्वेदादिपुराणान्तपरश्चतुर्व्वेदपरश्चेति। एवं भारत-ब्राह्म-पाद्मादिपदं, पुराणेतिहास-पदञ्च बोध्यम्॥१४॥

अनुवाद—

"स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः। श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते॥

गाथास्तु पितृ पृथिव्यादिगीतयः। कल्पशुद्धिः—बाराहादिकनिर्णयः।" (इति तट्टीका)

आख्यान—निज दृष्ट विषय का वर्णन। उपाख्यान—श्रुतार्थ का वर्णन। गाथा—पितृलोक एवं पृथिवी प्रभृति की गीतिका। कल्पशुद्धि—वाराह पाद्मादि कल्प का निर्णय।

पुराण के पञ्च लक्षण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित। त्रिगुण के वैषम्य से कर्त्ता परमेश्वर से विराट रूपसें एवं स्वरूपतः आकाशादि पञ्चमहाभूत, शब्दानि पञ्च तन्मात्र, एकादश इन्द्रिय, महत्तत्त्व एवं अहङ्कार तत्त्व, इन सब की सृष्टि—सर्ग। ब्रह्मा के द्वारा स्थावर जङ्गम की सृष्टि—विसर्ग। ब्रह्मा द्वारा सृष्ट राजन्यवर्ग की वंशावली—वंश। मनु एवं मनुपुत्रगण के सच्चरित्र कीर्त्तन के द्वारा सदुपदेश—मन्वन्तर। पूर्वोक्त राजन्यवर्ग के एवं उनके वंशधरगण के चरित्र कीर्त्तन—वंशानुचरित है। यह पञ्च लक्षण साधारण पुराण के सम्बन्ध में है, महापुराण के दश लक्षण हैं।

"यच्छिष्टन्तु यजुर्वेदे" इससे जानना होगा कि अध्वर्य्यु लक्षण यजुर्वेद से कतिपय वेदांश ग्रहण श्रीव्यासदेव द्वारा वेद—यजुः प्रभृति नाम भेद से विभक्त होने पद अवशिष्ट अंश का नाम भी यजुर्वेद ही था, कारण यजुर्वेद ही बृहदाकार है, उस अंश के सहित अपरापर वेदांश के मिलन से उक्त चतुर्वेद का विकाश हुआ, नाम करण में "आधिक्येन व्यपदेशाः भवन्ति" नियम का अनुसरण हुआ है।

श्रीव्यासदेव के द्वारा वेद विभाग होने के पूर्व में भी ऋक्, यजुः, साम, अथर्व नाम का था, अधिकारी निर्णय एवं कर्म निर्णय द्वारा ही श्रीव्यासदेव में वेद विभाग कारित्व व्यपदिष्ट हुआ है। टीकाकृत् गोस्वामी के मत में आख्यानादि शब्दार्थ इस प्रकार है—आख्यान—शब्दोत्तरमय वाक्य बन्धन। जैसे-सुत शौनक संवाद। उपाख्यान—प्रथम में वक्तव्य ग्रन्थ का अभिधेय प्रकाशक। यथा-श्रीशुक परीक्षित संवाद। गाथा—पुरावृत्त एवं इतिहास सम्वादात्मक। उल्लिखित आख्यानादि के द्वारा सुसज्जित कर श्रीवेदव्यास पुराणादि का प्रादुर्भाव किए थे। इतिहास पुराणादि में श्रीवेदव्यास प्रायशः श्रीभगवन्मुख निःसृत श्लोक ही लिखे थे। विषय सङ्गति हेतु स्वयं रचित श्लोकों का भी सन्निवेश किए थे।

पुराणों के कतिपय अंश व्यास कृत होने से पुराण पौरुषेय होगा, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा। पुरुष शब्द से यदि जीवरूप अर्थ गृहीत होता है, तो वह पौरुषेय होगा अर्थात् अनादरणीय होगा। सुतरां उक्त पुरुष भिन्न ईश्वरकृत होने से ही व 'अपौरुषेय' हैं। श्रीकृष्णद्वैपायन जीव नहीं है, ईश्वरावतार हैं। यथा—

"अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्। उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार हरिः स्वयम्॥

वह ईश्वर ही द्वापर युग में पराशर को निमित्त करके सत्यवती से आविर्भूत हुए थे एवं कालक्रम से विलुप्त वेद का अध्ययन अध्यापन का प्रचलन किए थे।

वस्तुतः वेदादि शास्त्र यथायथ नित्य पदार्थ, महाप्रलय में समस्त पदार्थ ईश्वर में लीन होने से शास्त्राध्ययनकारी व्यक्ति नहीं रहता है। सृष्टि के प्रथम में सृष्टि के सहित ही उसका आविर्भाव होता है, श्रीवेदव्यास उक्त क्रम से ही यथायथ शास्त्रसमूह को आविर्भावित कराते हैं॥१४॥

"संक्षिप्य चतुरो वेदांश्चतुर्द्धा व्यभजत् प्रभुः। व्यस्तवेदतया ख्यातो वेदव्यास इति स्मृतः।
पुराणमपि संक्षिप्तं चतुर्लक्षप्रमाणतः। अद्याप्यमर्त्त्य-लोके तु शतकोटि-प्रविस्तरम्॥"
[१, २३-२४] इति।

संक्षिप्तमित्यत्र तेनेति शेषः। स्कान्दमाग्नेयमित्यादिसमाख्यास्तु प्रवचन-निबन्धना काठकादिवत्;आनुपूर्व्वी-निर्म्माण-निबन्धना वा। तस्मात् क्वचिदनित्यत्व-श्रवणं त्वाविर्भाव-

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

व्यस्तेति ;—व्यस्ता—विभक्ता वेदा येन; तत्तया वेदव्यासः स्मृतः। स्कान्दमित्यादि,—स्कन्देन प्रोक्तं ; न तु कृतमिति वक्तृहेतुका स्कान्दादिसंज्ञा, 'कठेनाधीतं काठकम्' इत्यादिसंज्ञावत्। कठानां वेदः काठकः, "गोत्रचरणाद्वुञ्"—"चरणाद्धर्म्मम्नाययोरिति वक्तव्यम्"—इति सूत्र-वार्त्तिकाभ्याम्। ततश्च

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तेनेति शेष इति, तेन—व्यासेन। समाख्याः—संज्ञाविशेषाः। प्रवचन-निबन्धनाः—सर्गादौ प्रथमाध्यापक-नाम-निबन्धनाः। आनुपूर्व्वीति—उपक्रमोपसंहार-पर्य्यन्तानुपूर्व्वी-विशेष-निर्म्माणेन निबन्धनाः—निबन्धाः, स्वतन्त्रेच्छेन भगवतैव कृता इति यावत्। एवञ्चेतिहासमध्ये पुराणलक्षण-सर्ग-प्रतिसर्गादि-वर्णन-सत्त्वेऽपि, पुराणमध्ये पौराणिकसम्वादादि-सत्त्वेऽपि, तयोर्नाम-भेदः स्वेच्छामयभगवत्कृतत्वादुपपन्न इति। यद्यपि चतुर्लक्ष-समुदित-वाक्यस्यापौरुषेयत्वं यथाश्रुतैतद्ग्रन्थतो लभ्यते, तथापि नारदोपदेश-तदधीन वेदव्यास-ग्रन्थकरण-प्रस्तावादेः परमेश्वर-निःश्वसितत्वं न घटते, व्यासप्रणयनपूर्व्वं प्रतीत-पुराणादेः प्रच्छन्नत्वेनादर्शनात् नारदोपदेशानन्तरं व्यासेन पुनः प्रणयनादित्यादि-विवेचनेन प्रचरद्रूप-पुराणादिकं व्यासेन सज्जीकृतम्, तत्राभिधेयार्थ-संग्रहोऽपौरुषेयेण वाक्य-जातेन कृतः; तत्सङ्गत्यर्थं प्रसङ्गतश्च वाक्यान्तराण्युक्तानीति तथा व्याख्यातम्। अनित्यत्व-श्रवणं—व्यासकृतत्व-श्रवणनिबन्धनम्। वेदत्वं सिद्धमिति—अपौरुषेयत्वरूपवेदत्वं सिद्धमित्यर्थः। 'व्यासरूपमहं कृत्वा' इत्यनेन व्यासस्य भगवदवतारत्वकथनाद्व्यासकृत-वेदपुराणादि-संग्रहस्य स्वतः प्रमाणत्वमपि बोध्यम्। तथापि—पुराणादौ वेदत्वेऽपि, 'सूतादीनाम्' इति—सूतादेर्विशेषग्रहणान्न शूद्र-सामान्यस्याधिकारः।

"अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना। श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन॥"—
इति पुराणमधिकृत्य भविष्यपुराणवचनात् सूतस्य च ब्राह्मणानुग्रहादधिकारः। तथाहि प्रायश्चित्तविवेक-धृत-पद्मपुराणे सूतवाक्यम्;—

अनुवाद—

वेदव्यास नाम का कारण। वेद के सहित पुराणों की संक्षेप करने का विवरण,—शिव पुराण की वायवीय संहिता में लिखित है—"प्रभु श्रीकृष्णद्वैपायन चतुष्टयात्मक एक वेद को संक्षेपरूप से चतुर्धा विभक्त किये थे। इस प्रकार वेद विभागरूप कार्य करने से आप "वेदव्यास" नाम से विख्यात हुये। पुराण समूह का भी चारलक्ष श्लोक में संक्षेप कर प्रकाश किये थे, जिसका विस्तृत भाग देव लोक में शतकोटि संख्यक रूप से वर्त्तमान है।"

उक्त वचनस्थ "संक्षिप्य" इस क्रिया का कर्त्ता 'तेन' पद से करना होगा, अर्थात् आपने केवल पुराणों का प्रकाश संक्षेप से किया था। अष्टादश पुराण के "स्कन्द" "आग्नेय" प्रभृति नाम, सृष्टि के आदि में सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर द्वारा प्रदत्त है, यह भी प्रथम अध्यापक के नाम से हुआ है। जैसे कठके द्वारा अध्ययन, कथन, होने से कठोपनिषद् नाम हुआ, किन्तु ब्राह्म स्कन्दादिके द्वारा उक्त पुराणसमूह रचित नहीं है। पुराणादि नित्य है, श्रीवेदव्यास रचित रूपसे ख्यात होने से भी वह अनित्व नहीं है, वह कथन, आविर्भाव तिरोभाव को लक्षण करके हुआ है। प्रभास खण्ड में उक्त है,—हे भृगुवर! यह श्रीकृष्ण नाम, मधु से भी सुमधुर, समस्त मङ्गलों का मङ्गलस्वरूप एवं निखिल वेदलतिका का परमोत्कृष्ट चिन्मय फल है।

तिरोभावापेक्षया। तदेवमितिहास-पुराणयोर्वेदत्वं सिद्धम्। तथापि सूतादीनामधिकारः सकल-निगमवल्ली-सत्फल-श्रीकृष्णनामवत्। यथोक्तं प्रभासखण्डे;—

"मधुर-मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकलनिगमवल्ली-सत्फलं चित्-स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर! नरमात्रं तारयेत् कृष्ण-नाम॥" **इति।**

यथा चोक्तं विष्णुधर्म्मे;—

"ऋग्वेदोऽथ यजुर्व्वेदः सामवेदोऽप्यथर्व्वणः। अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥" **इति।**

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

'कठेनाधीतम्' इति सुष्ठूक्तम्। अन्यथा जन्यत्वेनानित्यतापत्तिः। आनुपूर्व्वी—क्रमः, 'ब्राह्मचं' इत्यादि-क्रमनिर्म्माणहेतुका वा सा सा संज्ञेत्यर्थः। ब्राह्मचादिक्रमेण पुराणभागो बोध्यः। तथापि सूतादीनामिति;—इतिहासादेर्व्वेदत्वेऽपि तत्र शूद्राद्यधिकारः—'स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनाम्' इत्यादिवाक्य-बलाद्बोध्यः। यथा

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

"न हि वेदेष्वधिकारः कश्चिच्छूद्रस्य जायते। पुराणेष्वधिकारो मे दर्शितो ब्राह्मणैरिह॥" इति।
'वेदेषु' इत्यत्र वेदपदम्—ऋगादि-चतुर्व्वेदपरम्;—

"स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।" इति प्रथमात्।

तत्र त्रयीति—चतुर्व्वेदोपलक्षणम्। यथा शुक्राचार्य्याज्ञया तत्कन्याया देवयान्या विवाहः क्षत्रियेणापि ययातिना कृतो न दोषाय जातः, तत् सन्तान-यदुप्रभृतीनामुत्तमत्वञ्च,—

"समयश्चापि साधूनां प्रमाणं वेदवद्भवेत्।"—

इत्यादिवचनात्। समयः—'प्रतिज्ञा' अतएव ब्राह्मण-वचनेन परशुरामभयाद्ब्राह्मण-सभायां गूढ़स्थितस्य कस्यचित् क्षत्रियस्य ब्राह्मणत्वं जातम्—इत्युक्तं महाभारते।

"तत्र कीर्त्तयतो विप्रा विप्रर्षेर्भूरितेजसा। अहञ्चाध्यगमं तत्र निविष्टस्तदनुग्रहात्॥"—

इति प्रथमात् चतुर्व्वेद-पाठस्तु सूतादीनामप्यनधिकृतस्तत्र द्विजानामेवाधिकारात्। अतएव प्रथमे सूतं प्रति शौनक-वाक्यम्,— "मन्ये त्वां विषये वाचां स्नातमन्यत्र छान्दसात्।" इति।
छान्दसात्—वेदात्। तत्र हेतुवचनमुक्तं स्वामिचरणैः—"अत्रैवर्णिकत्वात्" इति। तथाहि प्रथमे—

"अहो वयं जन्मभृतोऽद्य हास्म वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं महत्तमानामभिधानयोगः॥

अनुवाद—

श्रद्धासे हो अथवा अश्रद्धा से हो, जो जन एकवार मात्र श्रीकृष्णनाम का कीर्त्तन करता है, श्रीनाम उसको प्रेम दान कर कृतार्थ करते हैं। विष्णु धर्म में भी कथित है—"जिसने 'हरि' यह अक्षरद्वय का उच्चारण किया है, उसका ऋक्, यजुः, साम, अथर्ववेद अध्ययन सम्पन्न होता है। अर्थात् समस्त वेदाध्ययन का फल लाभ एकवार श्रीहरि नाम उच्चारण से ही होता है।

इतिहास पुराण में यावतीय वेदार्थ निहित है। सुतरां इसके अध्ययन से ही वेदार्थ का ज्ञान लाभ होता है। पृथक् रूपसे वेदाध्ययन की कोई अपेक्षा नहीं है। इस अभिप्राय से ही विष्णु पुराण में पुराण को वेदार्थ निर्णायक कहा गया है। महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन—महाभारत प्रकाश के छल से समस्त वेदार्थ का प्रदर्शन किए हैं, एवं पुराण में निखिल वेद प्रतिष्ठित हैं, इसमें कोई संशय नहीं है, अर्थात् वेदस्थ दुर्बोध्य भाग की व्याख्या एवं उसके उच्छिन्न भाग का अर्थ पूरण होने से वेद पुराण में निश्चल भावसे है। और भी देखने में आता है,—वेदार्थ प्रकाशक मन्वादि शास्त्र के मध्यपाती होने से इतिहास पुराण को स्मृति शास्त्र रूप से प्राप्त होने पर भी प्रकाशक—श्रीवेदव्यास की विशिष्टता निबन्धन इतिहास पुराण का उत्कर्ष प्रतिपन्न हुआ।

अथ वेदार्थ-निर्णायकत्वञ्च वैष्णवे ;—

"भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रदर्शितः। वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्व्वे पुराणे नात्र संशयः॥" इत्यादौ।

किञ्च ; वेदार्थ-दीपकानां शास्त्राणां मध्यपातिताभ्युपगमेऽप्याविर्भावक-वैशिष्ट्यात्तयोरेव वैशिष्ट्यम्। यथा पाद्मे ;—

"द्वैपायनेन यद्‌बुद्धं ब्रह्माद्यैस्तन्न बुध्यते। सर्व्व-बुद्धं स वै वेद तद्‌बुद्धं नान्य-गोचरः" ॥१५॥

श्रीमद्‌बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

रथकारस्याग्नचाधानाङ्गे मन्त्रे तद्वाक्यबलादिति बोध्यम्। भारतव्यपदेशेनेति; दुरूहभागस्य व्याख्यानात्, छिन्नभागार्थ-पूरणाच्च-पुराणे वेदाः प्रतिष्ठिताः—नैश्चल्येन स्थिता इत्यर्थः। किञ्चेति;—वेदार्थदीपकानां मानवीयादीनां मध्ये यद्यपीतिहासपुराणयोः स्मृतित्वेनाभ्युपगमस्तथापि व्यासस्येश्वरस्य तदाविर्भावकत्वात्तदुत्कर्ष इत्यर्थः। तत्र प्रमाणम्—द्वैपायनेनेत्यादि॥१५॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

कुतः पुनर्मे गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्‌गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः॥" (भा० १,१८,१८-१९) इति।

टीका च—"भागवत-व्याख्यानेन लब्ध-प्रसङ्गमात्मानं महत्तमादरपातं श्लाघते द्वाभ्याम्। 'अहो' इति—आश्चर्य्ये, 'ह' इति—हर्षे। 'वयम्' इति बहुवचनं श्लाघायाम्। प्रतिलोमजाता अपि अद्य जन्मभृतः सफल-जन्मानः, आस्म जाताः, वृद्धानां शौनकादीनां अनुवृत्त्या आदरेण, ज्ञानवृद्धः शुकस्तस्य सेवयेति वा। यच्च दुष्कुलत्वं तन्निमित्तमाधिञ्च मनःपीड़ाम्, महत्तमानामभिधानयोगः लौकिकोऽपि सम्भाषण-लक्षण-सम्बन्धः, विधुनोति अपनयति। कुतः पुनः किं वक्तव्यं तस्यानन्तस्य नाम गृणतः पुंसो महत्तमानामभिधानयोगो दौष्कुल्यमाधिं विधुनोतीति। यद्वा; नाम गृणतः कुतः पुनर्दौष्कुल्यम्। यद्वा; गृणतः पुंसस्तस्य नाम दौष्कुल्यं विधुनोतीति किं वक्तव्यमेव। अनन्ताः शक्तयो यस्यातोऽनन्तः। किञ्च; महत्सु गुणा यस्य महद्‌गुणस्तस्य भावस्तत्त्वं—तस्मात्, गुणतोऽप्यनन्तमाहुः" इति

अनुवाद—

पद्मपुराण में श्रीवेदव्यास का उक्त रूप वैशिष्ट्य कीर्त्तित है, श्रीकृष्णद्वैपायन जो कुछ अवगत हुए थे, ब्रह्मादि देवगण उसको जानने में असमर्थ रहे। समस्त पण्डित के विदित वस्तु को आप जानते थे, किन्तु उनका कथित विषय को अवगत होना अपर के लिए असम्भव है॥१५॥

सारार्थः—आनुपूर्वी निर्माण निबन्धना वा। इसका अपर तात्पर्य यह है कि—श्रीभगवान् **स्वतन्त्र है। किसी शब्दार्थ का आदर न करके केवल पुराणों का क्रमिक नाम प्रचार के निमित्त स्कान्द प्रभृति नाम से आपने पुराणों को कहा है। सर्ग-विसर्गादि लक्षण पुराण इतिहास में होने पर भी पृथक् नामकरण स्वेच्छामय भगवान् की इच्छा के उपर निर्भर है।**

पुराणादि का आविर्भाव तिरोभाव—सृष्टि के अनन्तर व्यासादि महर्षि द्वारा पुराणादि का पृथिवी में प्रचार ही आविर्भाव है। समय समय ग्राहकाभाव से पृथिवी से पुराणादि अदृश्य होते हैं, यह तिरोभाव है। वास्तविक पक्षमें पुराणादि वेदवत् नित्य है।

पुराण पाठ श्रवण का अधिकारी निर्णय। "तथापि भूतादीनामप्यधिकारः"—यहाँ पर सूत शब्द के साथ आदि शब्द का प्रयोग होने से भगवद्‌भक्तियोगलक्षण गुणवान् शूद्रजातिगत व्यक्ति का भी पुराणादि पाठ में अधिकार सूचित होता है। कारण "न शूद्रा भगवद्‌भक्ताः" इत्यादि वाक्य द्वारा भक्तिमान् शूद्र को ब्राह्मणतुल्य कहा गया है।

यहाँ श्रीभगवान् में प्रेमभक्ति सम्पन्न भक्त को ही उक्त लक्षण से ग्रहण करना होगा, जो प्रेम सूर्य्य के

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

विलोमजातत्वं "ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सूतः" इत्युक्तलक्षणम्। अतएव भगवन्नामकथनादिनाऽप्यधिकारो ज्ञापितः। एवञ्च—'सूतादीनां' इति 'आदि' पदेन भगवद्भक्तियोगादि-लक्षणगुणवतामन्येषां परिग्रहः। तथाहि भारते नहुषं प्रति युधिष्ठिर-वाक्यम्,—

"सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा। दृश्यते यत्र नागेन्द्र! स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

* * * * यत्रैतन्न भवेत् सर्प! तं शूद्रमिति निर्दिशेत्।" इति।

क्षत्रियादिरपि ब्राह्मणः—तत्तुल्यः, सत्व-स्वभावत्वात्। शूद्रः—शूद्रतुल्यः, तमः-स्वभावत्वात्। तथा प्रायश्चित्तविवेक-धृतापस्तम्बवचनम्,—

"तेषां तेजः-प्रभावेण प्रत्यवायो न विद्यते। तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरजोऽबलः॥" इति।

तेषां—पूर्व्वेषाम्। अवरजः—अर्व्वाचीनः। एवमत्र वक्ष्यमाणानि "न शूद्रा भगवद्भक्ताः" इत्यादि-बहुवचनानि तथाधिकारे द्रष्टव्यानीति।

यत्तु—"विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्। वैश्यो निधिपतित्वञ्च शूद्रः शुद्धयति पातकात्॥" इति द्वादशस्कन्ध-वचनात् शूद्र-मात्रस्याधिकार इति वदन्ति; तन्न,—"श्रोतव्यमिह शूद्रेण" इत्यादि-वचन-विरोधात्, "सुगतिमाप्नुयात् श्रवणाच्च शूद्रयोनिः" इति हरिवंशीयाच्च। उदधिमेखलां—पृथ्वीं, सन्धिरार्षं इति। 'शूद्रोऽधीत्य' इत्यस्य चान्तर्भूतण्यन्तक्रियया 'पाठयित्वा' इत्यर्थः, 'पञ्चभिर्हलैः कर्षति गृही' इत्यादिवत्। भक्तिरत्र प्रेमलक्षणा। सामान्यभक्तिमभिप्रेत्यत्वाह—माध्वभाष्यधृत-व्योमसंहितावचनम्,—

"अन्त्यजा अपि ये भक्ता नाम-ज्ञानाधिकारिणः। स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां तन्त्रज्ञानेऽधिकारिता।
एकदेशोपरक्ते तु न तु ग्रन्थपुरःसरे। त्रैवर्णिकानां वेदोक्तं सम्यग्भक्तिमतां हरौ॥
आहुरप्युत्तमन्त्रीणामधिकारन्तु वैदिके॥" इति।

तन्त्रपदं—वेदातिरिक्त-शास्त्रपरम्। एकदेशोपरक्ते—मन्त्रपूजादौ। "वेदमन्त्रवर्ज्जं शूद्रस्य" इति

अनुवाद—

उज्ज्वलतम अंशुजाल से समुद्भासित है, उनका ही यावतीय दुरदृष्ट तिमिर नष्ट हो जाते हैं। सूतने स्वयं ही कहा था— "अहो वयं जन्मभृतोऽद्यहास्म वृद्धानुवृत्त्यापि विलोमजाताः।
दौष्कुल्यमाधिं विधुनोति शीघ्रं महत्तमानामभिधानयोगः॥
कुतः पुनर्गृणतो नाम तस्य महत्तमैकान्तपरायणस्य।
योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः॥" (भा० १, १८, १८)

अहो महत् सेवा की कैसी अपार महिमा है, हम प्रतिलोम जात शूद्र होकर भी ज्ञानवृद्ध श्रीशुकदेव की से एवं आप सब की अनुकम्पा से सफल जन्मा हो गये हैं। जब महत्तमगण के सम्भाषणरूप सम्बन्ध, लौकिक होकर भी दुर्जाति निबन्धन पाप को एवं तज्जन्य मनःपीड़ा की अशान्ति को विनष्ट करता है, तब अनन्तशक्ति श्रीभगवान्—उनके नाम ग्रहण कारी के दुर्जाति निबन्धन पापको नष्ट करते हैं, यह आश्चर्यकर नहीं है। महाभारत में उक्त है—

"सत्यं दानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपो घृणा। दृश्यते यत्र नागेन्द्र! स ब्राह्मण इति स्मृतः"

सत्य—यथार्थ परहितजनक वाक्य, दान, क्षमा, आनृशंस्य—अनिष्ठुरता, तपः—स्वधर्माचरण, एवं घृणा—कृपा, यह सब जिसमें है, उसको ब्राह्मण कहना चाहिये। कारण ब्राह्मण के सत्य स्वभाव उसमें विद्यमान है। यह सब गुण जिसमें नहीं है, वह ब्राह्मण होने से भी शूद्रतुल्य है। कारण शूद्र का तमः स्वभाव उसमें दृष्ट होता है। "शूद्रोऽपि शमदमाद्युपेतो ब्राह्मण एव, ब्राह्मणोऽपि कामाद्युपेतः शूद्र एवेत्यर्थः" ब्राह्मण के गुण—शमदमादि, ये गुण किसी शूद्र में दृष्ट होने से ब्राह्मणवत् सम्मान्य वह होता है। शूद्र के गुण—काम मोहादि, किसी ब्राह्मण में ये गुण होने से उसे शूद्रवत् धर्म कर्म में अयोग्य जानना चाहिये।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

छन्दोगाह्निक-धृतस्मृतौ वेदेति विशेषणात् "स्मार्त्तं शूद्रः समाचरेत्" इति मलमासतत्त्वधृत-पिपानकारिका-श्रवणात्। "चतुर्णामपि वर्णानां यानि प्रोक्तानि श्रेयसे। धर्म्मशास्त्राणि राजेन्द्र! शृणु तानि नृपोत्तम! विशेषतस्तु शूद्राणां पावनानि मनीषिभिः। अष्टादश पुराणानि चरितं राघवस्य च॥ रामस्य कुरुशार्द्दूल! धर्म्मकामार्थ सिद्धये।"—

इत्यत्र मोक्षानुक्तिः—प्राग्वचने 'श्रेयसे' इत्यनेन मोक्षस्य प्रधानतया स्वातन्त्रेण कथनात्। एवञ्च स्त्री-शूद्रादीनां तन्त्रोक्तमन्त्र-पूजादिना लब्ध-भगवद्भावाः संसारं तरन्तीति सूचनाय शूद्राणां पुराणाधिकारे दृष्टान्तमाह—कृष्णनामवदिति; कृष्णनाम्नो वेदोपरिभागत्वेऽपि तत्कीर्त्तनादौ प्रमाण-वशान्नरमात्राधिकारः, तत्कीर्त्तनादिना नरमात्रस्य संसारतरणं; तथा पुराणादौ प्रमाणवशात् सूतादेरध्ययनाधिकारः। शूद्रस्य पुराणाद्युक्तमन्त्रपाठ-तदुक्तभजनादिना संसारतरणञ्च भवतीति शूद्रस्य शूद्रसदृशाचारानुलोमजातेश्च—"स्त्री-शूद्र-ब्रह्मबन्धूनां" इत्यत्र शूद्रपदेन ग्रहणं; तदन्यस्य नाममात्राधिकार-कथनादिति। मधुरेति,—मधुरं—सुखानुभावकं मधुरेभ्यो मधुरं—निरतिशय-मधुरमित्यर्थः। नाम्नि कृष्णस्याविर्भावात् स्वरूपतोऽर्थतश्च नाम्नी कीर्त्तिते सुखोदयादिति विषय-सौन्दर्य्यमुक्तम्। मङ्गलं—धर्म्मार्थदं, मङ्गलानामिति—श्रेष्ठमिति शेषः। यद्वा; मङ्गलानामपि मङ्गलमित्यर्थः। एतद्विशेषणद्वयेन त्रिवर्ग-साधनत्वमुक्तं सकल-निगमवल्लीपर्य्यालोचनेन तस्याः सारतया समुद्धृतम्। चित्-स्वरूपं—नाम-नामिनोरभेदोपचारात्। हेलया—अश्रद्धया, तारयेदिति—प्रेमलक्षण-भक्तिद्वारेति शेषः। "भक्त्या सञ्जातया भक्त्या।" अधीताः

अनुवाद—

सत्य शम तप दान तितिक्षा प्रभृति गुणसमूह की जब उस प्रकार क्षमता है, तब सर्व सद्गुणशिरोमणि श्रीप्रेमभक्ति देवी की सुविमल किरण-माला से जिसका हृदय समुद्भासित हुआ है, उनका दुर्जातित्व सम्पादक पाप का नाश मूलतः ही हो जायेगा।

स्त्री शूद्र के मध्यमें जो लोक श्रद्धा के सहित मन्त्र पूजादि के अनुष्ठान से भगवद्भाव को प्राप्त किया है, वह ही संसार मुक्त हैं, इसको सूचित करने के निमित्त ग्रन्थकारने सूत का पुराण अधिकार प्रसङ्ग में दृष्टान्त उपस्थित किया "श्रीकृष्णनामवत्" अर्थात् श्रीकृष्णनाम निखिल वेद के उपरिचर होने पर भी उसका कीर्त्तन में मनुष्य मात्र का अधिकार है, उससे सब ही व्यक्ति संसार दुःख से मुक्त होते हैं। उस प्रकार पुराण पञ्चम वेद होने पर भी अनुकूल शास्त्रीय प्रमाण वशतः सूतादिका पुराण अध्ययन में अधिकार है। साधारण शूद्र भी पुराणादि में कथित भजनादि का अनुष्ठान से संसार मुक्त होगा।

श्रीकृष्णनाम का मुख्य फल श्रीकृष्ण प्रीति है,—वेद, इतिहास, पुराण श्रवण से शास्त्रगत यथार्थ अनुभव होने से ही साधन का अपरोक्ष ज्ञानलाभ होता है, उक्त ज्ञान का मुख्य फल—संसार से मुक्त होना है। उस प्रकार,—श्रीकृष्णनाम कीर्त्तनादि के द्वारा भक्तगणों का मुख्य रूप से कृष्णप्रेम लाभ ही होता है। आनुषङ्गिक संसार नाश भी होता है। अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान का फल ही संसार नाश है। वह तो भक्ति का नामाभास से ही होता है।

पुराण वेदार्थनिर्णायक होने से पुराणाध्ययन से वेदार्थ लाभ होता है, सुतरां पृथक्रूप से वेदाध्ययन की अपेक्षा नहीं रहती है, इस कथन से संशय होता है कि—"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येयः" एवं "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यादि श्रुति का अनुशीलन से ही ब्रह्म ज्ञान होता है, इतिहास पुराण विचार से ब्रह्मज्ञान की सम्भावना कहाँ? इसका उत्तर—"श्रुति वाक्येभ्यः" श्रुति में बहु वचनान्त पदका प्रयोग होने से उससे पुराण इतिहासका भी ग्रहण हुआ है एवं "वेदानध्यापयामास महाभारत पञ्चमान्" इस प्रमाण से श्रुतिनिर्दिष्ट "स्वाध्याय" शब्द से इतिहास पुराण भी गृहीत हुआ है। सुतरां पञ्चमवेदात्मक इतिहास पुराण के अनुशीलन से वेदाध्ययन एवं वेदजन्यज्ञान का अभाव नहीं होता है ॥१५॥

स्कान्दे ;—

"व्यास-चित्तस्थिताकाशादवच्छिन्नानि कानिचित्। अन्ये व्यवहरन्त्येतान्युरीकृत्य गृहादिव ॥" इति।

तथैव दृष्टं श्रीविष्णुपुराणे पराशर-वाक्यम् ;—

"ततोऽत्र मत्सुतो व्यास अष्टाविंशतिमेऽन्तरे। वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्द्धा व्यभजत् प्रभुः ॥
यथाऽत्र तेन वै व्यस्ता वेदव्यासेन धीमता। वेदास्तथा समस्तैस्तैर्व्यासैरन्यैस्तथा मया ॥
तदनेनैव व्यासानां शाखाभेदान् द्विजोत्तम! चतुर्युगेषु रचितान् समस्तेष्ववधारय ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्। कोऽन्यो हि भुवि मैत्रेय! महाभारतकृद्भवेत् ॥"

[विः पुः ३अं, ४, २,] इति।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

व्यासेति;—बादरायणस्य ज्ञानं महाकाशम्, अन्येषां ज्ञानानि तु तदंशभूतानि खण्डाकाशानीति तस्येश्वरत्वात् सार्व्वज्ञमुक्तम्। 'ततोऽत्र मत्सुतः' इत्यादो च व्यासान्तरेभ्यः पाराशर्य्यस्येश्वरत्वान्महोत्कर्षः। 'नारायणात्'—इत्यादौ चेश्वरत्वं प्रस्फुटमुक्तम्। गौतमस्य शापात् इति;—'वरोत्पन्ननित्यधान्यराशि-

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अध्ययन-फलं प्राप्ता इति। तथा च वेदेतिहास-पुराणश्रवणावगत-तदर्थ-याथार्थ्य-मननादिद्वारालब्धा-परोक्षज्ञानः संसारान्मुक्तो भवति, तथा कृष्ण-नामकीर्त्तनाद्यवगतप्रेमा संसारान्मुक्तो भवतीति भावः। पुराणेतिहासयोरर्थग्रन्थत्वे वेदार्थज्ञानाद्वेदाध्ययनापेक्षा नास्तीत्यभिप्रायेणाह,-अथ वेदार्थ-निर्णायकत्वश्चेति।

न च—"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येयः"—

इति श्रवणात्, "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यादिश्रुतेश्च; कथं पुराणेतिहासश्रवणादेव ब्रह्मवेदनमिति वाच्यम्? "श्रुतिवाक्येभ्यः" इति बहुवचनात् पुराणाद्युपग्रहः। अतएवोक्तम्—

"वेदानध्यापयामास महाभारत-पञ्चमान्।" इति।

स्वाध्यायपदेनापि वेद-पुराणाद्युपग्रहः। प्रतिष्ठिताः—निर्णीतार्थाः, वेदार्थ-दीपकानां—वेदार्थ-प्रकाशकानां—वेदव्याख्यायक-भाष्यादीनाम्। सर्व्वबुद्धं—सर्व्वव्यस्तैर्मिलितैश्च पण्डितैर्बुद्धं। तद्बुद्धमिति—समुदित-गित्यर्थः। नन्वनेन वेद-व्याख्यातृमध्ये व्यासस्योत्तमत्वमुक्तं तथा च कथं वेदस्यापौरुषेयत्वमिति, चेन्न, वेदार्थानुवाद-पुराणानां बाहुल्यात् तद्विवेकेन यथा सारार्थ-वचन-संग्राहकत्वं व्यासस्य; अन्येषां न तथा योग्यता। एवमपौरुषेय-पुराणमेव विकृतमाकलय्य कानिचिद्वचनानि वेद-पुराणादि-तात्पर्य्यार्थ-प्रकाशाय स्वयं कृतानि, अत्र पुराणादौ वचनतात्पर्य्यात् ॥१५॥

व्यास-चित्तस्थिताकाशात्—व्यास-हृदयाकाशात्, हृदयाकाशस्य वाक्यहेतुत्वात् अवच्छिन्नानि—उत्पन्नानि यानि वाक्यानीत्यर्थः। अन्ये—मुनयः, व्यवहरन्ति—आ-पृथिवीगततलोका अध्ययनाध्यापनादि-

अनुवाद—

श्रीकृष्णद्वैपायन की श्रेष्ठता। स्कन्द पुराण में कथित है—"जगत् के मनुष्यगण निज निज गृह से द्रव्यादि लेकर जिस प्रकार परस्पर व्यवहार करते हैं, उस प्रकार वेदव्यास के हृदयाकाश से उत्पन्न वाङ्मय शास्त्र को ग्रहण कर मुनिगण, एवं अन्यान्य मनुष्यगण अध्ययन अध्यापनादि व्यवहार निष्पन्न करते रहते हैं। विष्णु पुराण के पराशर वचन भी इस प्रकार है,—"मानवगण दुर्म्मेध होने से वेदाध्ययन में असमर्थ हो गये थे, यह देखकर मेरा पुत्र व्यासने वैवश्वतमन्वरीय द्वापर युग में चतुष्पाद एक वेद को चार भाग में विभक्त किया, उस बुद्धिमान् व्यासने जिस प्रकार कार्य किया, अन्यान्य व्यास एवं मैं भी उस प्रकार कार्य करता हूँ। हे द्विजोत्तम! यह निश्चय जाने, मानवगण को मेधाहीन देखकर सब चतुर्युग में ही अपरापर व्यासगण वेद की नानाविध शाखा की रचना करते हैं। हे मैत्रेय! कृष्णद्वैपायन व्यास को प्रभु नारायण के अंश जानना। पृथिवीमें तद्व्यतीत ऐसा कौन है, जो महाभारत प्रकाश करने में समर्थ है।

स्कान्द एव ;—

"नारायणाद्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम् । किञ्चित्तदन्यथा जातं त्रेतायां द्वापरेऽखिलम् ।।
गौतमस्य ऋषेः शापाज्ज्ञाने त्वज्ञानतां गते । सङ्कीर्णबुद्धयो देवा ब्रह्म-रुद्र-पुरःसराः ।।
शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमनामयम् । तैर्विज्ञापितकार्य्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः ।।
अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात् । उत्सन्नान् भगवान् वेदानुज्जहार हरिः स्वयम् ।।" इति ।

वेदशब्देनात्र पुराणादिद्वयमपि गृह्यते । तदेवमितिहासपुराण-विचार एव श्रेयानिति तत्रापि पुराणस्यैव गरिमा दृश्यते । उक्तं हि नारदीये ;—

"वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ! वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्व्वे पुराणे नात्र संशयः ।।
पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्य्यग्योनिमवाप्नुयात् । सुदान्तोऽपि सुशान्तोऽपि न गतिं क्वचिदाप्नुयात् ।।"
इति ।।१६।।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

गौतमो महति दुर्भिक्षे विप्रानभोजयत् । अथ सुभिक्षे गन्तुकामान् तान् हठेन न्यवासयत् । ते च माया-निर्म्मितया गोर्गौतम—स्पर्शेन मृताया हत्यामुक्त्वा गताः । ततः कृतप्रायश्चित्तोऽपि गौतमस्तन्मायां विज्ञाय शशाप, 'ततस्तेषां ज्ञान-लोपः' इति वाराहे कथास्ति । अधिकमिति—निःसन्देहत्वादिति बोध्यम् । अन्यथा कृत्वा—अवज्ञाय ।।१६।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

रूप-व्यवहारं कुर्व्वन्ति । गृहादिवत् इति—गृह-धर्म्मान् यथा नियतं सम्यक् कुर्व्वन्ति, तथा व्यासोक्त-शास्त्राध्ययनादि-तदुक्तानुष्ठानादिना व्यवहरन्तीत्यर्थः । गृहादिवेति पाठे—व्यास-चित्तस्थिताकाशस्य गृहतुल्यत्वम् । गृहात्—स्व-गृहात् द्रव्याण्यादाय ते व्यवहरन्ति एवं व्यास-चित्ताकाशात् कानिचिच्छास्त्राण्या-दायेत्यर्थः । ततोऽत्रेति,—ततः—दुर्म्मेधस्त्वादिना सकल-वेदाध्ययनाद्यसामर्थ्यात् । अत्र—भूर्लोके, अन्तरे—वैवस्वत-मन्वन्तरीय-द्वापरयुगे । तथा—विभक्ता एव, तैः—प्रसिद्धैः । व्यासैरिति—शिष्याभिप्रायेण बहुवचनम् । अन्यैः—मुनिभिः, मया च—पराशरेण च; व्यवहृता इति शेषः । तत्—ततः, अनेनैव—

अनुवाद—

स्कन्द पुराण में लिखित है—"नारायण से प्रकाशित ज्ञान, सत्ययुग में परिपूर्ण था, त्रेतामें कुछ अन्यथा हुई, अनन्तर गौतम ऋषि के शाप से ज्ञान अज्ञान से आवृत हो जाने पर, लोक स्वरूप उपलब्धि करने में असमर्थ रहे, ब्रह्म रुद्र प्रमुख देवगण, शुभाशुभ विचारविमूढ़ होकर शरणागत पालक निर्विकार श्रीनारायण की शरण में आए । देवगण के निवेदन को शुनकर पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं हरि, पराशर पत्नी सत्यवती से अवतीर्ण होकर लुप्तप्राय समस्त वेद को उद्धार किये थे ।

वेद शब्द से यहाँ इतिहास पुराण भी गृहीत है । पुराण इतिहास अपौरुषेय एवं वेदार्थ निर्णायक है । परमार्थ ज्ञान सम्यक् रूपसे इससे ही हो सकता है, सुतरां अधुना इतिहास पुराण के द्वारा ही प्रस्तुत विचार करना श्रेयस्कर है । नारदीय पुराण में कथित है—"हे वरानने ! वेदार्थ की अपेक्षा से भी पुराणार्थ को अधिक महत्त्व का मानता हूँ ।" कारण निखिल वेद शब्द,—पुराण में ही प्रतिष्ठित हैं, इसमें सन्देह नहीं है । सुदान्त हो, अथवा सुशान्त हो, जो जन पुराण को वेद से अन्य प्रकार मानता है, वह तिर्य्यग् योनि प्राप्त करता है, उसकी उत्तम गति कभी भी नहीं होगी ।।१६।।

सारार्थः—"व्यासचित्तस्थिताकाश" इस वाक्य से जानना होगा, व्यास के चित्तस्थित ज्ञान आकाश तुल्य है, अन्यान्य ज्ञान,—खण्डाकाश तुल्य है । जिसप्रकार महाकाश अपरिमेय है, उस से ही शब्दोपलब्धि होती है, उस प्रकार वेदव्यास का ज्ञान भी अपरिमेय है, इससे ही शब्दमय शास्त्रसमूह प्रकाश हुए हैं । महाकाश सर्वदा निजगुण शब्द से पूर्ण रहता है, जागतिक खण्डाकाशसमूह उस गुण से ही गुणवान् होते हैं ।

स्कान्दप्रभासखण्डे च ;—

"वेदवन्निश्चलं मन्ये पुराणार्थं द्विजोत्तमाः ! वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्व्वे पुराणे नात्र संशयः ।।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं चालयिष्यति । इतिहास-पुराणैस्तु निश्चलोऽयं कृतः पुरा ।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

दुर्म्मेधत्वादि-दर्शनेन, व्यासानां रचितान् शाखाभेदान् व्यासैरन्यैः—वेदव्यास-भिन्नैर्व्यासैरित्यर्थः। वेदव्यासस्तु मत्सुतः कृष्णद्वैपायनाख्यः। अज्ञानतां—नास्ति ज्ञानं स्वरूपहेतुज्ञानं यस्य तत्ताम्, सङ्कीर्ण-बुद्धयः—शुभाशुभ-विचारहीन-बुद्धयः। वेदशब्देन—'उत्सन्नान् वेदान्' इत्यत्र वेदशब्देन। तदेवमिति—पुराणेतिहासयोरपौरुषेयत्वाद्वेदार्थ-निर्णायकत्वाच्च सुष्ठु-परमार्थ-ज्ञापकत्वे इत्यर्थः। इतिहास-पुराण-विचार एव श्रेयानिति—इदानीन्तनानामित्यादि। वेदानां दुरूहतया मन्दबुद्धीनां कलियुगीय-लोकानां यथार्थावधारणस्य वेदतोऽशक्यत्वादित्येव-कारसङ्गतिः। यद्वा; इतिहास-पुराणविचारः श्रेयानेवेति योजना। तेन द्विजानां वेद-विचारोऽप्यावश्यकः, "तदेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इति श्रुतेः, "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" इति श्रुतेः। वेदार्थादिति—वेदार्थावधारणादित्यर्थः। यथाश्रुते वेदार्थ-पुराणार्थयोरेकत्वान्न्यूनाधिकभावानुपपत्तेः ।।१६।।

निश्चलः—निश्चितप्रामाण्यकावधारणविषयीकृततात्पर्य्यविषयार्थकः। स्मृतिष्वपि—तासामपि वेदार्थ-

अनुवाद—

उस प्रकार व्यासकृत ज्ञानधारा के अवलम्बन से ही जगत् में अध्ययन-अध्यापन, कर्मानुष्ठान प्रभृति का प्रचलन है। इस श्लोक से व्यास का सर्वज्ञत्व प्रतिपादित हुआ है। "ततोऽत्र मत्सुतो व्यास" इस कथन से अन्यान्य व्यास की अपेक्षा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास का ईश्वरत्व स्थापित हुआ है।

"गौतमस्य ऋषेः शापात्" इस कथन में एक आख्यायिका है,—एक समय दुर्भिक्ष उपस्थित होने पर गौतम ऋषि निज योगप्रभावोत्पन्न अन्न के द्वारा अनेक ब्राह्मणों का पालन करने लगे थे। दुर्भिक्ष का अवसान होने से ब्राह्मणगण स्व स्थानमें प्रस्थान करने की इच्छा प्रकट किये थे, इससे गौतम की असम्मति रही, गौतम चाहते थे, और कुछ समय ब्राह्मणगण वहाँ रुक जायें। ब्राह्मणगण प्रस्थान के निमित्त उपायान्तर को न देखकर कल्पित गो वत्स निर्माण कर गौतम के यातायात मार्ग में रख दिये थे, उससे गौतम का स्पर्श उसके साथ अज्ञातसार से हो गया, ब्राह्मणगण गौतम को गोहत्यापराधी मान कर वहाँ से चले गये। गौतम गो हत्या का प्रायश्चित्त करके जान गए यह गोवत्स सत्य नहीं है, यह ब्राह्मणों की कपटता है। तव उन्होंने "उन सव के ज्ञान लोप हो जाय" ऐसा अभिशाप दिया। अर्थात् ज्ञान अज्ञान से आवृत हो जाय। इस अभिशाप तदानीन्तन ज्ञान लोप का कारण था।

"इतिहासपुराणविचार एव श्रेयान्" इससे वेद विचार की आवश्यकता नहीं है, ऐसा बोध नहीं होता है। सम्प्रति कलियुग है, उससे जीव मन्दबुद्धि है, वेद दुर्बोध्य है, प्रकृत अर्थ निर्णय में मानव असमर्थ हैं। "परोक्षवादो वेदोऽयम्" वेद परोक्षरूप से भगवत् पर है, साधारणतः काम्य-कर्म प्रतिपादक है, ऐसा बोध होता है, सुतरां वेदावलम्बन द्वारा भगवत्तत्त्व विचार में प्रवृत्त होकर लोक काम्यकर्म परायण होता है, कोई निर्विशेष ब्रह्मवादी वन जाता है, किन्तु पुराणादि की आलोचना से वैसा होना सम्भव नहीं है। कारण पुराण साक्षात् रूपसे ही भगवत् पर है, वेद का सुगोप्यार्थ का प्रकाश करना ही इतिहास पुराणों का अभिप्राय है। सम्प्रति मैं "श्रीभागवत सन्दर्भ" प्रकाश का अभिलाषी हूँ, भगवत्तत्त्व विचार करना मुझे आवश्यक है, उसकी यथेष्ट उपलब्धि पुराण में ही है। अतएव पुराणादि प्रमाण ही सुखबोध्य है। अतएव प्रधानतः इतिहास पुराणको ग्रहण करना ही श्रेयः है, यह अभिप्राय ग्रन्थकार श्रीजीवगोस्वामीपाद का है।१६।

वेद के समान पुराण का सर्वजनसम्भतत्त्व एवं सात्त्विकादि भेद से त्रैविध्य,—स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में कथित है,—"हे द्विजोत्तमगण ! जिसप्रकार वेदार्थ अनादि काल सर्वविज्ञान सम्मत रूपसे

यन्न दृष्टं हि वेदेषु तद्दृष्टं स्मृतिषु द्विजाः ! उभयोर्यन्न दृष्टं हि तत् पुराणैः प्रगीयते ॥
यो वेद चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजाः ! पुराणं नैव जानाति न च स स्याद्विचक्षणः ॥" इति ।

अथ पुराणानामेवं प्रामाण्ये स्थितेऽपि तेषामपि सामस्त्येनाप्रचरद्रूपत्वात् नानादेवता-प्रतिपादकप्रायत्वादर्व्वाचीनैः क्षुद्रबुद्धिभिरर्थो दुरधिगम इति तदवस्थ एव संशयः । यदुक्तं मात्स्ये,—

"पञ्चाङ्गञ्च पुराणं स्यादाख्यानमितरत् स्मृतम् । सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः ॥
राजसेषु च माहात्म्यमधिकं ब्रह्मणो विदुः । तद्वदग्नेश्च माहात्म्यं तामसेषु शिवस्य च ॥
सङ्कीर्णेषु सरस्वत्याः पितॄणाञ्च निगद्यते ॥" इति ।

अत्राग्नेस्तत्तदग्नौ प्रतिपाद्यस्य तत्तद्यज्ञस्येत्यर्थः । 'शिवस्य च' इति 'च'काराच्छिवायाश्च । सङ्कीर्णेषु—सत्त्वरजस्तमोमयेषु कल्पेषु बहुषु । सरस्वत्याः—नानावाण्यात्मक—

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

वेदवदिति ;—पुराणार्थो वेदवत् सर्व्वसम्मत इत्यर्थः । ननु पण्डितैः कृताद्वेद-भाष्यात्तदर्थो ग्राह्य इति चेत्तत्राह,—बिभेतीति ; अकृते भाष्ये सिद्धे किं तेन कृत्रिमेणेति भावः । अर्थेति ;—असन्दिग्धार्थतया

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

निर्णायकत्वात्, "श्रुति-स्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लंघ्य वर्त्तते । आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥ इत्याद्युक्तत्वाच्च । 'न च स स्याद्विचक्षण' इति—इतिहासादपि पुराणस्याधिकत्वं दर्शयति, सम्यगर्थावधारण-रूपत्वादिति । नानादेवता-प्रतिपादकप्रायत्वात्—अतिमुख्यत्वेन नानादेवता-प्रतिपत्तिसञ्जकत्वादित्यर्थः । अर्थः—तात्पर्य्यार्थः । पञ्चाङ्गं—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च । वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥"—

इत्युक्त-विश्वसर्गादि-पञ्चवर्णनात्मकम् । इतरत्—पुराणभिन्नम् । आख्यानं—आख्यानाख्यं शास्त्रम् । यद्वा ; इतरत्—विश्वसर्गादिपञ्चलक्षणातिरिक्तमपि प्रसङ्गादाख्यानम्—आख्यायकमिति पुराणविशेषणम् ।

अनुवाद—

गृहीत हो रहा है, कोई भी उसकी अन्यथा नहीं कर सकता है । उसप्रकार पुराणार्थ को भी मैं मानता हूँ । वेद के यावतीय विषय पुराण में प्रतिष्ठित है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । अनेक पण्डितों के वाक्य से यह ही निश्चय होता है । अल्पशास्त्रज्ञ व्यक्ति वेदार्थ विचार में प्रभृत्त होकर अपसिद्धान्त करेगा ।" वेद इस भय से भीत होने पर सृष्टि के पूर्व में श्रीभगवान् के द्वारा ही इतिहास पुराण द्वारा वेद को निश्चल किया गया है । हे ब्राह्मणगण ! वेद में जो परिलक्षित नहीं होता है, उसका दर्शन मन्वादि स्मृति में होता है । वेद एवं स्मृतिमें जो उपलब्ध नहीं है, किन्तु पुराण में वह दृष्ट होता है । सुतरां जो जन अङ्ग एवं उपनिषद के साथ चार वेद के ज्ञाता है, अथच पुराणार्थ अवगत नहीं हैं, उसको विचक्षण नहीं कहा जाता है ।

इस प्रकार यथार्थ ज्ञान के प्रति पुराण का प्रामाण्य निश्चय होने से, पुराण का सम्पूर्ण अंश दृष्टि गोचर न होने से प्रचलित अंश में नानाविध देवता की महिमा, उपासनाविधि उपलब्ध है । सुतरां प्रकृत तत्त्वानभिज्ञ अर्वाचीन व्यक्ति के पक्ष में पुराण का तात्पर्य निर्णय करना दुरूह हो जाता है । तन्निमित्त उपास्य विषयगत संशय भी क्रमशः जटिल होता है । पुराण में सात्त्विकादि भेद से विविध देवता की महिमा मत्स्य पुराण में वर्णित है ।

"पुराण"—सर्ग प्रतिसर्गादि भेद से पञ्च लक्षणान्वित है, एवं आख्यान नामक एक लक्षणाक्रान्त है । वह तीन प्रकार सात्त्विक, राजस, तामस भेद से है । सात्त्विक पुराण में श्रीहरि की महिमा अधिक वर्णित है, राजसिक में ब्रह्मा की, तामस में अग्नि, शिव, दुर्गा की महिमा वर्णित है । सङ्कीर्ण पुराण में सरस्वती

तदुपलक्षिताया नानादेवताया इत्यर्थः। पितॄणां—"कर्म्मणा पितृलोकः" इति श्रुतेस्तत्-प्रापक-कर्म्मणामित्यर्थः ॥१७॥

तदेवं सति तत्तत्कल्पकथामयत्वेनैव मात्स्य एव प्रसिद्धानां तत्तत्पुराणानां व्यवस्था ज्ञापिता, तारतम्यन्तु कथं स्यात्, येनेतरनिर्णयः क्रियेत ? सत्त्वादितारतम्येनैवेति चेत्,

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

पुराणानामेव प्रामाण्ये—प्रमाकरणत्वे इत्यर्थः। अर्व्वाचीनैः—क्षुद्रबुद्धिभिरिति। यस्य विभूतयोऽपीदृश्यः, स हरिरेव सर्व्वश्रेष्ठ इति तदैकार्थ्यं—

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्व्वत्र गीयते ॥"

इति हरिवंशोक्तमजार्नाद्धुरित्यर्थः ॥१७॥

तदेवमिति। मात्स्य एवेति—पुराणसंख्या-तद्दानफल-कथनाञ्चितेऽध्याये इति बोध्यम्। तारतम्यमिति—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

शास्त्रस्य सात्त्विकत्वादिकं—सात्त्विकदेवतातदुपासकगुणकर्म्मादि-वर्णनाधिक्येन सात्त्विकत्वादिना परिभाषितत्वम्। कल्पेषु—पुराणादि-शास्त्रेषु। तद्वत्—ब्रह्मण इव। सरस्वत्या इति—देवतान्तरोप-लक्षकम्। उपलक्षणत्वं विवृणोति;—नानावाण्यात्मकेति—वागधिष्ठातृरूपेत्यर्थः। सर्व्वत्र माहात्म्यपदं स्वरूपोत्कर्षपूजनादिक्रियापरम् ॥१७॥

तारतम्यं—तत्तद्देवतानां न्यूनाधिकयं, कथं स्यात्—कथं ज्ञातं स्यात्, येन—तारतम्यनिर्णयेन, इतर-निर्णयः—भजनादि-निर्णयः। सत्त्वादि-तारतम्येनैवेति—इतर-निर्णयः क्रियत इत्यनेनास्यान्वयः। इति

अनुवाद—

एवं पितृलोक की महिमा वर्णित है, अग्नि शब्द से विविध नामक अग्नि में करणीय विविध यज्ञको जानना होगा। शिव शब्द के साथ 'च' से शिवपत्नी दुर्गा को भी जानना होगा। सङ्कीर्ण शब्द से सत्त्वरजतमोमय विविध शास्त्र को जानना होगा। "सरस्वती" शब्द—अन्यान्य देवता का उपलक्षण है, अर्थात् सरस्वती वाक्य की अधिष्ठात्री देवता है। उससे निज माहात्म्य प्रचार कर विविध वाक्य के द्वारा अन्यान्य देवता की महिमा का कीर्त्तन हुआ है। "पितृ" शब्द से कर्म के द्वारा पितृलोक की प्राप्ति होती है। इसप्रकार श्रुति से पितृलोक प्राप्ति के उपयोगी कर्म समूह का बोध होता है ॥१७॥

सारार्थः—वेद के बहुविध भाष्य होने से भी वे सव कृत्रिम है। पुराण—वेद का अकृत्रिम भाष्य है, वेद का यथार्थ ज्ञान लाभ के निमित्त वह ही यथेष्ट है, प्रभास खण्ड के द्वितीय श्लोक का तात्पर्य ही यह है। "तदुक्तं स्मृतिषु द्विजाः" इससे मन्वादि स्मृति का वेदार्थनिर्णायकत्व कहा गया है।

"श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्त्तते। आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥"

जो जन, मेरी आज्ञारूप श्रुति स्मृति को लङ्घन करता है, वह भक्त होने से भी वास्तविक वैष्णव नहीं है। प्रत्युत आज्ञा लङ्घनकारी विद्वेषी ही है। "पुराणं नैव जानाति न च स स्याद्विचक्षणः" इस वाक्य से इतिहास की अपेक्षा भी पुराण की श्रेष्ठता प्रदर्शित हुई है। कारण पुराण से ही वेदार्थ का निश्चय सम्यक् रूप से होता है। शास्त्र की सात्त्विकादि संज्ञा पारिभाषिक है, अर्थात् सात्त्विक राजसिक तामसिक देवता एवं उनके उपासक के गुण कर्म की वर्णना का आधिक्य जिसमें है, उस सात्त्विक, राजसिक, तामसिक कहा गया है ॥१७॥

सात्त्विक पुराण की श्रेष्ठता एवं श्रीमद्भागवत की सूचना। ग्रन्थकारने प्रमेय निर्णय करने के अभिप्राय से प्रश्नोत्तर भङ्गी से श्रीमद् भागवत को ही विचारासन में स्थापित किया है। सात्त्विकादि के भेद से पुराणों का भेद तो हुआ है, श्रेष्ठ कनिष्ठ का ज्ञान कैसे सम्भव है ? सत्त्वादि तारतम्य से ही

"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" इति "सत्त्वं यद्-ब्रह्मदर्शनम्" इति च न्यायात् सात्त्विकमेव पुराणादिकं परमार्थ-ज्ञानाय प्रबलमित्यायातम् । तथापि परमार्थेऽपि नानाभङ्ग्या विप्रतिपद्यमानानां समाधानाय किं स्यात् ? यदि सर्व्वस्यापि वेदस्य पुराणस्य चार्थनिर्णयाय तेनैव श्रीभगवता व्यासेन ब्रह्मसूत्रं कृतं, तदवलोकनेनैव सर्व्वोऽर्थो निर्णेय इत्युच्यते तर्हि नान्यसूत्रकारमुन्यनुगतैर्म्मन्येत । किञ्चात्यन्तगूढ़ार्थानामल्पाक्षराणां तत्सूत्राणामन्यार्थत्वं कश्चिदाचक्षीत, ततः कतरदिवात्र समाधानम् ? तदेव समाधेयम्;—यद्येकतममेव पुराणलक्षणमपौरुषेयं शास्त्रं सर्व्ववेदेतिहासपुराणानामर्थसारं ब्रह्मसूत्रोपजीव्यञ्च भवद्भुवि सम्पूर्णं प्रचरद्रूपं स्यात्! सत्यमुक्तम्; यत एव च सर्व्वप्रमाणानां चक्रवर्त्तिभूतमस्मदभिमतं श्रीमद्भागवतमेवोद्भावितं भवता ॥१८॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अपकर्षोत्कर्षरूपम्, येनेतरस्य—उत्कृष्टस्य पुराणस्य निर्णयः स्यादित्यर्थः । 'सात्त्विकपुराणमेवोत्कृष्टं' इति भावेन स्वयमाह—सत्त्वादिति । पृच्छति—तथापीति; परमार्थ-निर्णयाय सात्त्विकशास्त्राङ्गीकारेऽपीत्यर्थः । नानाभङ्ग्येति—'सगुणं निर्गुणं ज्ञानगुणकं जड़ं' इत्यादिकं कुटिलयुक्ति-कदम्बैर्निरूपयतामित्यर्थः । नान्यसूत्रकारेति—गौतमाद्यनुसारिभिरित्यर्थः । ननु ब्रह्मसूत्रशास्त्रे स्थिते कापेक्षा तदन्य-

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

चेदिति—तदेति शेषः । इति च न्यायात्—इति न्यायाच्च, तथापि—सात्त्विक-पुराणस्य परमार्थसाधकत्वेऽपि। परमार्थेऽपि=सात्त्विकशास्त्रावगतपरमार्थेऽपि नाना-भङ्ग्या—शास्त्रान्तरप्रदर्शितयुक्तिनिबन्धनचित्तविभ्रमेण, विप्रतिपद्यमानानां—संशयविपर्य्ययवतां, समाधानाय तत्त्व-निर्णयाय किं स्यादिति । अर्थनिर्णयाय—अर्थ-निर्णये प्रामाण्य-सूचनाय । न मन्येत—मुन्यन्तरोक्तयुक्तयन्तरेण विभिन्न-चित्ततया

अनुवाद—

पुराणों का उत्कर्ष अपकर्ष निर्णय होता है, इस प्रकार अर्थ करने से,—सत्त्व से ज्ञानोत्पन्न होता है, सत्त्व ही ब्रह्म दर्शन का कारण है, इससे सात्त्विक पुराण का श्रेष्ठत्व होता है । किन्तु संशय यह है कि,—उसमें भी सगुण, निर्गण, ज्ञानगुण, जड़, प्रभृति का निर्णय जटिल रूपसे है । इससे चित्त भ्रान्त हो जाता है, अतः शास्त्रोक्ति का समाधान कैसे सम्भव है ?

यदि कहो कि—समस्त वेद एवं पुराणों का अर्थ निरूपण के निमित्त श्रीवेदव्यासने जो ब्रह्म सूत्र का प्रणयन किया है, उससे ही अर्थ निर्णय करना कर्त्तव्य है । तथापि सन्देह का अवकाश रह ही जाता है, कारण—ब्रह्मसूत्रस्थ सूत्रसमूह का अर्थ अति गूढ़, एवं अल्पाक्षर से निबद्ध है, विभिन्न मतावलम्बिगण के द्वारा भाष्य होने से वास्तविक अर्थ निर्णय करना दुरूह है ? उत्तर,—हाँ ! उसका एक ही समाधान है—यदि समस्त वेद, इतिहास एवं पुराणों का सारार्थयुक्त ब्रह्मसूत्र का उपजीव्य अर्थात् जिससे ब्रह्मसूत्र का प्रकृत अर्थ स्थिर होता है,—ऐसा एक अपौरुषेय पुराण यदि इस जगत् में सम्पूर्ण रूपसे प्रचारित हो, तो, उसके द्वारा समस्त सन्देह विदूरित हो सकेगा । यथार्थ ही कहा है ! आपने इस चरम सिद्धान्त के द्वारा समस्त प्रमाणचक्रवर्त्ती हमारे अभिमत श्रीमद् भागवत का स्मरण करा दिया ॥१८॥

सारार्थः—"श्रीमद्भागवतमेवोद्भावितं भवता" यहाँ, ग्रन्थकार का अवलम्बनीय मूल ग्रन्थ का नाम उल्लेख हुआ है । अनेक स्थलमें "भागवत" नाम दृष्ट होने परभी पूर्ण नाम श्रीमद्भागवत ही जानना होगा ।

"भागवतत्वं—भगवत्प्रतिपादकत्वम्, श्रीमत्त्वम्—श्रीभागवन्नामादेरिव तादृशस्वाभाविकशक्तिमत्त्वम् ।" यह श्रीभगवान् को प्रतिपादन करता है, अतः "भागवत" एवं श्रीभगवान् के "कृष्ण विष्णु" नाम की

यत् खलु पुराण-जातमाविर्भाव्य, ब्रह्मसूत्रञ्च प्रणीयाप्यपरितुष्टेन तेन भगवता निज-सूत्राणामकृत्रिम-भाष्यभूतं समाधि-लब्धमाविर्भावितम् । यस्मिन्नेव सर्व्वशास्त्रसमन्वयो दृश्यते । सर्व्ववेदार्थलक्षणां गायत्रीमधिकृत्य प्रवर्त्तितत्वात् । तथापि तत्स्वरूपं मात्स्ये;—

यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्म्म-विस्तरः । वृत्रासुर-वधोपेतं तद्भागवतमिष्यते ॥
लिखित्वा तच्च यो दद्याद्धेमसिंहसमन्वितत् । प्रौष्ठपद्यां पौर्णमास्यां स याति परमां गतिम् ॥
अष्टादश-सहस्राणि पुराणं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥" [५३, २०] इति ।

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

सूत्राणां ? इति चेत्तत्राह;—किञ्चात्यन्तयेति—पृष्टः प्राह;—तदेवेति । ब्रह्मसूत्रोपजीव्यमिति—येन ब्रह्मसूत्रं स्थिरार्थं स्यादित्यर्थः । पृष्टस्य हृद्गतं स्फुटयति, सत्यमुक्तमित्यादिना ॥१८॥

श्रीभागवतं स्तौति ;—यत् खल्वित्यादि,—अपरितुष्टेनेति—पुराणजाते ब्रह्मसूत्रे च भगवत्पारमैश्वर्य्य-

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

ब्रह्मसूत्रनिर्णीतार्थो न मन्येत । यदि च वेदान्त-सम्वाद-प्रबल-ब्रह्मसूत्रप्रदर्शितयुक्त्या मुन्यन्तर सूत्रानुगता निरसनीया इत्युच्यते, तथापि सन्देहः ; इत्यत आह किञ्चेति । अपौरुषेयमिति—परमेश्वर प्रणीतत्वेन सन्देहागोचरमिति भावः । उद्भावितं—स्मारितम् ॥१८॥

अकृत्रिमभाष्यभूतमिति—अकृत्रिमत्वेन—निश्चित-प्रामाण्यकं व्याख्यान-सदृशमित्यर्थः । ब्रह्मसूत्रस्य

अनुवाद—

जिसप्रकार स्वाभाविक अचिन्त्य शक्तिमत्वा है, नाम उच्चारण होने से ही उच्चारणकारी की आनुषङ्गिक समस्त पापराशि नष्ट हो जाती है, एवं प्रेमलाभ होता है, उस प्रकार भागवत में "श्रीमत्" शब्द के द्वारा उस प्रकार धर्म कहा गया है । यह श्रीमत् शब्द—सामानाधिकरणात्मक भागवत का विशेषण है । "नील उत्पल" कहने से जिस प्रकार नीलत्व–उत्पलत्व, का एकनिष्ठत्व अर्थात् एक वस्तु में अवस्थित होने का बोध होता है । नील-उत्पल का विशेषण होने से भी नील का अभाव से उत्पल नहीं रहता है, उत्पल का अभाव से भी नील की सत्ता नहीं रहती है, एक आधार में उभय की प्रतीति होती है । श्रीमद् भागवत का विशेषण "श्रीमत्" शब्द भी तद्रूप है । सुतरां यहाँ नित्य योग में मतुप प्रत्यय से ग्रन्थ का सम्पूर्ण नाम श्रीमद् भागवत हुआ है । भागवत के सहित "श्रीमत्" विशेषण का नित्य सम्बन्ध है, अर्थात् श्रीमद् विशेषण को छोड़कर भागवत कभी नहीं रहता है । "ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो श्रीमद् भागवताभिधः" "श्रीमद् भागवतं भक्त्या पठते हरि सन्निधौ" (गरुड़पुराण) श्रीधरस्वामी पादने भी कहा है—"श्रीमद्भागवताभिधः सुरतरुः" । स्थल विशेष में "भागवत" नाम दृष्ट होता है, वह "भामा" शब्द, "भीम" शब्द–सत्यभामा, भीमसेन का बोधक जिस प्रकार होता है, उसप्रकार जानना होगा, संक्षेप एवं पूर्ण नामात्मक शब्द प्रयोग से भेद होता है ॥१८॥

श्रीमद् भागवत आविर्भाव का हेतु एवं जन्माद्यस्य श्लोक में गायत्री का अर्थ ।

निखिल पुराण, इतिहास, एवं ब्रह्मसूत्र प्रणयन करने पर भी भगवान् श्रीव्यासदेव का चित्त प्रसन्न नहीं हुआ तो उन्होंने समाधिस्थ होकर कारण अन्वेषण किया । समाधि में ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्यरूप श्रीमद् भागवत को प्राप्त कर उसका प्रचार मानवजगत् में आपने किया । इसमें ही समस्त शास्त्र समन्वय दृष्ट होता है । उसका प्रधान कारण यह है कि—जिससे सकल वेद का तात्पर्य्य—परमेश्वर का संक्षिप्त परिचय मिलता है, उस सूत्ररूप गायत्री के अवलम्बन से ही श्रीमद् भागवत की प्रवृत्ति है ।

मत्स्य पुराण में इसकी विवृति है,—गायत्री के अवलम्बन से जिसमें परम धर्म वर्णित है, एवं वृत्रासुर बध का उपाख्यान है, उसका नाम ही श्रीमद्भागवत है । जो जन भाद्र मास की पूर्णिमा तिथिमें सुवर्णमय सिंहासन स्थापन पूर्वक श्रीमद् भागवत का दान करेगा, वह उत्तमगति प्राप्त करेगा, यह ग्रन्थ अष्टादश

अत्र गायत्रीशब्देन तत्सूचक-तदव्यभिचारि-'धीमहि'-पदसम्बलित-तदर्थ एवेष्यते। सर्व्वेषां मन्त्राणामादिरूपायास्तस्याः साक्षात्कथनानर्हत्वात्। तदर्थता च, "जन्माद्यस्य यतः" "तेने ब्रह्म हृदा" इति सर्व्वलोकाश्रयत्वबुद्धिवृत्ति-प्रेरकत्वादिसाम्यात्। धर्म्मविस्तर इत्यत्र धर्म्मशब्दः परमधर्म्मपरः, "धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः" इत्यत्रैव प्रतिपादितत्वात्। स च भगवद्ध्यानादिलक्षण एवेति पुरस्ताद्व्यक्तीभविष्यति ॥१९॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

माधुर्य्ययोः सन्दिग्धतया गूढ़तया चोक्तस्तत्र तत्र चापरितोषः, श्रीभागवते तु तयोस्तद्विलक्षणतयोक्तेरत्र परितोष इति बोध्यम्। तदर्थता=गायत्र्यर्थता। स च भगवद्ध्यानादिलक्षण इति=विशुद्धभक्तिमार्ग-बोधक इत्यर्थः ॥१९॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

वेदव्यास-कृतत्वेनापौरुषेय-श्रीमद्भागवतस्य तद्व्याख्यान-रूपत्वासम्भवात् सदृशार्थव भूत-निर्द्देशः। सर्व्व-शास्त्र-तात्पर्य्य-विषयीभूतोऽर्थः। सर्व्ववेदानां तात्पर्य्य विषयीभूतोऽर्थः परमेश्वरः "सर्व्वे वेदा यत्पद-

अनुवाद—

सहस्र श्लोक पूर्ण है।

यहाँ, गायत्री शब्द से गायत्री सूचक—"धीमहि" पद को जानना होगा, उससे गायत्री का समग्र अर्थ बोध होता है। समस्त मन्त्र की आदि गायत्री को साक्षात् शब्द से प्रकाश करना अनुचित है। जिनसे विश्व के जन्मादि है, जिन्होंने सङ्कल्प मात्र से ब्रह्मा का हृदय में वेद प्रकाश किया है। सर्व्वलोकाश्रयत्व बुद्धिवृत्ति प्रेरकत्वरूप गायत्र्यर्थ की समता होने से ही श्रीमद् भागवत गायत्र्यर्थ का प्रकाशक है। मत्स्य पुराण में "धर्म विस्तरः" जो पद है, उससे परम धर्म का विस्तार का बोध होता है। कारण—"धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः" श्रीमद् भागवत के इस वचन से ही धर्म का परमत्व प्रतिपादन हुआ है। अर्थात् श्रीमद् भागवतोक्त धर्म का श्रेष्ठत्व स्थापन हुआ है, एवं वह धर्म—जो श्रीभगवद्ध्यानादि लक्षण ही है, उसका कथन अग्रिम ग्रन्थ में होगा ॥१९॥

सारार्थः—वेद विभाग, पुराण इतिहास का आविष्कार, एवं ब्रह्मसूत्र का प्रणयन करके भी भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव की मनस्तुष्टि नहीं हुई। कारण,—आपने शास्त्रसमूह में श्रीभगवान् की महिमा, ऐश्वर्य्य, माधुर्य्यपूर्ण लीलादि सन्दिग्ध रूपसे एवं गूढ़रूप से वर्णन किया था। देवर्षि श्रीनारदने कहा है—

"भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलं। येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥

यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्य्यानुकीर्त्तिताः। न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥ (भा० १, ५, ८-९)

अनन्तर देवर्षि के उपदेशानुसार श्रीमद् भागवत में उक्त विषयसमूह का प्रकाश विस्तार रूपसे करने से ही श्रीवेदव्यास का चित्त प्रसन्न हुआ था।

"अकृत्रिम भाष्यभूतम्" अर्थात् श्रीमद् भागवत अकृत्रिम होने से सुदृढ़ प्रामाण्य है, इसमें विषयसमूह का विन्यास इसप्रकार है कि—देखने से बोध होता है, यह ब्रह्म सूत्र का भाष्य है, अर्थात् व्याख्या ग्रन्थ है। भूत शब्द का सदृश अर्थ करके उक्त अर्थ निष्पन्न करना होगा, अन्यथा अपौरुषेय पूर्वतन श्रीमद् भागवत को व्यासकृत व्याख्या ग्रन्थ कहना असङ्गत होगा। श्रीहरिदास शास्त्रिकृत "वेदान्तदर्शनम्, श्रीमद्भागवत भाष्योपेतम्" द्रष्टव्य।

"साक्षाल्लिखनानर्हत्वात्" श्रीमद् भागवतीय प्रथम श्लोकमें गायत्रीपद्य का साक्षात् स्वरूप न लिखकर उसका अर्थ प्रकाश करने का साधारणतः और एक कारण यह है कि—गायत्री का स्वरूप लिखने से उसका प्रकृत अर्थ प्रकाश नहीं होगा जनगण भ्रमवशतः अन्यार्थ में विश्वासी हो जायेंगे। अतः भ्रान्ति निरास हेतु श्रीमद् भागवत के प्रथम पद्य के द्वारा ही गायत्री का अभिधेयार्थ का प्रकाश किया है।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

मामनन्ति।" इति श्रुतेः; तस्य सूत्रलक्षणां—संक्षेपेण बोधिकां, गायत्रीं गायत्रीपद-घटक-धीमहीतिपद-सूचित-तदर्थप्रकाशनपद्यम्, अधिकृत्य—स्वाभिधेयमुख्यार्थ-संग्राहकतया सूचयित्वा। साक्षाल्लिखनानर्हत्वा-दिति—स्त्रीशूद्राद्यधिकार-श्रवणयोग्यग्रन्थादौ गायत्रीस्वरूप-लिखनस्यायोग्यत्वादित्यर्थः। इदमुपलक्षणं गायत्र्या अन्यार्थपरताभ्रम निरासायापि तदर्थप्रकाशन-पद्यारम्भ इति। अष्टादश-सहस्राणि श्लोकाः। तत्—भागवतम्। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"
"इतिश्रुत्या, पर-ब्रह्मणो भगवतः साक्षात्कारस्यैव मोक्ष-हेतुतया समीप्सितं, तत्करणार्थं निदिध्यासन-पदमिति वाच्यं, ध्यानमेव मुख्यं कारणं, तदेव प्रतिज्ञातं 'धीमहि—इति। तत्फलञ्च ध्यानकारण-श्रवण-मननयोरनेन पुराणेन सम्पत्तिरिति सूचनेन ग्रन्थाध्ययन प्रवर्त्तनमिति भावः। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" इति श्रुतेः। साम्यादिति, तथा च गायत्रीशब्दो गौण्या गायत्री-समानार्थक-पद्यपर इति ॥१९॥

अनुवाद—

श्रीमद् भागवतीय प्रथम "जन्माद्यस्य" श्लोक में गायत्री की व्याख्या इस प्रकार है,—"जन्माद्यस्य यतः" इस वाक्य से गायत्रीस्थ "सवितुः" पद की व्याख्या हुई है। "यतः सूते" इति सविता—अर्थात् जिससे जगत् का जन्म होता है, वह सविता है। इससे स्थिति एवं प्रलय का भी ग्रहण हुआ है, "परं" शब्द से गायत्री का "वरेण्यं" शब्द का अर्थ हुआ है। कारण उभय शब्द ही श्रेष्ठ वाचक है। "सत्यं" शब्द से गायत्री स्थित भर्ग पद का अर्थ हुआ है। कारण ब्रह्म ही सद्वस्तु है, तद्भिन्न पदार्थ असत् है। मन्त्रस्थ "तत्" पद विशेषण है, "उस प्रसिद्ध ब्रह्म" इस प्रकार अर्थ होता है। "स्वराट्" पद से गायत्री स्थित "देवस्य" पद का अर्थ हुआ है। "दिव्यति स्वत प्रकाशते—इति देवः" जिनका प्रकाश अपर की अपेक्षा नहीं करता है वह स्वराट् है। "स्वेनैव राजते इति स्वराट्" इस पद का अर्थ भी उक्तानुरूप है, प्रकाश शब्द का अर्थ ज्ञान है, कारण—ज्ञान ही स्वतः प्रकाश है। "ज्योतिर्वंज्ज्ञानानि भवन्ति" "तेन ब्रह्म हृदा य आदि कवये" पाँच पद के द्वारा गायत्रीस्थ "धियो नः प्रचोदयात्" की व्याख्या हुई है। अर्थात् जो वेद प्रचार के द्वारा ब्रह्मा में प्रज्ञा का सञ्चार किया है, वह हमारे बुद्धिवृत्ति को सत्पथ में परिचालित करें, उसमें अपर की कुछ भी क्षमता नहीं है। "धीमहि" का उभयत्र एक ही अर्थ है।

पक्षान्तर में—गायत्री स्थित "तत्" शब्द अव्यय होने पर भी उसका अर्थ इस प्रकार होता है—"तत्-तं, भर्गः—भर्गं (द्वितीयार्थे प्रथमा "सुपां सुलुक्" इत्यनेन) परंब्रह्म धीमहि—ध्यायेम" यहाँ भर्ग शब्द—"बिभर्त्ति-पुष्णाति, पालयति" इस अर्थ में गमादि के अन्तर्गत भृञ् धातु के उत्तर "ग" प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है। सुतरां भर्ग शब्द से उनको जगत् का अधिष्ठान एवं पालक कहा गया है। "भृज्जति नाशयति" इस अर्थ में भ्रस्ज् धातु के उत्तर औणादिक "ग" प्रत्यय करके उनमें प्रलय कर्त्तृत्व स्थापन होता है। भर्ग शब्द का विशेषण "सवितुः—सवितारं" अर्थात् परमेश्वर जगत् उद्भव का कारण है। यहाँ द्वितीयार्थ में षष्ठी विभक्ति है, अतएव श्रीमद् भागवतीय "जन्माद्यस्य यतः" इस वाक्य में उल्लिखित अर्थयुक्त "भर्ग" एवं "सविता" शब्द का अर्थ किया गया है।

गायत्री स्थित "तत्" पद का अर्थ "सत्यं परं" पदद्वय से हुआ है। ब्रह्म ही अबाधित सत्य है। तद्भिन्न समस्त पदार्थ असत् है। भृञ् धातु से निष्पन्न "भर्ग" शब्द से जगत् का अधिष्ठान कथित होने से प्रलय का अबधित्व एवं कर्त्तृत्व प्रतिपादित हुआ है। द्वितीय विशेषण दिया गया है—"वरेण्यं" वृणोति-सर्वं व्याप्नोति वरेण्यम्" अर्थात् जो सर्वव्यापक है, इसका प्रकाश,—"अन्वयादितरतश्च" इस अंश के द्वारा हुआ है। ब्रह्म ही परिदृश्यमान जगत् का उपादान है, उस रूपसे सर्वत्र व्याप्त है। अथवा "वरेण्य" शब्द का अर्थ "व्रियते —प्रार्थ्यते चतुर्वर्गान् सर्वैरसौ इति वरेण्य स्तं, सर्वस्य दातारं सर्वेश्वरञ्चेत्यर्थः" सव लोक

अनुवाद—

जिनके निकट धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्रार्थना करते हैं, आप प्रार्थना के अनुरूप फल दान करते हैं, कारण आप ही सर्वेश्वर हैं, उनका ही ध्यान करना सब मानवों का सर्वथा कर्त्तव्य है। इस प्रकार 'वरेण्य' पदका अर्थ—"परम्" इस पदसे प्रकाशित हुआ है। उल्लिखित पदसमूह से प्रतिपन्न हुआ है कि—जो सृष्टि स्थिति प्रलयकारी हैं, समस्त जगत् का आधार हैं, जगद्व्यापी एवं सर्वेश्वर हैं, उन ब्रह्मका ध्यान हम सब करते हैं।

ब्रह्म जगत् कर्त्ता, जगत् का आधार होकर भी निर्लेप हैं, अर्थात् मायिक दोष से दुष्ट नहीं हैं। इस अर्थ का प्रकाश "देवस्य" पद से हुआ है। यहाँ द्वितीयार्थ में षष्ठी होने से उसे कर्म मानना होगा। "दीव्यति द्योतते प्रकाशते इति देवः तम्" अर्थात् जो नित्य ही स्व-प्रकाश हैं, सुतरां निरञ्जन हैं। कभी भी किसी दोष से लिप्त नहीं हैं, एवं माया अथवा अज्ञानरूप अन्धकार भी जिनके समीप में नहीं रहता है, इस अर्थ का प्रकाश "स्वराट्" एवं "धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं" पदद्वय से हुआ है। अथवा "देवयति—असदपि सद्रूपेण प्रकाशयति इति देवः" अर्थात् जो असत् को भी सत् रूप प्रदान करते हैं। गायत्रीस्थ देव पद का अर्थ—"यत्र त्रिसर्गोऽमृषा" इस अंश से प्रकाश हुआ है। मायिक—सत्त्व रजः तमः गुणत्रय के द्वारा क्रमश—भूत, इन्द्रिय, उनके अधिष्ठान देवता की सृष्टि हुई है, यह सब मिथ्या है, केवल ब्रह्मरूप अधिष्ठान में रहने से ही ब्रह्म सत्यता से जगत् सत्यता की प्रतीति होती है। इससे महामन्त्र गायत्री एवं श्रीमद् भागवत को प्रथम श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार है—जो जगत् के सृष्टि स्थिति प्रलयकर्त्ता, सर्वेश्वर सर्वव्यापी हैं, एवं समस्त जीव की बुद्धिवृत्ति का परिचालक है, हम सब उनका ध्यान करते हैं। आप हमारी बुद्धिवृत्ति को परिचालना सत्कर्म के प्रति करें। उभयत्र एक ही अर्थ प्रकाशित हुआ है।

गायत्री की भगवतपर व्याख्या—श्रीमद्‌भागवत के प्रथम पद्य "जन्माद्यस्य यतः" में गायत्रीस्थ—प्रणव का अर्थ प्रदर्शित हुआ है, श्रीभगवान् के त्रिगुणमय अवतार ब्रह्मा, विष्णु, शिव से क्रमशः जन्म स्थिति लय होते हैं, प्रणव भी उक्त ब्रह्मा विष्णु शिवात्मक है।

"अकारेणोच्यते विष्णुरुकारस्तु महेश्वरः। मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥

सुतरां गायत्री में ओंकार के द्वारा उक्त तीन देवता का उल्लेख कर उनके सृष्टि स्थिति लय का वर्णन किये हैं। "यत्र त्रिसर्गोमृषा" अर्थात् जिनमें सत्त्वरजस्तमोमय त्रिविध सृष्टि मिथ्या है, इस वाक्य से "भूः भुवः स्वः" ये तीन व्याहृति को पद कही गई है। "भू" शब्द से अतलादि सप्त तल, भूतल, "भुवः" शब्द से अन्तरीक्ष एवं "स्वः" शब्द से स्वः महः जन तपः सत्य,—चतुर्दश भुवन को जानना होगा। इस चतुर्दश भुवन में ही उल्लिखित तीन प्रकार सृष्टि है, सुतरां गायत्री "भूर्भुवः स्वः" तीन शब्द के द्वारा अभेद रूपसे त्रिविध सृष्टि की प्रक्रिया कही गई है। "स्वराट्" शब्द से "सवितुः" "भर्गः" पदद्वय की व्याख्या हुई है। श्रीभगवान् सूर्य्य के समान अति दीप्तिशाली हैं। अर्थात् स्वतःसिद्ध ज्ञान स्वरूप है, प्रकाश ज्ञान का ही धर्म है। "तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये" अर्थात् जो आदि कवि ब्रह्मा के हृदय में संकल्प के द्वारा ही वेद सञ्चार किए हैं। आप ही अल्पज्ञ साधारण जीवगण की बुद्धिवृत्ति का सञ्चालन विज्ञान के पथ में करते हैं। इस वाक्य से गायत्रीस्थित "धियो यो नः प्रचोदयात्" आप हमारी बुद्धिवृत्ति को सत्पथ में सञ्चालित करें, इस अर्थ का प्रकाश हुआ है। उन अनादि अनन्त अचिन्त्य शक्तिविशिष्ट तेजोमयमूर्त्ति गायत्री प्रतिपाद्य श्रीभगवान् ही इस स्थल में परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।" (श्वेता० ३।८)

सुतरां जो भगवान् साक्षात्कार मोक्ष का कारण है, वह भी प्रावाहिक ध्यान व्यतीत निष्पन्न नहीं होता है, तज्जन्य "धीमहि" क्रिया की अवतारणा हुई है। प्रथम जीवगण श्रीभगवच्चरित्रादि का श्रवण मनन करते हैं, अनन्तर उसका फल ध्यान सिद्ध होता है, यह ध्यान ही श्रीमद् भागवत एवं गायत्री की सम्पत्ति है। "धीमहि" शब्द से उसकी सूचना करके इस ग्रन्थ के अध्ययन में एवं गायत्री जप में आधिकारिक

एवं स्कान्दे प्रभासखण्डे च ;—

"यत्राधिकृत्य गायत्री" इत्यादि।

"सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युर्नरामराः। तद्वृत्तान्तोद्भवं लोके तच्च भागवतं स्मृतम् ॥
लिखित्वा तच्च—" इत्यादि।

"अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत् प्रकीर्त्तितम्।"—इति पुराणान्तरञ्च।

"ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्ध-सम्मितः। हयग्रीव-ब्रह्मविद्या यत्र वृत्रबधस्तथा ॥
गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः ॥" इति।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

'ग्रन्थ' इत्यादौ हयग्रीवादिशब्दयोर्भ्रान्तिं निराकुर्व्वन् व्याचष्टे;—अत्र हयग्रीवेत्यादिना। एतत् श्रुत्वेति। दध्यङ्—दधीचि। प्रवर्ग्यमिति—प्राणविद्याम्। ननु पाद्मादीनि सात्त्विकानि पञ्च सन्ति,

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

गायत्रीमित्यादीति—इत्याद्यनन्तरमित्यर्थः। तद्वृत्तान्तस्योद्भवः—प्रकटनं यस्मात्तत्। हेमसिंह-समन्वितं—हेमसिंहासनरारूढ़ं, पुराण-राजत्वादिति। तस्या विद्यायाः प्रसिद्धमिति—तथा च हयग्रीवेण प्रवर्त्तितत्वाद्विद्याया अपि हयग्रीवत्वेन प्रसिद्धिरिति भावः। ब्रह्मविद्यात्वञ्च—ब्रह्मविद्यात्वेन प्रसिद्धिश्च,

अनुवाद—

मानवगण की प्रवृत्ति उत्पादन किए हैं।

ब्रह्म, परमात्मा, स्वयं भगवान् ही गायत्री प्रतिपाद्य हैं। गायत्रीस्थित "भर्ग" शब्द का अर्थ—तेजः अथवा चैतन्य है, सुतरां चैतन्य कहने से उनसे अभेद चेतन मानना होगा, यह चेतन क्या है? उत्तर में कहा है—परब्रह्म ही चेतन एवं गायत्री प्रतिपाद्य हैं। योगि याज्ञवल्क्यने कहा है—

"प्रणव-व्याहृतिभ्याञ्च गायत्र्या त्रितयेन च। उपास्यं परमं ब्रह्म आत्मा यत्र प्रतिष्ठितः ॥"

पक्षान्तर में—"भर्ग" शब्द का प्रतिपाद्य पर ब्रह्म शब्द से नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण ही अभिहित हुए हैं। पद्मपुराण में श्रीनारद के प्रति ब्रह्माजीने कहा है—

"कृष्णाख्यन्तु परं ब्रह्म भुवि जातं न संशय।" "तज्जोतिर्भगवान् विष्णुः"। उन ज्योति ही भगवान् विष्णु अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। आप ही "सविता" प्रसविता हैं। अर्थात् जगज्जन्मादि का कारण एवं "देव" विविध रूपमें क्रीड़नशील हैं। शरीर व्यतीत क्रीड़ा नहीं हो सकता है, सुतरां सविता, देव, विशेषण द्वय से गायत्री प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण, अनन्तशक्ति का आश्रय होने से सृष्टयादि कर्तृत्व हेतु उनमें भगवत्ता हैं, स्वयं नित्य अनन्त क्रीड़ा परायण हेतु नित्य शरीरित्व प्रतिपादित हुआ है। "धियो यो नः प्रचोदयात्" इस अंश में बुद्धिवृत्ति का प्रवर्त्तकत्व होने से सर्वान्तर्यामी परमात्मा परिलक्षित हुए हैं। इस प्रकार ब्रह्म, परमात्मा एवं स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गायत्री का प्रतिपाद्य वस्तु है।

"धर्मशब्दः परमधर्मपरः" इसका तात्पर्य यह है कि—निष्कामता ही धर्म की श्रेष्ठता है, जिसमें किसी प्रकार फलाकाङ्क्षा नहीं है, उसको निष्काम कहते हैं। वह ही परम धर्म है, उसको ही श्रीभगवद्ध्यान रूप भागवतीय धर्म कहा गया है। जिसमें फलाकाङ्क्षा है, वह प्रकृत धर्म नहीं है, वह कामियों की स्वार्थ सिद्धि की वहाना मात्र है, धर्म के नाम पर आकाङ्क्षा की तृप्ति साधन ही उसका मूल उद्देश्य है ॥१९॥

श्रीमद् भागवत का परिचय,—मत्स्य पुराण के समान स्कन्दपुराण के प्रभास खण्ड में भी श्रीमद् भागवत का परिचय है। श्रीमद् भागवत में गायत्री के अवलम्बन से परमधर्म का विस्तृत वर्णन हुआ है।

सारस्वत कल्प के लीलासमूह एवं लीलासम्बन्धि देवता एवं मनुष्यगण के कीर्त्तित चरित समूह ही श्रीमद् भागवत है। "लिखित्वा तच्च यो दद्यात्" एवं "अष्टादश सहस्राणि" इत्यादि मत्स्य पुराण के अनुरूप श्लोक से भी सूचित हुआ है। स्कन्द एवं पुराणान्तर में कथित है, जिसमें हयग्रीव ब्रह्म विद्या एवं

अत्र "हयग्रीव-ब्रह्मविद्या" इति वृत्रबध-साहचर्य्येण नारायण-वर्म्मैवोच्यते। हयग्रीव-शब्देनात्राश्वशिरा दधीचिरेवोच्यते। तेनैव च प्रवर्त्तिता नारायणवर्म्माख्या ब्रह्मविद्या। तस्याश्वशिरस्त्वञ्च षष्ठे,—"यद्वै अश्वशिरो नाम" [भा० ६, ९, ५२,] इत्यत्र प्रसिद्धं, नारायण-वर्म्मणो ब्रह्मविद्यात्वञ्च ;—

"एतच्छ्रुत्वा तथोवाच दध्यङ्ङाथर्व्वणस्तयोः। प्रवर्ग्यं ब्रह्मविद्याञ्च सत्क्रतोऽसत्यशङ्कितः॥"—

इति टीकोत्थापितवचनेन चेति। श्रीमद्भागवतस्य भगवत्प्रियत्वेन भागवता-भीष्टत्वेन च परमसात्त्विकत्वम्। यथा पाद्मे अम्बरीषं प्रति गौतम-प्रश्नः ;—

"पुराणं त्वं भागवतं पठसे पुरतो हरेः। चरितं दैत्यराजस्य प्रह्लादस्य च भूपते!"

तत्रैव व्यञ्जुलीमाहात्म्ये तस्य तस्मिन्नुपदेशः ;—

"रात्रौ तु जागरः कार्य्यः श्रोतव्या वैष्णवी कथा॥ गीता नाम-सहस्रञ्च पुराणं शुक-भाषितम्।
पठितव्यं प्रयत्नेन हरेः सन्तोषकारणम्॥"

तत्रैवान्यत्र ;—

"अम्बरीष! शुक-प्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु। पठस्व स्व-मुखेनापि यदीच्छसि भव-क्षयम्॥"

स्कान्दे प्रह्लादसंहितायां द्वारकामाहात्म्ये ;—

"श्रीमद्भागवतं भक्त्या पठते हरि-सन्निधौ। जागरे तत्पदं याति कुलवृन्द-समन्वितः" ॥२०॥

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

तैरस्तु विचार इति चेत्तत्राह ;—श्रीमदिति—एतस्य परमसात्त्विकत्वे पाद्मादि-वचनान्युदाहरति पुराणं त्वमित्यादिना। कुलवृन्देति—तत्कर्त्तृकश्रवणमहिम्ना तत्कुलस्य च हरि-पदलाभ इत्यर्थः॥२०॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

सारस्वत-कल्पाभिधेयाभिधातृत्वेनास्यापि सारस्वतकल्पत्वं सूचितम्। तच्च गायत्र्याख्य-सरस्वतीमुपक्रम्या-रब्धत्वेन व्यक्तमग्रे इति। एतदिति—अश्विभ्यामुक्तं प्रागुक्तवचनमित्यर्थः। इति टीकोत्थापितवचनेन

अनुवाद—

वृत्रासुर बध प्रसङ्ग वर्णित है, एवं जिसके आरम्भ श्लोक में ही गायत्री का अर्थ प्रकाशित हुआ है, इस प्रकार अठार हजार श्लोक युक्त द्वादश स्कन्धात्मक ग्रन्थ का नाम ही श्रीमद् भागवत है।

उक्त श्लोक में "हयग्रीव ब्रह्मविद्या" शब्द से नारायणवर्म्म को कहा गया है, उसमें वृत्रासुर बध का प्रसङ्ग है। हयग्रीव शब्द से दधीचि मुनि का बोध होता है। वह अश्वशिराः था, उनसे प्रचारित "नारायण वर्म" ही ब्रह्मविद्या है। टीकाकार श्रीधर स्वामिपादने कहा है—अथर्ववेदवित् दधीचि मुनिने प्रतिज्ञा भङ्ग के भय से अश्विनी कुमारद्वय को प्रवर्ग्य (प्राणविद्या रूप) ब्रह्मविद्या (नारायण वर्म्म) का उपदेश किया।

पद्म पुराणादि पञ्च सात्त्विक पुराणों से परमार्थ विचार क्यों नहीं होगा? उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं, श्रीमद् भागवत श्रीभगवान् का अतिशय प्रिय है। तन्निमित्त उनके भक्तगणों का भी अत्यन्त अभीष्ट है। सुतरां सात्त्विक पुराण की अपेक्षा से इस पुराण की सात्त्विकता अधिक है।

पद्मपुराण में अम्वरीष राजा को गौतम ऋषिने कहा था, जिसमें दैत्यराज हिरण्य कशिपु एवं प्रह्लाद चरित्र वर्णित है। उस ग्रन्थ का पाठ श्रीहरि के सम्मुख में करते रहते हो। उक्त पुराण के वञ्जुली माहात्म्य में वर्णित है—व्यञ्जुली द्वादशी में रात्रि जागरण, श्रीविष्णु के लीलागुणादि श्रवण, श्रीमद् भागवद्गीता, श्रीविष्णु सहस्रनाम, श्रीमद् भागवत का पाठ करना कर्त्तव्य है। हे अम्वरीष! यदि संसार नाश करने की इच्छा हो तो शुक प्रोक्त श्रीमद् भागवत का श्रवण को, एवं स्वयं पाठ भी करो।"

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

चेति—चकारात् भागवते तस्या विद्यात्वेन ब्रह्मत्वेन च कथन-लाभः। केचित्तु; हयग्रीवः—हयग्रीवावतारः, ब्रह्मविद्या—ब्रह्मतत्त्वञ्च इत्याहुः। हरेः सन्तोष-कारणमिति—अनेन भगवत्प्रियत्वमुक्तं, भवक्षयमिति तत्पदं यातीति च—भागवतानां भगवद्भक्तानामभीष्टदत्व-सूचकम् ॥२०॥

अनुवाद—

स्कन्द पुराण की प्रह्लाद संहिता में उक्त है—जो श्रीहरिवासर में भक्ति पूर्वक श्रीमद् भागवत पाठ करता है, वह स्वयं श्रीभगवद्धाम प्राप्त करता तो है ही उसके कुल के समस्त व्यक्ति का भी वैकुण्ठ लाभ होता है ॥२०॥

सारार्थः—दधीचि मुनि के अश्वमुख से प्रचारित नारायण वर्म ही "हयग्रीव ब्रह्मविद्या" है। "हयग्रीवेण दधीचिना प्रवर्त्तिता प्रचारिता ब्रह्मविद्या—हयग्रीव ब्रह्मविद्या" इस प्रकार मध्यपदलोपी समास के द्वारा उक्तार्थ की सङ्गति होगी।

"पठस्व स्वमुखेनापि"—अपि शब्द से—स्वयं पाठ करने में असमर्थ होने पर प्रतिनिधि के द्वारा भी पाठानुष्ठान होना विहित है।

"शुकप्रोक्तम्" श्रीमद् भागवत का विशेषण को देखकर सन्देह होता है कि—श्रीमद् भागवत के जो अंश शुकप्रोक्त नहीं है, वह श्रीमद् भागवत नहीं है। जैसे प्रथम स्कन्ध, द्वादश स्कन्ध के षष्ठ से शेषपर्य्यन्त अंश, कारण द्वितीय स्कन्ध से ही परीक्षित के प्रति श्रीशुकदेव की उक्ति है, तथा द्वादश स्कन्ध के षष्ठ अध्याय में "जगाम भिक्षुभिः साकं नरदेवेन पूजितः" परीक्षित् के निकट श्रीशुकदेव का गमन वर्णित है। उसमें भी कुछ तो परीक्षित् उक्ति, एवं कुछ सूत शौनक उक्ति है। सूत शौनक उक्ति, श्रीशुकदेव की परवर्त्ती है। तब शुक प्रोक्त क्या है ? किस अंश विशेष भागवत है ? इस प्रकार संशय निरसन हेतु श्रीधर स्वामिपादने कहा है—"अनागताख्यानेनैव अस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तेः" अर्थात् जो वृत्तान्त समागत नहीं हुआ है, उस भविष्यत् विषय को लेकर ही श्रीमद् भागवत की प्रवृत्ति है, सुतरां यहाँ जानना होगा कि—गायत्री का अर्थ द्योतक "जन्माद्यस्य" इत्यादि श्लोक से "विष्णुरातममूमुचत्" पर्यन्त ग्रन्थ ही श्रीमद् भागवत। यह अनादि सिद्ध है, एवं इसको अध्ययन करके ही श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित् को कहे थे। श्रीमद् भागवतस्थ शुक परीक्षित् एवं सूत शौनकादि की उक्ति प्रत्युक्ति समूह भी अनादि काल से समान रूपसे प्रचलित है। पुराण प्रकाश के समय महर्षि श्रीव्यासजीने श्रीमद् भागवत के अभिधेयांश का संक्षेप में प्रकाश किया, पश्चात् भारत प्रकाश के बाद सम्पूर्णाङ्ग श्रीमद् भागवत का प्रकाश किया। ऐसा न मानने पर शास्त्रीय प्रमाणों के साथ विरोध होगा।

"यत्राधिकृत्य गायत्रीं वर्ण्यते धर्मविस्तरः। अष्टादश सहस्राणि पुराणं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥
ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रो द्वादश-स्कन्धसम्मितः। गायत्र्या च समारम्भस्तद्वै भागवतं विदुः ॥" (मत्स्यपुरण)

श्रीमद् भागवत के प्रथम श्लोक में गायत्री का अर्थ वर्णित है, यदि प्रथम स्कन्ध को छोड़ दिया जाय तो उसका अस्थित्व ही नहीं रहेगा। विशेषतः उक्त वचन का प्रतिपादित भागवत एवं "अम्बरीष शुकप्रोक्त" इस वचनद्वय से भागवत भी दो हो जायेगा। "द्वादशस्कन्ध सम्मितः" कथा भी निरर्थक होगी, अठार हजार श्लोक का निर्णय भी असम्भव होगा। श्रीशुकदेवने श्रीमद् भागवत के कियदंश श्रीपरीक्षित् को कहे थे इसका कोई प्रमाण नहीं है, वरं द्वादश स्कन्धयुक्त श्रीमद् भागवत ही कहे थे। इसका ही निर्णय होता है—"इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्। उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ॥

तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतांवरम्। सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्।
स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ॥

श्रीवेदव्यासजीने जिसका प्रकाश किया था, उसका अध्ययन ही श्रीशुकदेवजीने किया था, कीर्त्तन भी उसी का किया था। यह ही उक्त वचनों का तात्पर्य्य है। सुतरां उल्लिखित सन्देह का अवकाश नहीं है।

गारुड़े च ;—

"पूर्णः सोऽयमतिशयः। अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थः विनिर्णयः ॥
गायत्री-भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ-परिवृंहितः। पुराणानां सामरूपः साक्षाद्भगवतोदितः ॥
द्वादशस्कन्धयुक्तोऽयं शतविच्छेद-संयुतः। ग्रन्थोऽष्टादशसाहस्रः श्रीमद्भागवताभिधः ॥" इति।

ब्रह्मसूत्राणामर्थस्तेषामकृत्रिम-भाष्यभूत इत्यर्थः। पूर्व्वं सूक्ष्मत्वेन मनस्याविर्भूतम् तदेव संक्षिप्य सूत्रत्वेन पुनः प्रकटितम्, पश्चाद्विस्तीर्णत्वेन साक्षात् श्रीभागवतमिति। तस्मात्तद्भाष्यभूते स्वतःसिद्धे तस्मिन् सत्यर्व्वाचीनमन्यदन्येषां स्वस्वकपोल-कल्पितं तदनुगतमेवादरणीयमिति गम्यते।

"भारतार्थविनिर्णयः—निर्णयः सर्व्वशास्त्राणां भारतं परिकीर्त्तितम् ॥
भारतं सर्व्ववेदाश्च तुलामारोपिताः पुरा। देवैर्ब्रह्मादिभिः सर्व्वैरृषिभिश्च समन्वितैः ॥
व्यासस्यैवाज्ञया तत्र त्वत्यरिच्यत भारतम्। महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥"—

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

गारुड़वचनैश्च परमसात्त्विकत्वं व्यञ्जयन् ब्रह्मसूत्राद्यर्थ निर्णायकत्वं गुणमाह;—अर्थोऽयमिति। गारुड़-वाकचपदानि व्याचष्टे—ब्रह्मसूत्राणामित्यादिना। तस्मात्तद्भाष्येत्यादि,—अन्यद्वैष्णवाचार्य्य-रचितमाधुनिकं भाष्यं तदनुगतं श्रीभागवताविरुद्धमेवादर्त्तव्यं, तद्विरुद्धं शङ्कर-भट्ट-भास्करादि-रचितं तु हेयमित्यर्थः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अर्थः—अर्थयति बोधयतीति व्युत्पत्त्याऽर्थबोधकः। विवृणोतीदं—तेषामकृत्रिमभाष्यभूत इति। सूक्ष्मत्वेन—सकल-वेदतात्पर्य्य-विषय-परमार्थ-संग्राहकत्वेन गूढ़तया स्थितत्वेन च यत् पद्यं मनस्याविर्भूतं गायत्रीसमानार्थकं, तदेवेत्यर्थः। सूत्रत्वेन—उपक्रमरूपत्वेन, विस्तीर्णत्वेन—सदृष्टान्त-युक्त्युपन्यासेति-हासादिना गायत्र्यर्थ-तत्तात्पर्य्यविस्तारकत्वेन। तस्मिन्—भागवते। तदनुगतं—भागवतार्थ-सम्वादि न तु तद्विपरीतार्थकम्। विनिर्णयः विशेषेण निर्णायकः। यद्वा—'विशिष्य निर्णयो यत्र तद्भागवतम्' इति यत्तत्पदपूरणेनार्थो ज्ञेयः। अत्यरिच्यतेति सकलवेदार्थानां सहेतुकं विवृत्याविर्भावकत्वात्। तदेवाह;—

अनुवाद—

"पुराणं त्वं भागवतम्" इत्यादि श्लोक से "श्रीमद्भागवतं भक्त्या" इत्यादि श्लोक पर्य्यन्त,—श्रीमद्भागवत का भगवत प्रियत्व एवं भक्तगणों का अभीष्ट प्रदत्व प्रमाणित करके परमसात्त्विकत्व स्थापन किया है ॥२०॥

श्रीमद् भागवत में ब्रह्मसूत्रादि का अर्थनिर्णायकत्व है। गरुड़पुराण के वचन द्वारा श्रीमद् भागवत का परम सात्त्विकत्व स्थापन करने के अभिप्राय से ब्रह्मसूत्रादि का अर्थनिर्णायकत्व गुण कीर्त्तन करते हैं। श्रीमद् भागवत—अतिशय पूर्ण, अति प्राञ्जल अर्थ इस में संक्षिप्त भावसे वर्णित है, ब्रह्मसूत्र का एवं महाभारत का अर्थ इसमें विशेष रूपसे निर्णीत हुआ है। इसमें गायत्री का प्रकृत अर्थ प्रकाशित है। अतः इसको गायत्री भाष्य कहा गया है। वेद का निगूढ़ तात्पर्य्य भी श्रीमद् भागवत में सन्निविष्ट है, सामवेद जिस प्रकार वेद के मध्य में श्रेष्ठ है, उस प्रकार उक्त कारण से श्रीमद् भागवत भी पुराणों के मध्य में प्रधान है, साक्षात् श्रीभगवान् द्वारा कथित होने से इस ग्रन्थ को भागवत कहा गया है। इसमें द्वादश स्कन्ध, पञ्चत्रिंश अधिक तीन शत (३३५) अध्याय एवं अष्टादश सहस्र (१८०००) श्लोक विद्यमान है।

"ब्रह्मसूत्राणां अर्थः" अर्थात् ब्रह्मसूत्रों का अकृत्रिम भाष्य स्वरूप है। श्रीमद् भागवत—प्रथम में समाधिस्थ श्रीकृष्णद्वैपायन के चित्त में आविर्भूत हुए थे, पश्चात् आपने उसका विस्तृतार्थ का संक्षेपकर सूत्र रूपसे प्रकाश किया। अनन्तर उनसे ही विस्ताररूपसे साक्षात् श्रीमद् भागवत का प्रचार जगत् में हुआ है। सुतरां ब्रह्मसूत्र का स्वतःसिद्ध भाष्य स्वरूप श्रीमद् भागवत रहते हुए आधुनिक अपर भाष्यकारगण के

इत्याद्युक्तलक्षणस्य भारतस्यार्थ-विनिर्णयो यत्र सः। श्रीभगवत्येव तात्पर्य्यं तस्यापि। तदुक्तं मोक्षधर्म्मे नारायणीये श्रीवेदव्यासं प्रति जनमेजयेन ;—

"इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यान-विस्तरात्। आमथ्य मतिमन्थेन ज्ञानोदधिमनुत्तमम्॥
नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा। आरण्यं सर्व्ववेदेभ्य ओषधीभ्योऽमृतं यथा॥
समुद्धृतमिदं ब्रह्मन्! कथामृतमिदं तथा। तपोनिधे! त्वयोक्तं हि नारायण-कथाश्रयम्॥" इति॥२१॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

भारतार्थेति पदं व्याकुर्व्वन् भारतवाक्येनैव भारतस्वरूपं दर्शयति;—निर्णयः सर्व्वेति। भारतं किंतात्पर्य्यकमित्याह;—श्रीभगवत्येवेति, तस्य भारतस्यापीत्यर्थः। भारतस्य भगवत्तात्पर्य्यकत्वे नारायणीयवाक्यमुदाहरति;—इदं शतेत्यादि॥२१॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

महत्त्वादिति—षष्टिलक्ष-श्लोकात्मकत्वेन सकल-वेदार्थसंग्राहकत्वात्। भारतत्वात्—परतत्त्वस्मारक-परमभागवत-भरत-वंशप्रसङ्गात्। भारताख्यान-विस्तरात्—भारताख्यान-विस्तारमालोच्य तत्र स्थितं ज्ञानोदधिमामन्थ्य तस्मादिदं कथामृतं समुद्धृतमित्यन्वयः। कथाया अमृतत्वे हेतुः—नारायणकथाश्रयमिति। एतेन यथा नारायणस्य भगवदपरनामकस्य स्वरूप-गुणलीलावर्णनस्य सर्व्वशास्त्र-सारत्त्वात्तदाख्यानाश्रय-भारतमुत्तमं, तथा भगवद्गुण-वर्णनप्रधानत्वेन श्रीभागवतमुत्तममिति दर्शितं, भारतस्यान्य-वर्णन-सम्वलितस्य नारायणीयाख्यानांशस्य उद्धृतसारत्व-कथनात्ततोऽधिक-भगवत्स्वरूपगुणादि-वर्णनमात्रात्मकस्य भागवतस्य भारतादाधिकञ्च सूचितम्॥२१॥

अनुवाद—

भाष्यसमूह स्वकपोल कल्पित है, वे सब श्रीमद् भागवत के अनुकूल होने से ही आदरणीय है। निम्नलिखित लक्षणाक्रान्त महाभारत का अर्थ श्रीमद्भागवतमें विशेष रूपसे निर्णीत होने से इसको "भारतार्थविनिर्णयः" कहा गया है। महाभारत में वर्णित है,—जिसमें समस्त शास्त्रों का सारार्थ निर्णीत है, वह ही 'भारत' है। पूर्वकाल में महर्षि वेदव्यास की अनुमति के अनुसार ब्रह्मादि देवगण ऋषिगण के साथ एकत्र होकर परिमापक यन्त्र के एकदिक में समस्त वेद को अपर दिक् में 'भारत' को स्थापन किए थे, उसमें भारत का भार ही अधिक हुआ था।" इस प्रकार वेद से भारत का महत्त्व, एवं भारवत्ता उपलब्धि होने से उक्त ग्रन्थ "महाभारत" नाम से अभिहित हुआ।

महाभारत का तात्पर्य्य श्रीमद् भागवत में ही है। महाभारतीय मोक्ष धर्म के नारायणीय उपाख्यान वर्णित है—"हे तपोनिधे! जिस प्रकार दधि से नवनीत, मलय पर्वत से चन्दन, वेदसमूह से आरण्यक उपनिषद्, ओषधि से अमृत आविष्कृत हुए हैं, उस प्रकार लक्ष श्लोकात्मक महाभारत की आलोचनापूर्वक तन्मध्यस्थ ज्ञानरूप समुद्र मन्थन करके नारायण का कथाश्रयरूप उपाख्यान अमृत आपसे उद्धृत हुआ है। अर्थात् आपने नारायणीय उपाख्यान का कीर्त्तन किया है॥२१॥

सारार्थः—"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्" यहाँ "अर्थ" शब्द से "अर्थयति बोधयति" इस व्युत्पत्ति के द्वारा "बोधक" अर्थ जानना होगा। अर्थात् ब्रह्मसूत्र का प्रकृत अर्थ ज्ञापक है। ग्रन्थकारने इस पद का ही अर्थ "अकृत्रिम भाष्यभूतम्" शब्द से किया है।

श्रीमद् भागवत का क्रमविकाश का विवरण इस प्रकार है—जिस समय श्रीवेदव्यास—कल्पान्त में अन्तर्हित श्रीमद् भागवत को निखिल जीवों के मङ्गल हेतु आविर्भाव कराने के इच्छुक होकर समाधिस्थ हुए थे, उस समय समस्त वेद के अति निगूढ़ तात्पर्य्य संक्षेप संग्राहक एक पद्य उनके मनमें आविर्भूत हुआ था, वह ही गायत्री का समान अर्थयुक्त है। पश्चात् उसको सूत्ररूप में अर्थात् उपक्रमात्मक ग्रन्थ की अपेक्षा किञ्चित परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित किए थे। अनन्तर दृष्टान्त, युक्ति, अवतारणा, इतिहास, गायत्री का

तथा च तृतीये ;—

"मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापि ते भारतमाह कृष्णः ।
यस्मिन्नृणां ग्राम्य-कथानुवादैर्म्मतिर्गृहीता नु हरेः कथायाम् ॥" [भा० ३, ५, १२] इति ।

तस्मात् गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ—तथैव हि विष्णुधर्म्मोत्तरादौ तद्व्याख्याने भगवानेव विस्तरेण प्रतिपादितः । अत्र "जन्माद्यस्य" इत्यस्य व्याख्यानञ्च तथा दर्शयिष्यते । वेदार्थ-

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

ननु श्रीभागवतस्य भारतार्थ-निर्णायकत्वं कथं प्रतीतमिति चेत्तत्राह ;—तथा तृतीये इति । मुनिरिति—मैत्रेयं प्रति विदुरोक्तिः । ते—मैत्रेयस्य गुरुपुत्रत्वात् सखा, कृष्णो—व्यासः । ग्राम्या—गृहिधर्म-

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

तदेवाह—तथा चेति । कृष्णो—वेदव्यासः, मुनिः—मननेन सर्व्वदर्शी । भगवद्गुणानां,—भगवद्गुणान्, विवक्षुः—नारायणोपाख्यानेन वक्तुमिच्छुः सन् भारतमाह । यस्मिन्—भारते, ग्राम्यसुखानुवादैः—ग्राम्य-सुखान्यनूद्य तत्प्रङ्गेन हरेः कथायां मतिर्गृहीता—नीता, हरिकथायामेव तात्पर्य्यं दर्शितं, ग्राम्यसुखानु-वादस्तु—प्रथमतः कामिनामपि प्रवृत्त्यर्थं, ततश्च तत्रैव ग्राम्यसुखनिन्दया भगवत्तत्त्वमावेदितं श्रेयसे ।

अनुवाद—

तात्पर्य्य एवं उपसंहार प्रभृति के सहित सुबृहत् अर्थसम्बलित परिदृश्यमान श्रीमद् भागवत जगत् में आविर्भूत हुए हैं ।

श्रीमद् भागवत—ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्य—कथन का अभिप्राय यह है कि—श्रीमद् भागवत के विषय, सम्बन्ध, अभिधेय प्रयोजन भी जो हैं, ब्रह्मसूत्र के भी वे ही हैं । कारण—जगत् में जितने व्याख्या ग्रन्थ हैं,—उसका विषय मूल ग्रन्थ से पृथक् नहीं होता है । मूल ग्रन्थ तत्त्वनिचय—व्याख्या ग्रन्थ परिस्फुट होते हैं । श्रीमद्भागवत के आदि मध्य अन्तमें सगुण सर्वशक्तिमान् सविशेष श्रीभगवान् का तत्त्व विकशित हुआ है । सम्बन्ध अभिधेय तत्त्व भी आप ही हैं । भक्ति को अभिधेय कहकर प्रेम के प्रयोजन रूपमें स्थापन किया गया है । सुतरां ब्रह्मसूत्र के सम्बन्धादि भी उसके अनुरूप है । श्रीमाध्व श्रीरामानुज प्रभृति वैष्णवाचार्यवृन्द के भाष्य समूह श्रीमद् भागवत सिद्धान्त के अविरुद्ध होने से ही आदरणीय है ।

मूल ग्रन्थ का अभिप्राय व्याख्या ग्रन्थ के द्वारा परिस्फुट होता है । ग्रन्थ कर्त्ता एवं व्याख्या कर्त्ता पृथक् होने से प्रायशः ही मूलार्थ रक्षित नहीं होता है । यहाँ पर ब्रह्मसूत्र प्रणेता एवं अपौरुषेय श्रीमद् भागवत ग्रन्थ प्रकाशक भी एक महर्षि वेदव्यास हैं । "अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां" आपने स्वयं ही कहा हैं । अतएव प्रमेय निर्णय में शङ्करभाष्यादि का मत प्रतिकूल होने के कारण ग्रन्थकार द्वारा वह परित्यक्त हुआ है ।

महाभारत के अधिकांश स्थल में ही भिन्न भिन्न राजन्यवर्ग, देव, दानव, मुनिऋषि प्रभृति का चरित्र वर्णन, राजधर्म, दानधर्म, व्रत, नियम प्रभृति काम्यकर्म एवं ज्ञानयोग मोक्षधर्मादि का कीर्त्तन दृष्ट होता है । उसके मध्य में शान्ति पर्व में मोक्ष धर्मान्तर्गत नारायणीय प्रकरण में ही भगवान् श्रीनारायण के स्वरूपगुण लीला वर्णन का आधिक्य है । किन्तु श्रीमद् भागवत के अधिकांश स्थल में ही श्रीभगवान् के स्वरूप गुण लीलादि वर्णन का आधिक्य है, विशेषतः मुख्यरूप से श्रीभगवान् के गुणादि कीर्त्तन के द्वारा पूर्णमनोरथ होने से श्रीवेदव्यास का उद्देश्य सफल हुआ था । तज्जन्य महाभारत की अपेक्षा श्रीमद् भागवत की श्रेष्ठता है । महाभारत में सर्वशास्त्रों का सार—श्रीभगवद् गुण वर्णन, साधारणतः अधिकरूप से होने से अन्यान्य शास्त्र की अपेक्षा महाभारत की श्रेष्ठता "नारायण कथाश्रयम्" विशेषण से प्रतिपन्न हुआ है ॥२१॥

श्रीमद् भागवत में सारार्थ निर्णय एवं वेदार्थ निर्णय—श्रीमद्भागवत का सारार्थ निर्णायकत्व सम्बन्ध में तृतीय स्कन्ध के विदुर मैत्रेय संवाद में कथित है,—"मुनिवर ! आपका सखा, सर्वज्ञ मुनि श्रीकृष्णद्वैपायन, श्रीभगवान् के गुण वर्णन में अभिलाषी होकर महाभारत प्रकाश किए हैं । जिसमें ग्राम्य

परिवृंहितः—वेदार्थस्य परिवृंहणं यस्मात्। तच्चोक्तम्;—"इतिहास-पुराणाभ्याम्" इत्यादि। पुराणानां सामरूपः—वेदेषु सामवत् स तेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः। अतएव स्कान्दे;—

"शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः। न यस्य तिष्ठते गेहे शास्त्रं भागवतं कलौ॥
कथं स वैष्णवो ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ। गृहे न तिष्ठते यस्य स विप्रः श्वपचाधमः॥
यत्र यत्र भवेद्विप्र! शास्त्रं भागवतं कलौ। तत्र तत्र हरिर्याति त्रिदशैः सह नारद!
यः पठेत् प्रयतो नित्यं श्लोकं भागवतं मुने! अष्टादशपुराणानां फलं प्राप्नोति मानवः॥" इति।

शतविच्छेदसंयुतः—पञ्चत्रिंशदधिकशतत्रयाध्यायविशिष्ट इत्यर्थः, स्पष्टार्थमन्यत्। तदेवं परमार्थविवित्सुभिः श्रीभागवतमेव साम्प्रतं विचारणीयमिति स्थितम्।

हेमाद्रेर्व्रतखण्डे—

"स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्म्मश्रेयसि मूढ़ानां श्रेय एवं भवेदिह। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥"

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

कर्त्तव्यतादि-लक्षणा व्यवहारिकी—मूषिक-विड़ाल-गृध्र-गोमायु-दृष्टान्तोपेता च कथा। तत्तत्स्वार्थ-कौतुककथा-श्रवणाय भारतसदसि समागतानां नृणां श्रीगीतादि-श्रवणेन हरौ मतिर्गृहीता स्यादिति तत्कथानुवाद एव, वस्तुतो भगवत्परमेव भारतमिति श्रीभागवतेन निर्णीतमित्यर्थः। सामवेदवदस्य श्रैष्ठ्ये स्कान्दवाक्यम्—शतशोऽथेत्यादि,—प्रकटार्थम्। तदेवमिति—उक्तगुणगणे सिद्धे सतीत्यर्थः॥२२॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

एवञ्च भारत-तात्पर्य्यविषयस्य भगवत एव सामस्त्येन वर्णनमय-भागवतस्य भारतादुत्तमत्वं दर्शितम्। एवं 'भगवत इदं—भागवतम्' इति व्युत्पत्तिसिद्ध-नामापि तदुत्कर्षं दर्शयति। यद्यपि ब्रह्मत्व-परमात्मत्वाभ्यामपि परतत्त्वं भागवते दर्शितं, तथापि भगवत्तत्त्वेन ज्ञानस्य संसार-निवृत्तये प्राधान्यात्तदाधिकचेन वर्णनात् "अधिकेन व्यपदेशा भवन्ति" इति न्यायेन भागवताख्यत्वमस्य ग्रन्थस्येति। भगवत्त्वेनोपासनायाः प्राधान्यं, भगवद्गीतायां भगवद्वाक्यं यथा—

"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥" इति।

तथा,—"तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसार-सागरात्।" इति।

गायत्रीभाष्यरूपोऽसाविति। एवञ्च भगवत्परैर्द्विजैरवश्यं गायत्री समुपास्येति। स्त्री-शूद्र-ब्रह्मबन्धूनां पौराणिकमन्त्रेणोपासना कार्य्या।

न च—"नानातन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु।"—इत्येकादशोक्त-जायन्तेयवचनात्,

"य आशु हृदय-ग्रन्थिं निर्जिजहीर्षुः परात्मनः। विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥"—

अनुवाद—

कथा—अर्थात् गृहस्थगणों के कर्त्तव्यरूप में निर्दिष्ठ व्यवहारिक मुषिक विड़ाल गृध्र प्रभृति के दृष्टान्तयुक्त कथा कीर्त्तन के द्वारा, भारत सभा में समागत श्रोतृवृन्द के चित्त हरि कथा रस में आकृष्ट हुये थे।

हेमाद्रिकार के व्रत खण्ड में श्रीमद् भागवत पद्य का उल्लेख करके महाभारत की तुलना वेद के साथ की गई है "स्त्रीशूद्र एवं आचरण विहीन ब्राह्मणगणों का श्रुति श्रवण में अधिकार नहीं है। वे सव वैदिक धर्म श्रवण में असमर्थ होकर साधारण जीवों का कर्त्तव्य क्या है, ज्ञात नहीं हुये। तज्जन्य परम कृपालु भगवान् श्रीवेदव्यास महाभारत ग्रन्थ का प्रकाश किए थे।" "भारतार्थविनिर्णयः" श्रीमद् भागवत के इस शब्द से महाभारत को वेदार्थ की तुलना में स्वीकार किया गया है, यह अर्थ हेमाद्रिकार के मतानुसार से ही हुआ है।

इति वाक्यं श्रीभागवतीयत्वेनोत्थाप्य भारतस्य वेदार्थ-तुल्यत्वेन निर्णयः कृत इति तन्मतानुसारेण त्वेवं व्याख्येयं;—भारतार्थस्य विनिर्णयः—-वेदार्थतुल्यत्वेन विशिष्य निर्णयो यत्रेति। यस्मादेवं भगवत्परस्तस्मादेव "यत्राधीकृत्य गायत्रीम्"**—इति कृतलक्षण-श्रीमद्-भागवतनामा ग्रन्थः श्रीभगवत्पराया गायत्र्या भाष्यरूपोऽसौ।**

तदुक्तं—"यत्राधीकृत्य गायत्रीम्"**—इत्यादि। तथैव हि अग्निपुराणे तस्य व्याख्याने विस्तरेण प्रतिपादितः।**

तत्र तदीयव्याख्या-दिग्दर्शनं यथा ;—

"तज्ज्योतिः परमं ब्रह्म भर्गस्तेजो यतः स्मृतः।"

इत्यारभ्य पुनराह;—

"तज्ज्योतिर्भगवान् विष्णुर्जगज्जन्मादिकारणम्। शिवं केचित् पठन्ति स्म शक्तिरूपं वदन्ति च॥
केचित् सूर्य्यं केचिदग्निं दैवतान्यग्निहोत्रिणः। अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि वेदादौ ब्रह्म गीयते॥" **इति।**

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

इत्येकादशीयभगवद्वचनात्,

"आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः। नहि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥"—

इति तन्त्रसारधृत-वचनाच्च तान्त्रिकोपासनैव कार्य्येति वाच्यं; तत्तद्वचनानां कलौ प्राधान्येन तान्त्रिकोपासनायाः कर्त्तव्यतापरत्वात्,

"वैदिकी तान्त्रिकी सन्ध्या यथानुक्रमयोगतः।"—

इति तन्त्रसारधृत-वचनादिना वैदिक-तान्त्रिकभजनसमुच्चयज्ञापनात्,

"वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्।"—

इत्येकादशीय-भगवद्वचनाच्च। न च—द्वापरयुगोपासनायां "यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां" इत्युक्त्वा—

"नानातन्त्र-विधानेन कलावपि तथा शृणु।"—

इत्यादिवचनात् द्वापरयुगोपासनायां वैदिक-तान्त्रिक-समुच्चयः; न तु कलाविति वाच्यम्। द्वापरे वेदस्य प्राधान्यं, कलौ च तन्त्रस्य प्राधान्यमिति, समुच्चयस्तु युगद्वय एवेति विशेषात्, अन्यथा नानाश्रुति-

अनुवाद—

श्रीमद् भागवत गायत्री का भाष्य है,—उल्लिखित प्रमाणानुसार जब महाभारत भगवत्तत्त्व प्रतिपादक रूपमें स्थिरीकृत हुआ, तब उस महाभारत में वेदार्थ निर्णय होने से, वेद भी भगवत्पर है, एवं वेदमाता गायत्री भी भगवत्परा है। सुतरां "यत्राधिकृत्य गायत्रीं" इस लक्षणाक्रान्त भगवत्पर श्रीमद् भागवत में गायत्री का अर्थ विस्तृतरूपसे वर्णित होने से श्रीमद् भागवत भगवत्पर गायत्री का भाष्यस्वरूप है। यह उक्त "यत्राधिकृत्य गायत्रीम्" इत्यादि श्लोक से ही समर्थित हुआ है। एवं अग्निपुराण के वचन से भी उसका विस्तृत प्रतिपादन हुआ है। उसका उल्लेख संक्षेप से हो रहा है,—

"वह ज्योतिः"—चेतन ही परब्रह्म है, कारण "भर्ग" शब्द तेज का वाचक है, तेज स्वयं प्रकाश होकर भी अपर को प्रकाश करता है, सुतरां उसको चैतन्य कहते हैं। चैतन्य एवं उसका आश्रय ब्रह्म है। पदार्थद्वय में अभेदत्व होने से उसका तात्पर्य्य चेतन में ही है। यहाँ "ज्योतिः" शब्द से गायत्रीस्थित "भर्ग" शब्द की व्याख्या हुई है। इसको विस्तार से कहते हैं—वह ज्योति ही जगत के जन्म स्थिति लय के कारण —भगवान् श्रीविष्णु है, उनको कोई कोई शिव, शक्ति, सूर्य्य, अग्नि एवं अग्निहोत्रीगण अनेकानेक देवता के नाम से उपासना करते हैं। कारण वेदादि में एक विष्णु को ही स्थान स्थान में अग्नि प्रभृति देवता रूपमें कीर्त्तन किया गया है। कभी तो उनको ब्रह्म शब्द से कहा गया है, सुतरां सबकुछ ही विष्णुपर है।

अत्र 'जन्माद्यस्य' इत्यस्य व्याख्यानञ्च तथा दर्शयिष्यते। 'कस्मै येन विभाषितोऽयम्' इत्युपसंहारवाक्ये च 'तच्छुद्धम्' इत्यादि-समानमेवाग्निपुराणे तद्व्याख्यानम्।

"नित्यं शुद्धं परं ब्रह्म नित्यभर्गमधीश्वरम्। अहं ज्योतिः परं ब्रह्म ध्यायेम हि विमुक्तये॥" इति।

अत्राहं ब्रह्मेति—'नादेवो देवमर्च्चयेत्' इति न्यायेन योग्यत्वाय स्वस्य तादृक्त्व भावना दर्शिता। ध्यायेमेति—अहं तावत् ध्यायेयं, सर्व्वे च वयं ध्यायेमेत्यर्थः। तदेतन्मते तु मन्त्रेऽपि भर्ग-शब्दोऽयमदन्त एव स्यात्। 'सुपां सुलुक्' इत्यादिना छान्दससूत्रेण तु द्वितीयैकवचनस्य 'अमः' 'सु' भावो ज्ञेयः। यत्तु द्वादशे—'ॐ नमस्ते' इत्यादिगद्येषु तदर्थत्वेन सूर्य्यः स्तुतः, तत् परमात्मदृष्ट्यैव; न तु स्वातन्त्र्येणेत्यदोषः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

स्मृति-पुराणादि-विरोधापत्तेरिति। दिग्दर्शनं—संक्षिप्तार्थक-वचनम्, दिशो दर्शनं यत इति व्युत्पत्तेः, दिशं दर्शयतीति वा। तत् ज्योतिः—चेतनम्, इदं भर्गशब्दार्थः। तस्य भर्गशब्दार्थत्वे हेतुमाह,—भर्गः—भर्गशब्दः, यतस्तेजः तेजोवाचकः स्मृतः। तेजः—स्वपरप्रकाशकत्वाच्चैतन्यम्; चैतन्यतदाश्रययोर-भेदाच्चेतन एव तत्पर्य्याप्तेः। किं तच्चेतन-मित्याकाङ्क्षायां तात्पर्य्यं निर्द्दिशति,—परमं ब्रह्मेति।

"प्रणव-व्याहृतिभ्याञ्च गायत्र्या त्रितयेन च। उपास्यं परमं ब्रह्म आत्मा यत्र प्रतिष्ठितः॥"

इति योगि-याज्ञवल्कचवचनमपि तथा बोधयति। पाद्मे च नारदं प्रति ब्रह्मवाक्यम्,—

"कृष्णाख्यन्तु परं ब्रह्म भुवि जातं न संशय॥" इति।

जातम् आविर्भूतम्। एवञ्च भर्गशब्देन कृष्ण एव निर्द्धारितः। तदेव स्फुटयति,—"तज्ज्योतिर्भगवान् विष्णुः" इति, स्वयंभगवत्त्वस्य कृष्णे निरुक्तत्वादत्र भगवच्छब्द-सहचरितत्वेन विष्णु-शब्दः—श्रीकृष्णपरः। "जगज्जन्मादिकारणम्" इत्यभेदार्थक-षष्ठ्यन्त-सवितृपद-लभ्यम्; सवितुः—प्रसवितुरित्यर्थात्। 'देवस्य' इति विशेषणेन क्रीड़ायुक्तत्वं लभ्यते, क्रीड़ा च शरीरं विना न—इति शरीरित्वं भगवत्त्वञ्च लब्धम्; तच्च शरीरं स्वाभाविकमिति सात्वतैर्व्यवस्थापितम्। "धियो यो नः प्रचोदयात्" इत्यनेन बुद्धि-वृत्ति-प्रवर्त्तकत्वं-लक्षणपरमात्मत्वं ब्रह्मणो दर्शितम्—इति ब्रह्म-परमात्म-भगवदाख्यानकं वस्तु गायत्री-प्रतिपाद्यम्। यद्वा—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुत्या जगत्स्रष्टुरेव जगदन्तर्वर्त्तितया बुद्धिवृत्ति-प्रवर्त्तकत्वात् "धियो

अनुवाद—

"जन्माद्यस्य" इस श्लोकमें गायत्री की व्याख्या विष्णुपर ही है, केवल प्रथम श्लोक में ही नहीं। श्रीमद् भागवत के उपसंहार श्लोक में "कस्मै येन विभावितोऽयम्" इत्यादि उपसंहार वाक्य में भी "शुद्धं, विमलं, विशोकं, अमृतं, सत्यं, परं एवं धीमहि" इत्यादि शब्द के सहित अग्निपुराण के "नित्यं, शुद्धं, परं, भर्गं, अधीश्वरं, ज्योतिः, अहं ब्रह्म एवं ध्यायेमहि" वाक्य की समता है। अग्निपुराण में "अहं ब्रह्म" शब्द दृष्ट होता है, यह बोध होता है कि—"नादेवोदेवमर्च्चयेत्" अदेव अर्च्चन के अनुपयुक्त होकर—देव-अभीष्ट देव की अर्च्चना न करें। इस नियमानुसार "ब्रह्माहं" भावना भजनयोग्यता रूपमें मैं नित्यमुक्त भगवद् दास हूँ, इस प्रकार भावना ही सङ्गत है। कारण, शुद्ध भक्तगण के लिए अहंग्रहोपासना मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार उपासना अभीष्ट नहीं है। केवल मुमुक्षु के लिए उक्त भावना सायुज्य का अनुकूल है। अग्नि पुराण के उक्त वाक्य में "ध्यायेमहि" क्रिया है, उसमें बहुत्व का अनुसन्धान न करके "अहं ध्यायेयम्" अर्थात् "मैं ध्यान करता हूँ। इस अर्थ में हम सब ध्यान करते हैं," अर्थ पर्य्यवसित होगा।

मतान्तर में "स" कारान्त "भर्गस्" शब्द होने पर भी अग्निपुराण के मत में अकारन्त "भर्ग" शब्द का प्रयोग है, गायत्री में जो "भर्ग" शब्द है, वह द्वितीया के अम का है। कारण "सुपां सुलुक्" छान्दस सूत्र से "अम" के स्थान में सु विभक्ति हुई है।

तथैवाग्रे श्रीशौनक-वाक्ये ;—

"ब्रूहि नः श्रद्दधानानां व्यूहं सूर्य्यात्मनो हरेः।" इति।

न चास्य भर्गस्य सूर्य्यमण्डलमात्राधिष्ठानत्वम्। मन्त्रे वरेण्यशब्देन, अत्र च ग्रन्थे परशब्देन परमैश्वर्य्यपर्य्यन्ततया दर्शितत्वात्। तदेवमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

"ध्यानेन पुरुषोऽयञ्च द्रष्टव्यः सूर्य्य-मण्डले सत्यं सदाशिवं ब्रह्म तद्विष्णोः परमं पदम्॥" इति।

त्रिलोकी-जनानामुपासनार्थं प्रलये विनाशिनि सूर्य्यमण्डले चान्तर्य्यामितया प्रादुर्भूतोऽयं पुरुषो ध्यानेन द्रष्टव्यः--उपासितव्यः। यत्तु विष्णोस्तस्य महावैकुण्टरूपं परमं पदं, तदेव

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

यो नः प्रचोदयात्' इत्यनेन जगत्कारणत्वमपि दर्शितम्। "देवस्य सवितुः" इति सूर्य्यपरं, षष्ठ्या अन्तर्गततत्वरूपसम्बन्धो भर्गपदार्थान्वयी लभ्यत इति। "शिवं केचित्" इत्यादिकमपि विष्णुपरमेवेत्याह— 'अग्न्यादिरूपी विष्णुर्हि'इति। अत्र गायत्रीव्याख्याने। तथा विष्णुपरतया। तच्छुद्धमित्यादिसमानमिति—

"कस्मै येन विभाषितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाऽथ भगवद्राताय कारुण्यतस्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥"
[भा० १२-१३-१९]

इति द्वादपस्कन्ध-शेषीय-तच्छुद्धमित्यादि-समानार्थकमित्यर्थः। अग्निपुराणीय-तद्व्याख्यानञ्च दर्शयति— "नित्यम्" इत्यादि। अत्र पद्यटीका,—"कस्मै—ब्रह्मणे, अयं—श्रीभागवतरूपः, पुरा—कल्पादौ, तद्रूपेण—ब्रह्मरूपेण, तद्रूपिणा—नारदरूपिणा, योगीन्द्राय—शुकाय, तदात्मना—शुकरूपेण, तत् परं सत्यं—श्रीनारायणाख्यं धीमहीति। धीमहीति—गायत्र्यैव यथोपक्रममुपसंहरन् गायत्र्याख्यब्रह्मविद्येयमिति दर्शयतीति।" शुद्धं—प्रकृत्यतीतं, विमलं—रागादिरहितं, विशोकं—दुःखरहितम्, अमृतं—नित्यम्। अग्निपुराण-वचने गायत्रीजपे तदर्थ-ध्यानपूर्व्वकत्वं मन्त्रलिङ्गेनावगतमिति दर्शयन् ध्यानाकारमाह ;— भर्गं धीमहि—ध्यायेमहीति मन्त्रे योजना। तत्र भर्गशब्द-प्रतिपाद्यतावच्छेदकरूपेण ध्यानपर्य्यवसानं दर्शयति ; नित्यं—अविनाशि, शुद्धं—प्रकृतेः परं, परं—निरतिशयं, नित्यं—सर्व्वदासमं, अधीश्वरं— सर्व्वेश्वरं ब्रह्म ध्यायेम। अधीश्वरं ब्रह्मेति—भर्गशब्देन, शुद्धमित्यादि—वरेण्य-शब्देन बोध्यत इति वा। आत्मनः स्वरूपमाह—अहं ज्योतिः इति, देहात्मता-व्यावर्त्तनाय—यज्ज्योतिः चेतनं परं ब्रह्मेति। अत्र

अनुवाद—

श्रीमद् भागवत के द्वादश स्कन्ध में "ओं नमस्ते भगवते आदित्याय" वाक्य से जो सूर्य्य की स्तुति है, वह सूर्य्यान्तर्य्यामी परमात्मा श्रीभगवान् को लक्ष्य कर ही है। उनके साथ ऐक्य बुद्धि से श्रीभगवान् का अधिष्ठान सूर्य्य है, भगवान् अधिष्ठाता है, यह अधिष्ठान अधिष्ठाता का अभेद जानना होगा। यहाँ स्वतन्त्र रूपसे सूर्य्य स्तुति नहीं है। सुतरां श्रीमद् भागवत की भगवत्परता हानि नहीं हुई है।

श्रीमद् भागवत के शौनक वाक्य ही उसका प्रमाण है,—"सूत ! हम सव श्रद्धालु हैं, सुतरां आप श्रीसूर्य्य के अधिष्ठाता भगवान् श्रीहरि के अवतार का कीर्त्तन करो।" भर्ग का अधिष्ठान सूर्य्यमण्डल ही है, ऐसा नहीं, गायत्री में "वरेण्य" शब्द के द्वारा भी, एवं श्रीमद् भागवत के "पर" शब्द के द्वारा जिसका पारमैश्वर्य्य पर्य्यन्त वृत्ति प्रदर्शित हुई है। इस प्रकार अर्थ अग्निपुराण में भी है—

"सूर्य्य मण्डल में—श्रीविष्णुरूप की चिन्ता करें, अर्थात् त्रिलोक स्थित जीवों की उपासना के निमित्त, प्रलय काल में विनश्वर सूर्य्य मण्डल में भी श्रीविष्णु अन्तर्य्यामि रूपमें प्रादुर्भूत हैं, इस प्रकार भावना से उपासना करें।" सूर्य्य मण्डलात्म अधिष्ठान—अनित्य, तव भगवान् के कौन अधिष्ठान नित्य है ? इसके उत्तर में कहते हैं—"श्रीमहाविष्णु के महावैकुण्ठ नामक जो सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वह सत्य हैं, भूत भविष्यत्

सत्यं--कालत्रयाव्यभिचारि, सदाशिवं--उपद्रवशून्यं, यतो ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः। तदेतद्-गायत्रीं प्रोच्य पुराणलक्षण-प्रकरणे यत्राधिकृत्य गायत्रीमित्याद्यप्युक्तमग्निपुराणे। तस्मात्;--

"अग्नेः पुराणं गायत्रीं समेत्य भगवत्पराम्। भगवन्तं तत्र मत्वा जगज्जन्मादिकारणम्॥
यत्राधिकृत्य गायत्रीमिति लक्षणपूर्व्वकम्। श्रीमद्भागवतं शश्वत् पृथ्वयां जयति सर्व्वतः॥"

तदेवमस्य शास्त्रस्य गायत्रीमधिकृत्य प्रवृत्तिर्दर्शिता। यत्तु सारस्वतकल्पमधिकृत्येति पूर्व्वमुक्तं, तच्च गायत्र्या भगवत्प्रतिपादकवाग्विशेषरूपसरस्वतीत्वादुपयुक्तमेव। यदुक्तमग्नि-पुराणे;--

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

प्रमाणं—"तत्त्वमसि श्वेतकेतो!" (छान्दो० ६, ८, ७) "अहं ब्रह्मास्मि" (वृ० १, ४, १०) इत्यादि श्रुतिः। इदन्तु ब्रह्माभेदेन स्वात्म-चिन्तनं—मुमुक्षुपक्षे अतएव 'विमुक्तये' इति वचने दर्शितम्। "नादेवो देवमर्च्चयेत्" इति न्यायेन तत्त्वमस्यादि-श्रुतितात्पर्य्यावधारणेन 'नादेव' इत्यत्र देवपदं—स्वाभीष्टदेव-स्वरूपत्वेन स्वात्मभावनारहित इत्यर्थः। शुद्धभक्तानान्तु—'भगवद्दासोऽस्मि' इत्यादिचिन्तनं, 'तत्त्वमस्या-'दिश्रुतीनां तथैव तात्पर्य्यकल्पनादिति। योग्यत्वाय—ध्यानयोग्यत्वाय। 'ध्यायेम' इत्यत्र बहुत्वमविवक्षितम्। बहुवचनप्रयोगोऽपि 'छान्दसः' इति द्योतयन्नाह—अहं ध्यायेयमिति, इदञ्च वयं ध्यायेम इत्यर्थ-विवरणम्। ननु भर्गपदस्य धीमहीति-क्रिया-कर्म्मतया भर्गमित्येव भवितुमर्हति? न च—नपुंसक-सान्तभर्गःशब्द-प्रयोगोऽयमिति वाच्यम्, अग्निपुराणीयवचने भर्गमधीश्वरमिति निर्द्देशासङ्गतेरित्यत आह,—एतन्मतेत्विति, 'तु' शब्देन सान्तभर्गशब्द-प्रयोगो मतान्तरे बोध्यः।

"ॐ नमस्ते" इत्यादि-गद्येष्विति;—

"ॐ नमस्ते भगवते आदित्यायाखिलजगतामात्म-स्वरूपेण च चतुर्विधभूत-निकायानां ब्रह्मादि-स्तम्बपर्य्यन्तानामन्तर्हृदयेषु वहिरपि चाकाश इवोपाधिनाऽव्यवधीयमानो भगवानेक एव क्षणलवनिमेषा-वयवोपचित-सम्वत्सरगणेनापामादानविसर्गाभ्यामिमां लोकयात्रामनुवहति"—इत्यादि गद्येष्वित्यर्थः।

अनुवाद—

वर्त्तमान कालत्रय में ही व्यभिचार शून्य है, अर्थात् अवस्था का परिवर्त्तन नहीं होता है, वहाँ उपद्रव भी नहीं है। कारण ब्रह्मस्वरूप श्रीवैकुण्ठ का कीर्त्तन हुआ है।

उक्त श्लोक की व्याख्यामें जो "महावैकुण्ठ" शब्द है, उससे महावैकुण्ठ प्रभृति समस्त भगवद्धाम का बोध होता है। कारण मथुरादि धाम का नित्यत्व प्रतिपादन शास्त्र में है। और भी देखने में आता है—विष्णु शब्द से भगवत्ता निर्विशेष से 'श्रीकृष्ण' का भी ग्रहण हुआ है, सुतरां अग्निपुराणस्थ गायत्री का उपास्य निश्चय रूपसे गृहीत न होने से श्रीकृष्णपर श्रीमद् भागवत गायत्री का भाष्य,—इस कथन की सङ्गति नहीं होती है, कारण—"ध्यानेन पुरुषोऽयञ्च" इस पद्य से गायत्री का अर्थ ही परिस्फुट हुआ है। एवं इस प्रकरण में भागवत के सहित गायत्री अर्थ का सामञ्जस्य दर्शाया गया है। उल्लिखित श्लोक के "विष्णु" शब्द से "श्रीकृष्ण" का बोध न होने से श्रीमद् भागवत की गायत्री भाष्य रूपता सिद्ध नहीं होती है। विशेषतः श्रीकृष्ण एवं श्रीविष्णु में सिद्धान्ततः कुछ भेद नहीं है।

"सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश-कृष्णस्वरूपयोः। रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥"

श्रीवैकुण्ठ ब्रह्मस्वरूप भगवान् का नित्याधिष्ठान है। एतज्जन्य इसको भी ब्रह्मस्वरूप कहा गया है।

गायत्री भी श्रीकृष्णपर ही है, तज्जन्य अग्निपुराण गायत्री का वर्णन करके, पुराण लक्षण कथन के समय "यत्राधिकृत्य गायत्रीं" इत्यादि पद्य को कहे हैं। एतज्जन्य—अर्थात् गायत्री अर्थ की उत्कृष्टता कीर्त्तन पूर्वक श्रीमद्भागवत का लक्षण कथनसे उसका उत्कर्ष प्रतिपन्न हो रहा है। अग्निपुराण भगवत्परा

"गायत्युक्थानि शास्त्राणि भर्गं प्राणांस्तथैव च। ततः स्मृतेयं गायत्री सावित्री यत एव च।
प्रकाशिनी सा सवितुर्वाग्रूपत्वात् सरस्वती॥" इति।

अथ क्रमप्राप्ता व्याख्या ;—

वेदार्थपरिवृंहित इति—वेदार्थानां परिवृंहणं यस्मात्, तच्चोक्तमितिहासपुराणाभ्यामिति। पुराणानां सामरूप इति—वेदेषु सामवत् पुराणेषु श्रेष्ठ इत्यर्थः। पुराणान्तराणां केषाञ्चिदापाततो रजस्तमसी जुषमाणैस्तत्परत्वाप्रतीतत्वेऽपि वेदानां काण्डत्रयवाक्यैकवाक्यतायां यथा साम्ना तथा तेषां श्रीभागवतेन प्रतिपाद्ये श्रीभगवत्येव पर्य्यवसानमिति भावः।

तदुक्तम् ;—

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्व्वत्र गीयते॥" इति।—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अत्र "ॐ नमो भगवते" इत्यादि पाठः क्वचित्। तदर्थत्वेन—गायत्रीप्रतिपादितार्थत्वेन। तथाहि भगवत्त्वाखिलात्मकत्वाकाशवत्-सर्व्वगतत्व-लक्षणब्रह्मत्व-कालाख्यशक्तित्वादिना एषु गद्येषु सूर्य्यस्य प्रतिपादनात् गायत्री-प्रतिपादितः सूर्य्य एवेति विरोधः। 'सवितुः' इत्यत्र षष्ठ्या अभेदार्थ-विवक्षणाच्च। गद्ये 'अपामादान-विसर्गाभ्यां' इत्यादिना सूर्य्यस्य वृष्टिद्वारा लोकपालकत्वमुक्तम्। विरोधं परिहरति,—तत्परमात्मदृष्ट्यैवेति। तत्—सूर्य्यस्तवनं, परमात्मदृष्ट्या—अन्तर्य्यामि-भगवदैवचबुद्ध्या, सूर्य्यस्य भगवदधिष्ठान-विशेषत्वेनाधिष्ठात्र्यधिष्ठानाभेदबुद्ध्या च वैराजस्य तदन्तर्य्यामि-भगवदैवचबुद्ध्या तदुपासनमुक्तं द्वितीयस्कन्धे,तथाच सूर्य्यस्य भगवदावेशावतारताभिप्रायेण तथोक्तमिति भावः। एतदेव स्पष्टयति,—"व्यूहं सूर्य्यात्मनो हरेः" इति। व्यूहं—अवतारं, सूर्य्यात्मनः—सूर्य्य आत्मा—अधिष्ठानत्वेन स्वरूपो यस्य सः;—सूर्य्यात्मा—तस्य। अन्यथा "भीषाऽस्मादुदेति सूर्य्यः" इत्यादिश्रुति-विरोधः स्यादिति भावः। एवञ्च जगत्कारणस्वरूपं सवितृत्वमुपचर्य्य सूर्य्येऽपि सवितृपदप्रयोग इति। अत एव गद्येष्वपि 'परमात्मना' इत्यनुक्त्वा 'परमात्मस्वरूपेण' इत्युक्तम्। परमात्मस्वरूपत्वेनेति तदर्थः। एवमन्यत्रापि क्वचित् सूर्य्यस्य परमात्मत्वमुक्तमेतदभिप्रायेणैवेति। अत्र च श्रीभागवताग्निपुराणादौ दर्शितत्वादिति।

अनुवाद—

गायत्री की व्याख्या किये हैं, एवं उस गायत्री से जगत् जन्मादि का कारण निर्णय करके समस्त जगत् का सार अर्थ प्रकाश हेतु निरन्तर जययुक्त हो रहे हैं, एवं श्रीमद् भागवत भी उस प्रकार श्रीभगवान् को गायत्री प्रतिपाद्य रूप से निश्चय कर जगत् में सर्वोत्कर्षमण्डित हुए हैं।

श्रीमद् भागवत की प्रवृत्ति सारस्वत कल्प को अवलम्बन कर हुई है, कहा गया है, वह भी असङ्गत नहीं है। कारण सरस्वती भी गायत्री का भगवत् प्रतिपाद्य वाक्य की अधिष्ठात्री वाग्देवी हैं, कारण—अग्निपुराण में उक्त हैं,—"उक्थ—वेदात्मक-शास्त्र, भर्गाख्य ब्रह्म, इन्द्रिय, सावित्री गान को प्रकाश करते हैं, अतः "गायत्री" कहते हैं। वेदादि शास्त्र कर्त्ता सविता का वाक्य रूप होने से सरस्वती गायत्र्यर्थ को प्रकाश करती है।" इस प्रकार विष्णु धर्मोत्तरादि ग्रन्थ में गायत्री की व्याख्या से श्रीभगवान् ही विस्तृत रूपसे प्रतिपादित हुए हैं। यहाँ पर "जन्माद्यस्य" इत्यादि प्रथम श्लोक की व्याख्या का प्रदर्शन गायत्र्यर्थ के साथ समन्वय करके करेंगे।

सम्प्रति गरुड़पुराण के वचन स्थित विशेषण पद की क्रमिक व्याख्या करते हैं—"परिवृंहितः" जिसमें समस्त वेदार्थ विस्तृत रूपसे है, इस अर्थ का प्रकाश "इतिहासपुराणाभ्यां" इत्यादि श्लोक से प्रकाशित हुआ है। अर्थात् वेद में जो विषय स्वल्पाक्षर एवं परोक्ष भावसे है, श्रीमद् भागवत में उक्त विषय सुस्पष्ट एवं विस्तृत रूपसे वर्णित है।

प्रतिपादयिष्यते च तदिदं परमात्मसन्दर्भे। साक्षाद्भगवतोदित इति ;—'कस्मै येन विभाषितोऽयं' इत्युपसंहारवाक्यानुसारेण ज्ञेयम्। शतविच्छेदसंयुत इति—विस्तरभिया न विव्रियते। तदेवं श्रीमद्भावतं सर्व्वशास्त्रचक्रवर्त्तिपदमाप्तमिति स्थिते 'हेमसिंहसमन्वितं' इत्यत्र 'हेमसिंहासनारूढ़म्' इति टीकाकारैर्यद्व्याख्यातं तदेव युक्तम्।

अतः श्रीमद्भागवतस्यैवाभ्यासावश्यकत्वं श्रेष्ठत्वञ्च स्कान्दे निर्णीतम् ;—

"शतशोऽथ सहस्रैश्च किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।

तदेवं परमार्थविवित्सुभिः श्रीभागवतमेव साम्प्रतं विचारणीयमिति स्थितम् ॥२२॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तथा च यथाऽन्तर्यागादौ हृत्पद्मे, वहिःपूजादौ श्रीवृन्दावनादौ भगवद्रूपध्यानं विधेयतयोक्तं तथा गायत्री-जपादौ सूर्य्यमण्डले तद्ध्यानं, अतएव सन्ध्यायामपि गायत्रीजपमन्त्रजपयोरपि सूर्य्यमण्डले भगवद्ध्यान-मुक्तम्, अन्यदा तु,—

"सर्व्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः। भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥" इत्यादि कथितम्।

यत्र यदा यद्भावनया भगवदुपासनमुक्तं तत्र तथैव कार्य्यम्, अन्यथा—

"श्रुति-स्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्त्तते। आज्ञाच्छेदी ममद्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥"

इत्याद्युक्तदोषप्रसङ्गात्।

तदेवमिति। सूर्य्यमण्डले यद्ध्यानं—तत्, एवं—विधेयमुपासनरूपम्। ध्यानेन इति 'द्रष्टव्यः' इति—द्वाभ्यां पदाभ्यां ध्यानात्मकदर्शनं कार्य्यमिति विधेयता लभ्यते। पुरुषः—अन्तर्य्यामी। ध्यानमाह—सत्यमिति, सदाशिवं—सत्कल्याणदं शान्तञ्च, पदं—स्वरूपं, इदञ्च यथाश्रुतं व्याख्यातम्। ग्रन्थकारस्तु—पूर्व्वार्द्धं प्रकृताभिप्रायकमिति। तस्य तात्पर्य्यमुपसंहरति—त्रिलोकीजनानामिति। प्रलयविनाशिनि—

अनुवाद—

"पुराणानां सामरूपः" श्रीमद् भागवत पुराण समूह के मध्य में सामरूप है। अर्थात् "वेदानां सामवेदोऽस्मि" कथानुसार वेद के मध्य में सामवेद जिस प्रकार श्रेष्ठ है, उस प्रकार पुराण के मध्य में श्रीमद् भागवत श्रेष्ठ है। कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, देवताकाण्डात्मक वेद साक्षात् रूपसे निज निज विषय प्रतिपादन तत्पर हैं। सामवेद साक्षात् रूपसे ही भगवत् प्रतिपादक है, अन्यान्य वेदों का तात्पर्य्य भी भागवत्पर है, उस प्रकार राजसिक तामसिक गुणसम्पन्न पुराणसमूह का तात्पर्य्य भी श्रीमद् भगवत् प्रतिपाद्य स्वयं भगवान् में परम्परा रूपसे है। शास्त्र का कथन भी है—"वेद, रामायण, पुराण, भारत—शास्त्र के आदि मध्य अन्त सर्वत्र ही श्रीहरि कीर्त्तन हुये हैं, इसका प्रतिपादन परमात्म सन्दर्भ में भी होगा।

श्रीमद् भागवत की श्रेष्ठता का वर्णन स्कन्दपुराण में भी है—कलिकाल में जिसके गृह में भागवत शास्त्र नहीं है, उसका अपरापर शास्त्र से क्या प्रयोजन है? कलि में जिसके घरमें श्रीमद् भागवत नहीं है, उसको वैष्णव कैसे कहेंगे? हे विप्र नारद! कलि में जहाँ श्रीमद् भागवत विराजित हैं, भगवान् श्रीहरि समस्त देवगणों के सहित उस स्थान में आविर्भूत होते हैं, मुनिवर! जो जन संयत चित्तसे नित्य श्रीमद्भागवत के एक श्लोक का पाठ भी करता है, वह अष्टादश पुराण पाठ का फललाभ करता है।

साक्षात्भगवतोदितः,—साक्षात् भगवान् जिस श्रीमद् भागवत का कथन ब्रह्माजी के निकट किए थे, उसका विवरण श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के त्रयोदश अध्याय में है,—"कस्मै येन विभाषितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा।"

शतविच्छेदसंयुतः,—तीनशत पैत्रिश अध्याय युक्त है। इस प्रकार श्रीमद् भागवत समस्त शास्त्रों के मध्य में चक्रवर्त्तीरूप होने से "हेमसिंहसमन्वितम्" हेम सिंहासनारूढ़ कहते हैं। "शतशोऽथ सहस्रैस्तु"

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

इत्युक्त्वा मण्डलात्मकस्य सूर्य्यस्य जगत्कारणत्वादिलक्षण—गायत्र्यर्थताविरहेण न सूर्य्योपासने तात्पर्य्यं, किन्तु तदन्तर्य्यामिपुरुषस्योपासनमिति दर्शितम् । वचनद्वितीयार्द्धमन्य-तात्पर्य्यकमिति । तद्व्याख्यान-माह—यत्त्विति—पूरणेन । तथा च विष्णोर्यन्महावैकुण्ठाख्यं परमं सर्व्वोत्कृष्टं पदं स्थानं ; तत्—तदेव । सूर्य्यमण्डलात्मकाधिष्ठानस्यानित्यत्वं मनसि विचार्य्य 'भगवतः किमधिष्ठानं नित्यं ?' इति प्रष्टुर्जिज्ञासायां यद्विशेषाभिधानं, तद्विशेषस्यैव नित्यत्वे वक्तुस्तात्पर्य्यस्य कल्पतयाऽवगमात् तदेव—इत्येव-कारपूरणमिति भावः । अत्र महावैकुण्ठरूपमिति यदुक्तं ; तन्महावैकुण्ठादि-परम्, अन्यथा मथुरादिनां नित्यधाम्नां सत्त्वात् तदेवेत्येव-कारासङ्गतिः स्यात् । न च—विष्णोर्धामसु तदेव सत्यमित्यर्थे तात्पर्य्यमिति वाच्यं, विष्णुपदेनात्र भगवत्त्वेन कृष्णस्यापि ग्रहणात् । अन्यथा गायत्र्यर्थत्वेन तस्याऽप्राप्तौ गायत्रीतात्पर्य्यार्थविवरणरूपश्रीभागवतप्राधान्येन तत्परता न स्यादिति, "सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश—कृष्णस्वरूपयोः" इति रसामृतसिन्धु-कारिकया तयोरैक्याच्चेति । ब्रह्मस्वरूपत्वं ब्रह्माख्यभगवन्नित्याधिष्ठान-त्वेन । तदेतद्गायत्रीमिति—सा सर्व्ववेदसारभूता या एषा तज्जज्योतिः परमं ब्रह्म त्यादिना व्याख्यासहिता या गायत्री तां प्रोच्येत्यर्थः । अग्निपुराणे—"यत्राधिकृत्य" इत्याद्यप्युक्तम्; अर्थात् मुनिना इत्यर्थः । अपिना—पुराणान्तरादुत्कर्षसूचकं विशेषणान्तरमुक्तमिति । यद्वा,—प्रोच्य व्याख्याय, तत्र व्याख्यान-क्रियाविशेषणं,—तदेतदिति । तत्—सर्व्ववेद-तात्पर्य्य-विषयपरं एतत्तज्जज्योतिरित्यादि-वाक्यात्मकमिति ।

अनुवाद—

इत्यादि श्लोकों के द्वारा श्रीमद् भागवत अध्ययन श्रवण की आवश्यकता एवं श्रेष्ठत्व निर्णीत हुआ है। अतएव श्रीमद् भागवत में उक्त स्वतःसिद्ध अनन्त गुणराशि होने से जिज्ञासु मानवों का एकमात्र श्रीमद् भागवत ही विचारणीय है, यह सुनिष्पन्न हुआ ॥२२॥

सारार्थः—**ग्राम्यसुखानुवादैः—कहने का अभिप्राय यह है कि—अधिकांश मनुष्यों का सुखानुभव ग्राम्य चर्चा से ही होता है। अर्थात् सर्प, भूतों का गप्प, मूषिक, विड़ाल उपन्यास, राजाराणी, दैत्य-दानवादि की काहिनीयुक्त ग्रन्थादि की आलोचना से ही अतिशय आनन्द होता है, किन्तु किसी ग्रन्थ में यदि केवल उपदेश रहता है, उसमें चित्त आकृष्ट नहीं होता है, एवं सुखबोध भी नहीं होता है। इसको अनुभव करके ही महर्षि वेदव्यास इस प्रकार गप्पपूर्ण इतिहास महाभारत का प्रकाश किए थे, और उस गप्पसमूह के मध्य में प्रसङ्गाधीन इस प्रकार श्रीभगवत्तत्त्व एवं नानाविध सदुपदेश सन्निविष्ट किए थे, जिससे महाभारतीय ऐतिहासिक घटना श्रवणाभिलाष से समागत श्रीवृन्दावन के हृदय में सहसा निष्काम धर्म एवं भागवत्तत्त्व का वीज आरोपित हो जाय, पश्चात् उससे वे जीवन में अप्रत्याशित उन्नति प्राप्त करेंगे। ऐसा कि—क्रमशः उन सव के हृदय में भगवत् कथा प्रसङ्ग की आकाङ्क्षा आसक्ति इतनी अधिक होती है कि—वे सव उक्त ग्राम्य कथा के प्रति बीतश्रद्ध हो जाते हैं। सुतरां श्रीकृष्णद्वैपायन लोक संग्रह के निमित्त ही महाभारत में उस प्रकार प्रक्रिया का उपदेश प्रवर्त्तन किए हैं। अन्य किसी कारण से नहीं, इस ग्रन्थ का तात्पर्य्य—श्रीभगवान् में ही है, जानना होगा।**

प्रसङ्गाधीन भगवत्तत्त्व कीर्त्तन से ही महाभारत का तात्पर्य्य भगवान् में स्वीकृत हुआ है, और महाभारत का तात्पर्य्य श्रीभगवत्तत्त्व—श्रीमद् भागवत के सकल अंश में ही कीर्त्तित है, सुतरां उक्त वचन उल्लेख होने से भारत की अपेक्षा श्रीमद् भागवत का उत्कर्ष साधित हुआ। विशेषतः "भागवतः—इदं भागवतम्" इस व्युत्पत्तिलब्ध "भागवत" इस नाम से भारत की अपेक्षा इनकी श्रेष्ठता का बोध होता है।

भागवत नाम का कारण—श्रीमद् भागवत में ब्रह्मत्व परमात्मत्व रूप से भी परतत्त्व का प्रदर्शन हुआ है, तव यहाँ ग्रन्थ का नाम "भागवत" क्यों रखा गया है ? इस का उत्तर—भागवत में ब्रह्म तत्त्व तो भगवत्तत्त्व का ही अन्तर्भुक्त है, अर्थात् भगवत्तत्त्व का ही एक निर्विशेष दर्शन मात्र है, द्रष्टा की योग्यता

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

तस्मात्—निरुक्तगायत्र्यर्थप्रकर्षकथनपूर्व्वकनिरुक्तभागवतलक्षणकथनात् । सम्मत्य—निरुक्तव्याख्यानेन प्रदर्श्य, तत्र—गायत्र्यां, मत्वा—निर्णीय । जयति—सारार्थवर्णनमयत्वेनोत्कर्षेण वर्त्तते । उपसंहरति—तदेतदिति,-क्रियाविशेषणं,एवं दर्शनेन भागवतस्य सर्व्वशास्त्राधिक्यं दर्शितमिति भावः । गायत्युक्थानीति, उक्थानि—वैदिकमन्त्रात्मकशास्त्राणि, गायति—प्रकाशयति, सर्व्वमन्त्राणामादिभूतां गायत्रीमुपजीव्यैव मन्वान्तराणामाविर्भावात् । अथवा 'देवस्य' इति—गायत्रीस्थ-पदेन—वेदमन्त्रकरणकहविस्त्यागोद्देश्यत्वरूपदेवत्वावच्छिन्नस्य बोधनात् यज्ञादिकर्म्मात्मकोक्थप्रकाशकत्वं, 'सवितृ'पदेन—जगत्कर्त्तुरिव वेदादिशास्त्रकर्त्तृकत्वावच्छिन्नस्यापि बोधनात् शास्त्रप्रकाशकत्वं गायत्र्या इति । भर्ग—भर्गाख्यं ब्रह्म, तथा प्राणान्—इन्द्रियाणि, 'धियः' इति गायत्रीस्थ-'धी'-पदेन इन्द्रियमात्रग्रहणात् । यद्वा, प्राणान्—बुद्धिवृत्तीः, वस्तुतस्तु भर्ग एव प्राणास्तान्,—"अन्योऽयमन्तर आत्मा प्राणमय" इति श्रुतेः, 'प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः' इत्यादिश्रुतेश्च प्राणस्य प्राणत्वं, तद्‌योक्तृत्वं तत्प्रेरकत्वञ्च—"को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश-आनन्दो न स्यात्" इत्यादि श्रुतेः । 'गायन्तं त्रायते' इति व्युत्पत्तिरपि द्रष्टव्या, 'गायति त्रायति च' इति गायत्रीति पर्य्यवसितम् । तत्परत्वाप्रतीतत्वेऽपि-साक्षात् स्वयं भगवत्परत्वाप्रत्ययेऽपि, काण्डत्रयवाक्यतायां

अनुवाद—

की अपेक्षा रखती है । परमात्मतत्त्व भी श्रीभगवान् की एकपाद विभूती की लीला है, जीव नित्य होने से ही प्रिय जीव को अपने ओर आकृष्ट करके सुखी करने की इच्छा से उक्त लीला होती है । ऐसा होने पर भी भगवत्तत्त्व का ही सर्वत्र प्राधान्य है । सुतरां "आधिक्येन व्यपदेशा भवन्ति" न्याय से "भागवत" नामकरण हुआ है ।

गायत्री भाष्यरूपोऽसौ—श्रीमद्‌भागवत गायत्री का भाष्यरूप है, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही गायत्री प्रतिपाद्य हैं । उभय की ही निर्विशेष रूप से भगवत्परता है, नचेत् श्रीमद्‌भागवत—कैसे गायत्री का भाष्य होगा ? वैष्णव द्विजातिगणों के उपास्य गायत्री हैं, यहाँ पर ज्ञातव्य यह है कि—जिस प्रकार श्रीमद् भागवत वैष्णवगणों का उपास्य है, उस प्रकार गायत्री भी वैष्णव द्विजातिवृन्दों की उपास्य हैं, गायत्री की उपासना से कभी भी वैष्णवता की हानि नहीं होती है । जो लोक गायत्री को शक्तिमन्त्र मानकर उपेक्षा करते हैं, वे सव गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायाचार्य श्रीजीवगोस्वामी चरण के "तस्माद् गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ" इस वाक्य का अनादरकारी हैं । इस कथन के उपर आशङ्का होती है कि एकादश स्कन्ध में निमिजायन्तेय उपाख्यान है,—"नानातन्त्र विधानेन कलावपि तथा शृणु" कलिमें विविध तन्त्रविधि के अनुसार किस प्रकार उपासना होती है,—श्रवण करो, श्री भगवान् कहे हैं—

"य आशु हृदयग्रन्थि निर्जिहीर्षुः परात्मनः । विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥

माया बन्धन से मुक्त होने का अभिलाषी व्यक्ति का श्रीभगवान् की उपासना तन्त्रोक्त विधानानुसार करना परम कर्त्तव्य है ।

"आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः । नहि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः ॥"

कलिकाल में सुबुद्धि जन तन्त्रोक्त विधान से देवता की अर्चना करें, कारण,—कलि में अपर विधि से देवगण प्रसन्न नहीं होते हैं, सुतरां तन्त्रोक्त उपासना ही कर्त्तव्य है, गायत्री वैदिक मन्त्र है, उनकी उपासना की आवश्यकता क्या है ? इस का समाधान कलि में तान्त्रिक उपासना के अनुकूल में जो वचननिकर प्रदर्शित हुए हैं, उसका कारण—कलि में तन्त्र का प्राधान्य प्रकट करने के निमित्त है । किन्तु कलि में वैदिक उपासना निषिद्ध घोषित करने के लिए नहीं । कारण—"वैदिकी तान्त्रिकी सन्ध्या यथानुक्रमयोगतः" इस वचन से वैदिक—तान्त्रिक क्रिया का उपदेश दृष्ट होता है । भा० ११।११।३ में "वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीय व्रतधारणम्" वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा का विधान है ।

अतएव सत्स्वपि नानाशास्त्रेष्वेतदेवोक्तम् ;—

"कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ॥" [भाः १, ३, ४५] इति ।

अर्कतारूपकेण तद्विना नान्येषां सम्यग्वस्तुप्रकाशकत्वमिति प्रतिपद्यते । यस्यैव

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अतएवेति—वर्णितलक्षणादुत्कर्षादेव हेतोरित्यर्थः । पुरातनानामृषीणामाधुनिकानाञ्च विद्वत्तमाना-

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

कर्म्मकाण्ड-ज्ञानकाण्ड-देवताकाण्डात्मकार्थ-परतायाः साक्षात्प्रतीतत्वेऽपि, यथा साम्ना प्रतिपादिते भगवति सकलवेदानां पर्य्यवसानं, तथा तेषां सकलपुराणानां पर्य्यवसानं साक्षात् परम्परया स्वप्रयोज्यबोध-विषयतेति । 'हरिः सर्व्वत्र गीयत इति साक्षात्परम्परया बोध्यत इति ।' तदिदमिति—निरुक्तं श्रीभागवत-प्राधान्यमित्यर्थः । ज्ञेयं—कर्त्तृवैशिष्टचमपि ज्ञेयम् । अतः श्रीभगवत्परत्वात्तत्कृतत्वाच्च अत्यावश्यकत्वम-त्यावश्यकाध्ययनादिविषयत्वं तत्प्रयोजकतया श्रेष्ठत्वञ्चेत्यर्थः ॥२२॥

अनुवाद—

"शतविच्छेदसंयुतः"—श्रीमद् भागवत तीन शत पँयत्रिश अध्याय युक्त है। श्रीधरस्वामिपादने निज कृत प्रशस्ति श्लोक में कहा है—"द्वात्रिंशत्त्रिशतञ्च यस्यविलसच्छाखाः" अर्थात् श्रीमद् भागवत में द्वात्रिंशत् (३२) तीन (३) एवं तीनशत पँयत्रिश, शाखा—अध्याय—विद्यमान हैं। यहाँ "द्वाभ्यामधिकाः त्रिंशत्—द्वात्रिंशत्, शतञ्च, शतञ्च, शतञ्च, शतानि, द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानि च, तेषां समाहारः—द्वात्रिंशत्रिशतम्" इस प्रकार प्रथमतः "द्वात्रिंशत्" "त्रि" एवं "शत" तीन शब्द के सहित मध्यपद लोपी कर्मधारय, "शत" शब्द का एकशेष द्वन्द्व, पश्चात् "द्वात्रिंशत्" "त्रि" "शत" तीन शब्द के साथ बहुप्रकृतिक समाहार द्वन्द्व समास करके "द्वात्रिंशत् त्रिशतम्" पद निष्पन्न हुआ है। बत्रीश एवं तीन के योग से पँयत्रिश, एकशेष द्वन्द्व समास निष्पन्न शत का तीनवार आवृत्ति से तीनशत, सुतरां कुल जोड़ तीनशत पँयत्रिश अध्याय है।

कुछ व्यक्ति ३३२ अध्याय मानते हैं। द्वात्रिंशत को पृथक् रखकर 'त्रि' के साथ शत शब्द के योग से वैसा अर्थ होता है। इससे श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्धोक्त १२-१३-१४ अध्याय को निकाल देना पड़ता है। इस मत में व्याकरणगत दोष है, "त्रयाणां शतानां समाहारः" इससे त्रिशतं पद न होकर त्रिशती पद होता है। दशमस्थ १२-१३-१४ अध्याय की व्याख्या प्राचीन महानुभावों की है। वोपदेव कृत मुक्ताफल ग्रन्थ में एवं हरि लीला में उक्त अध्याय त्रय का उल्लेख है।

जिनकी आपत्ति शतत्रय की आवृत्ति से, उनके लिए कपिञ्जलालभन न्याय महौषधि है, जिस नियम से बहुत्व को त्रित्व संख्या में पर्य्यवसित किया जाता है, उसे कपिञ्जलालभन न्याय कहते हैं। "कपिञ्जला-नालमेत" श्रुत्युक्त "कपिञ्जलान्" वचन के द्वारा अनेक कपिञ्जल का बोध नहीं होता है, किन्तु उससे तीन कपिञ्जल का बोध ही होता है। अतएव शत शब्द का समाहार द्वन्द्व समास द्वारा तीनवार आवृत्ति से तीनशत अर्थ करना ही सङ्गत है।

बत्रीश अध्याय वादिगण के मत में अघासुरबधात्मक अध्याय अस्वीकृत हुआ है, किन्तु द्वादश स्कन्ध के द्वादशअध्याय में "अघासुरबधो धात्रा" इस वाक्य से अघासुर बध स्वीकृत हुआ है, परहंसप्रियादि प्राचीन टीका में भी अध्यायत्रय की व्याख्या है। श्रीधरस्वामिपादने "कृता नवतिरध्यायाः" एवं "नवतिरध्यायाः" माना है, अन्यथा तीन अध्याय के अभाव से सप्ताशीति अध्याय हो जाता, स्वामिपादने उक्त अध्याय त्रय की व्याख्या भी की है। अतएव "शतविच्छेद संयुतः" पद व्याख्या में ग्रन्थकार श्रीपाद श्रीजीवगोस्वामी चरणने "पञ्चत्रिंशदधिक शतत्रयाध्यायविशिष्ट इत्यर्थः" कहा है। यह सुसङ्गत है, तीनशत बत्रीश अध्याय बादियों का मत विरुद्ध है, स्वकपोल कल्पित है ॥२२॥

कलि में श्रीमद् भागवत का ही प्रामाण्य,—अनेक शास्त्र विद्यमान होने पर भी पूर्वोक्त

श्रीमद्भागवतस्य भाष्यभूतं श्रीहयशीर्षपञ्चरात्रे शास्त्रप्रस्तावे गणितं तन्त्रभागवताभिधं तन्त्रम्। यस्य साक्षात् श्रीहनुमद्भाष्य-वासनाभाष्य-सम्बन्धोक्ति-विद्वत्कामधेनु-तत्त्वदीपिका-भावार्थदीपिका-परमहंसप्रिया-शुकहृदयादयो व्याख्याग्रन्थाः, तथा मुक्ताफल-हरिलीला-भक्तिरत्नावल्यादयो निबन्धाश्च विविधा एव तत्तन्मतप्रसिद्धमहानुभावकृता विराजन्ते। यदेव च हेमाद्रिग्रन्थस्य दानखण्डे पुराणदानप्रस्तावे मत्स्यपुराणीयतल्लक्षणधृत्या प्रशस्तम्। हेमाद्रिपरिशेषखण्डस्य कालनिर्णये च कलियुगधर्म्मनिर्णये,—"कलिं सभाजयन्त्यार्य्याः—इत्यादिकं यद्वाक्यत्वेनोत्थाप्य यत्प्रतिपादितधर्म्म एव कलावङ्गीकृतः। अथ यदेव कैवल्यमप्यतिक्रम्य भक्तिसुखव्याहारादिलिङ्गेन निजमतस्याप्युपरि विराजमानार्थं मत्वा यदपौरुषेयं वेदान्तव्याख्यानं भयादचालयतैव शङ्करावतारतया प्रसिद्धेन वक्ष्यमाण-

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

मुपादेयमिदं श्रीभागवतमित्याह;—यस्यैवेति। विराजन्ते—सम्प्रति प्रचरन्तीत्यर्थः। धर्म्मशास्त्रकृताश्चो-पादेयमेतदित्याह—यदेव च हेमाद्रीत्यादि। तत्प्रतिपादितो धर्म्मः—कृष्णसङ्कीर्त्तनलक्षणः। ननु चेदीदृशं श्रीभागवतं, तर्हि शङ्कराचार्य्यः कुतस्तन्न व्याचष्टेति चेत्तत्राह—अथ यदेव कैवल्यमित्यादि। अयं भावः—प्रलयाधिकारी खलु हरेर्भक्तोऽहमुपनिषदादि व्याख्याय तत्सिद्धान्तं विलाप्य तस्याज्ञां पालितवानेवास्मि।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तद्विना नान्ये इति—विशेषेण परमप्रयोजन-तत्साधन-परमोपास्यवस्तत्वप्रकाशका इति शेषः। यस्यैव—श्रीभागवतस्यैव, 'एव'-कारेण तद्विरुद्धवर्णनराहित्यम्। भाष्यभूतं—अर्थप्रकाशकं, यस्य व्याख्याग्रन्था इत्यनेनान्वयः। यथा (हनुमद्भाष्यादयः) व्याख्याग्रन्था विराजन्ते तथा यस्य निबन्धाश्च विराजन्ते इत्यर्थः। निबन्धः—तत्तात्पर्य्यवर्णनात्मक-तदेकदेशसंग्रहः। यदेवेति प्रशस्तमित्यत्रान्वितम्। यद्वाकचत्वेन श्रीभागवतवचनत्वेन, यत्प्रतिपाद्यधर्म्मः—भागवत-प्रतिपाद्यधर्म्मः, अङ्गीकृतः—आवश्यकत्वेन निर्णीतः, यदेव—भागवतमेव, विराजमानार्थं—विराजमानार्थकं मत्वेति। अत्र हेतुः—भक्तिसुख-व्याहारादि-

अनुवाद—

कथनानुसार श्रीमद् भागवत का उत्कर्ष हेतु उसका ही प्रामाण्य प्रथम स्कन्ध में स्थापित हुआ है। अधुना कलियुगमें प्राय लोक ही अज्ञानग्रस्त है, उसके हृदयस्थित अज्ञान तिमिर विनाश के निमित्त श्रीमद्भागवत सूर्य्य उदित हुए हैं। सूर्य्य के साथ श्रीमद् भागवत का रूपक होने से तद्व्यतीत अन्यान्य शास्त्र की क्षमता परिपूर्णरूपसे वस्तु प्रकाशन की नहीं है, यह प्रतिपादन हुआ।

भागवत प्राचीन एवं आधुनिक मनीषिवृन्द के आदर की सामग्री है—

प्राचीन ऋषिगण एवं आधुनिक लब्धप्रतिष्ठ विद्वद्गण के आदर की सामग्री श्रीमद्भागवत है। हयशीर्ष पञ्चरात्र में विविध शास्त्र के उल्लेख प्रसङ्ग में जिस तन्त्रभागवत का नाम है, वह तन्त्रभागवत भी श्रीमद् भागवत् का ही भाष्यभूत अर्थ प्रकाशक ग्रन्थ है। श्रीहनुमद् भाष्य, वासना भाष्य, सम्बन्धोक्ति, विद्वत् कामधेनु, तत्त्व-दीपिका, भावार्थ दीपिका, परमहंस-प्रियादि श्रीमद् भागवत के व्याख्या ग्रन्थ हैं। मुक्ताफल हरिलीला, मुक्तावली प्रभृति ग्रन्थ भी है।

श्रीमद् भागवत धर्मशास्त्र प्रचारकगणों का आदरणीय है—हेमाद्रिकृत स्मृति संग्राहक ग्रन्थ के दान खण्ड में पुराणदान प्रसङ्ग में श्रीमद् भागवत का लक्षण विषयक मत्स्यपुराणीय वचन उल्लेख है, शेष खण्ड में कलिधर्म निर्णय प्रसङ्ग में—"कलिं समाजयन्त्यार्य्याः" श्रीमद् भागवत का श्लोक उद्धृत हुआ है। उससे श्रीमद् भागवत का प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण नाम सङ्कीर्त्तनरूप धर्म ही मुख्य धर्मरूप से स्वीकृत हुआ है।

स्वगोपनादिहेतुक—भगवदाज्ञाप्रवर्त्तिताद्वयवादेनापि तन्मात्र-वर्णितविश्वरूप दर्शनकृत-व्रजेश्वरीविस्मय—श्रीव्रजकुमारी-वसनचौर्य्यादिकं गोविन्दाष्टकादौ वर्णयता तटस्थीभूय निजवचःसाफल्याय स्पृष्टमिति ॥२३॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अथ तदतिप्रिये श्रीभागवतेऽपि चालिते स प्रभुर्मयि कुप्येदतो न तच्चाल्यम्, एवं सति मे सारज्ञता (रसज्ञता) सुखसम्पच्च न स्यादतः कथञ्चित्तत् स्पर्शनीयमिति तन्मात्रोक्तं विश्वरूपदर्शनादि स्वकाव्ये निवबन्धेति तेन चाहृतं तदिति सर्व्वमान्यं श्रीभागवतमिति ॥२३॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

लिङ्गेनेति। व्याहारः—समुत्कर्षप्रकाशकत्वं, तदात्मकेन लिङ्गेन हेतुनेत्यर्थः। यदपौरुषेयं—यदात्मकमपौरुषेयम्। अचालयता—यथाश्रुतार्थपरित्यागेन स्वमतानुसारेण व्याख्यायता। ननु कथं यथाश्रुतार्थपरतैव शङ्कराचार्य्येण भागवतं व्याख्यातमित्यत आह वक्ष्यमाणेति, 'प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशञ्च मां कुरु' इति 'मायाबादमसच्छास्त्रम्' इत्यादिरूपेत्यर्थः। तटस्थीभूय=श्रीभागवतवर्णितमित्यनुलिख्य ॥२३॥

अनुवाद—

आचार्य शङ्कर के द्वारा भागवत व्याख्या न होने का सङ्गत कारण—

आचार्य्य शङ्कर श्रीशङ्करावतार थे, श्रीमद् भागवत—मोक्ष तिरस्कारी भक्ति-सुख का प्रकाशक है। अतः श्रीभगवान् कपटतारूप मोक्षधर्म का प्रकाशन से असन्तुष्ट होंगे, इस भय से अपौरुषेय वेदान्तव्याख्यान रूप श्रीमद् भागवत को स्पर्श नहीं किए थे। इसके आगे वर्णित होगा कि—निजतत्त्व गोपन करने की भगवदाज्ञा से प्रेरित होकर मायावाद का प्रवर्त्तन श्रीआचार्य शङ्करने किया था, किन्तु अपने को पवित्र करने के मानस से स्वरचित गोविन्दाष्टक नामक ग्रन्थ में श्रीमद् भागवत में वर्णित विश्वरूप दर्शनजन्य विस्मय, वस्त्रग्रहणादि लीलाओं का वर्णन उन्होंने किया है ॥२३॥

सारार्थः—**व्याख्या ग्रन्थ**—किसी ग्रन्थस्थित विषयों का क्रमबद्धरूपसे शब्दार्थ एवं तात्पर्य्यार्थ निर्णायक ग्रन्थ। **निबन्ध ग्रन्थ**—एक अथवा अनेक ग्रन्थों से अंशग्रहणपूर्वक उसका शब्दार्थ एवं तात्पर्य्यार्थ निश्चयात्मक ग्रन्थ।

श्रीमत् शङ्कराचार्यावतार का कारण—काल अनन्त असीम एक होकर भी परिवर्त्तनशील है, उसके अनुगत नित्य धर्म भी नाना रूपसे परिवर्तित होता है। जल नित्य ही मधुर है, पार्थिव कटु तिक्त कषायादि गुणों से जिस प्रकार उसका स्वाभाविक माधुर्य्य गुण का परिवर्त्तन होता है। किसी प्रकार वैज्ञानिक रासायनिक प्रक्रिया से उसकी नैसर्गिकता स्थापन भी होता है, उस प्रकार धर्म के सम्बन्ध में जानना होगा, प्रकृत धर्म,—एक अव्यभिचारी है। किन्तु समय समय पर मानव की प्रवृत्ति दोष से उसमें उपधर्म के संमिश्रण से गुणान्तरा आधान होता है, उस समय उसको ही वास्तविक धर्म मानकर व्यवहार लोक करते हैं। विशुद्ध धर्म का अस्तित्व मानव हृदय से प्राय अन्तर्हित हो जाता है।

करुणामय भगवान्ने जब देखा कि—ऋषियुग अन्तर्हित, अर्थात् ऋषिगण के द्वारा अनुष्ठित सर्वभूत दया, समता, दाक्षिण्य प्रभृति सात्त्विक धर्म विलुप्तप्राय है, लोक वेद का गूढ़ार्थ अनुभव करने में असमर्थ होकर इन्द्रिय वशता से हिंसा बहुल धर्म को ही वैदिक मुख्य धर्मरूप में ग्रहण करने लगे। एवं उस धारणा से ही स्त्री, मद्य, पशुहिंसात्मक यज्ञादि अनुष्ठान में तत्पर होकर तान्त्रिक वीराचार के प्रचण्ड ढक्कानिनाद से जगत् को उन्मत्त कर दिये, तव आप निश्चिन्त रह नहीं सके। बुद्ध रूपसे अवतीर्ण होकर "अहिंसा परमोधर्मः" वेद का निगूढ़ मर्म का प्रवेश उन सव जीवों के हृदय में कराया, तव पञ्चमकार का स्रोत भी स्तिमित हुआ, किन्तु काल की विचित्र गति से अधर्म का स्रोत पुनर्वार अन्यरूप से प्रवाहित हुआ। श्रीबुद्ध देव के अन्तर्द्धान के बाद, उनके शिष्य-प्रशिष्यगण वेद एवं वैदिक धर्म का परिपन्थी होने लगे। देवदेवी

अनुवाद—

की पूजा, यागयज्ञ, प्रभृति वैदिक अनुष्ठान का निर्मूलीकरण उन्होंने किया, यहाँतक कि—सच्चिदानन्द विग्रह श्रीईश्वर को भी लोकोंने अस्वीकार कर दिया। उस समय करुणापरतन्त्र श्रीभगवान्‌ने निज प्रियतम भक्त प्रलयाधिकारी श्रीशङ्कर को बोला "शङ्कर" इस सङ्कट में जगत् का "शं" शङ्कर भिन्न कौन करेगा? बौद्धगणों के विपुल प्रताप से वैदिक धर्म कर्म विलुप्त प्राय है। सुतरां तुम पृथिवी में अवतीर्ण होकर बौद्ध धर्म का संस्कार मानवहृदय से विलुप्त करके वैदिक भाव का सञ्चार करो। देखना,—"जैसे मेरे भुवनमोहन सविशेषरूप का प्रकाश उसके हृदय में न हो।"

"प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशश्च मां कुरु। स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु॥
माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥ (पद्मपुराण, उत्तर ६२ अः ३१ श्रीशिवं प्रति श्रीकृष्ण वाक्यम्)

श्रीभगवान् की आज्ञा से श्रीशङ्कर अवतीर्ण हो गये, एवं मानवों के हृदय से अवैदिक भाव को विदूरित करके वैदिक धर्म का प्रसार किए। निज प्रभु श्रीभगवान् के आज्ञानुसार उपनिषद् का यथार्थ तत्त्व—सविशेष भगवत्तत्त्व को गोपन करके असत् मायावाद का स्थापन उन्होंने किया, अर्थात् कतिपय कपट युक्ति तर्क के अवलम्बन से "निराकार ब्रह्म ही उपनिषत् प्रतिपाद्य, जगत् असत्, माया-विजृम्भित, जीव एवं ब्रह्म में आत्यन्तिक भेद नहीं है, मात्र उपाधि अंश में भेद है। माया का विनाश से ही भेद का नाश, पश्चात् "एकमेवाद्वितीयम् भाव, इस प्रकार प्रच्छन्न भावसे द्वितीय अभिनव बौद्धमत का आविष्कार उन्होंने किया।

"मायाबादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव विहितं देवि! कलौ ब्राह्मण मूर्त्तिना॥"
(पद्मपुराण, ३-२५ अः ७)

श्रीमद्‌भागवत वेदान्त का अपौरुषेय व्याख्या ग्रन्थ है। इसमें आचार्य शङ्कर की व्याख्या को न देखकर सन्दिग्ध होने की वात नहीं। ईश्वर के आदेश से ही शङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्र उपनिषत् प्रभृति के भाष्य में व्यासदेव का असम्मत विवर्त्तवाद का स्थापन उन्होंने किया है। श्रीमद् भागवत में विवर्त्तवाद स्थापन करने से अमार्जनीय अपराध ही होगा। कारण—श्रीमद् भागवत श्रीकृष्ण की अद्वितीय मूर्त्ति है। अतः श्रीशङ्करने निजकृत काव्य ग्रन्थ में श्रीकृष्ण की बाल्यलीला, पौगण्ड लीला, कैशोर लीला का वर्णन कर अपने को कृतार्थ किया है।

भगवान् श्रीकृष्णने निज स्वरूप तत्त्व को गोपन करने का आदेश क्यों दिया?

इसका तात्पर्य्य यह है कि—बौद्धगण वैदिक काम्यकर्म नहीं मानते थे, ईश्वर भी नहीं मानते थे, शून्य बादि के निकट श्रीविग्रह प्रतिपादन करने से वे लोक उपहास करेंगे, एवं श्रीविग्रह न मानने से श्रीभगवद् अवज्ञा जनित अपराध होगा, इससे चित्त शोधित होने का कोई उपाय नहीं रहेगा। एतज्जन्य ही निरन्तर निखिल जीव के निमित्त परम करुण श्रीभगवान् उस प्रकार उपदेश दिये थे।

ईश्वर को जानने के निमित्त प्रथमतः वेदशास्त्र को मानना होगा। अनन्तर वेदावलम्बन से ईश्वरतत्त्व ज्ञान होता है। जो लोक मूलतः ही वेदादि शास्त्र नहीं मानते हैं, उन सव के निकट निराकार स्थापन करना ही सहज है। केवल "नास्ति" शब्द जिसका अत्यन्त प्रिय है, उसको ईश्वर अस्तित्व अवगत कराने के निमित्त अस्ति नास्ति शब्द को सुनाना आवश्यक है, उन्होंने बौद्धों के हृदय में वेद कल्पतरु का कर्मयोग ज्ञानमय प्रसून का सञ्चय किया था, एवं ईश्वर है, उनका आकार नहीं है, इस प्रकार अस्ति नास्ति भाव को अवगत करा दिया था।

कतिपय समय के अनन्तर जीवगणों की भक्ति ग्रहण उपयोगिता को जानकर श्रीभगवान् वासुदेव में ज्ञान भक्तिशक्ति सञ्चार कर तद्द्वारा श्रीमध्वाचार्य रूप प्रकट किए थे। श्रीमन्मध्वाचार्य ज्ञानमय पुष्प से भक्ति फल उत्पादन कर अन्तर्हित हो गए, क्रमशः उसके अनुशीलन से मानव किञ्चित उन्नतिप्राप्त होने से श्रीभगवान् के द्वितीय मूर्त्ति श्रीसङ्कर्षण, भक्तिशक्त्यावेश अवतार श्रीरामानुज रूपमें अवतीर्ण होकर भक्ति फल के अङ्ग प्रत्यङ्ग निर्माण कर अन्तर्हित हो गये। अनन्तर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने जव देखा कि—

यदेव किल दृष्ट्वा श्रीमध्वाचार्य्यचरणैर्वैष्णवान्तराणां तच्छिष्यान्तरपुण्यारण्यादिरीतिक-व्याख्याप्रवेशशङ्कया तत्र तात्पर्य्यान्तरलिखद्भिर्वर्त्मोपदेशः कृत इति च सात्वता वर्णयन्ति। तस्माद्युक्तमुक्तम् तत्रैव प्रथमस्कन्धे ;——

"तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम्। सर्व्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्॥" [भा० १, ३, ४१]

द्वादशे;——

"सर्व्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते। तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥" [भा० १२,१३,१२]

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

श्रीमध्वमुनेस्तु परमोपास्यं श्रीभागवतमित्याह;—यदेव किलेति, शङ्करेण नैतद्विचालितं किन्त्वादृत-मेवेति विभाव्येत्यर्थः। किन्तु तच्छिष्यैः पुण्यारण्यादिभिरेतदन्यथा व्याख्यातं, तेन वैष्णवानां निर्गुण-चिन्मात्रपरमिदमिति भ्रान्तिः स्यादिति शङ्कया हेतुना तद्भ्रान्तिच्छेदाय तत्र तात्पर्य्यान्तरं भगवत्परता-रूपं ततोऽन्यत्तात्पर्य्यं लिखद्भिस्तस्य व्याख्यानवर्त्मोपदिष्टं वैष्णवान् प्रतीति। मध्वाचार्य्यचरणैरिति—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

दृष्ट्वेत्यस्य—वैष्णवमतप्रवेशे हेतुत्वम्। तच्छिष्यतां—शङ्कराचार्य्यशिष्यतां वर्णयन्तीति। यस्यै-वेत्यादौ यत्पदानामुत्तरवाक्यस्थतया न तत्पदापेक्षेति। तस्मादिति—एतैर्बहुतरप्रेक्षावद्भिरादृतत्वेन निर्णीतसमुत्कर्षादित्यर्थः। आत्मविदां—ब्रह्मविदाम्। 'सारं सारं' इति वीप्सया सकलसारोद्धारो

अनुवाद—

कलि के मानव सम्प्रति उन्नत है। अनेक दिनों से प्रचारित भक्ति के प्रभाव से अपराध प्राय निर्मूल हो गया है, भक्ति को चरम सीमा में उन्नीत करने का प्रकृष्ट समय यह ही है। उस समय आप स्वयं ही श्रीकृष्णचैतन्य रूपमें अवतीर्ण होकर श्रीहरिनाम कुलिशनिपात से विघ्न गिरि कुल को विदलित किये। और साधन भक्ति की परिपाक प्रक्रिया द्वारा साधन प्रेममय करके सुमधुर आस्वादनीय किये।

पूज्यपाद श्रीमन् आचार्य शङ्करने श्रीगोविन्दाष्टक में जिस श्रीकृष्ण लीला का उल्लेख किया है उसका दृष्टान्त रूपमें एक श्लोक इस प्रकार है—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यमाकाशं परमाकाशं गोष्ठप्राङ्गणरिङ्गणलोलमनायासं परमायासम्।
मायाकल्पितनानाकारमनाकारं भुवनाकारं क्ष्मानाथमनाथं प्रणमत गोविन्दं परमानन्दम्॥"

इस प्रकार श्रीमत् आचार्य्य शङ्कर पद्मपुराणीय सहस्रनाम भाष्य में भी भागवतीय श्रीकृष्ण लीला का वर्णन किए हैं। सुतरां अद्वैतबाद गुरु महानुभवगणों का भी समादृत होने से श्रीमद् भागवत जो सर्वजन सम्मत है, सर्वत्र महामाननीय है, इस में अनुमात्र सन्देह भी नहीं है॥२३॥

श्रीमद् भागवत श्रीमन्मध्वाचार्य का भी परम उपास्य है—श्रीमन्मध्वाचार्य्यने देखा कि—अद्वैतबाद गुरु शङ्कराचार्यने श्रीमद् भागवत को विचालित नहीं किया है। प्रत्युत आदर ही किया है, किन्तु उनका शिष्य पुण्यारण्य प्रभृति ने श्रीमद् भागवत की भिन्न व्याख्या की है। वह व्याख्या साधारण वैष्णव-गणों के हृदय में प्रविष्ट होकर "भागवत—निर्गुण निराकार चिन्मात्र ब्रह्मपर हैं", इस प्रकार भ्रम ला सकती है, तज्जन्य अधस्तन वैष्णवगणों की भ्रान्ति अपनोदन मानस से श्रीमद् भागवत—सगुण सविशेष भगवत्पर है, इसका समर्थन आपने किया। आपने भागवत तात्पर्य्य भी लिखा है, एवं तद्द्वारा उस प्रकार एक सम्प्रदाय गठन भी आपने किया था, प्राचीन भक्तगण उस प्रकार कहते हैं।

बहुतर ज्ञानिकुलचूड़ामणि विद्वद्गण द्वारा सम्मानित होकर श्रीमद् भागवत निरतिशय उत्कर्षमण्डित हुए हैं। सुतरां प्रथम स्कन्ध के वक्ष्यमाण वचन भी युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। "श्रीकृष्णद्वैपायन,—आत्मज्ञानीगणों के मध्य में प्रधान श्रीशुकदेव को समस्त वेद, इतिहास सारांश स्वरूप श्रीमद् भागवत अध्ययन कराये थे। द्वादश स्कन्ध में भी कथित है,—श्रीमद् भागवत समस्त वेदान्त का सार है, जो जन

तथा प्रथमे ;—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥" [भा० १,१,३]

अतएव तत्रैव ;—

"यः स्वानुभावमखिलश्रुतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितितीर्षतां तमोऽन्धम्।
संसारिणां करुणयाह पुराणगुह्यं तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम्॥" [भा० १,२,३.] इति।

श्रीभागवतमतं तु सर्व्वमतानामधीशरूपमिति सूचकम्। सर्व्वमुनीनां सभामध्यमध्यास्य उपदेष्टृत्वेन तेषां गुरुत्वमपि तस्य तत्र सुव्यक्तम्॥२४॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अत्यादरसूचकबहुत्वनिर्द्देशः, स्व-पुर्व्वाचार्य्यत्वादिति बोध्यम्। वायुदेवः खलु मध्वमुनिः सर्व्वज्ञोऽतिविक्रमी यो दिग्विजयिनं चतुर्द्दशभिः क्षणैर्निर्जित्यासनानि तस्य चतुर्द्दश जग्राह, स च तच्छिष्यः पद्मनाभाभिधानो वभूवेति प्रसिद्धम्। तस्मादिति—प्रोक्तगुणकत्वाद्धेतोरित्यर्थः। आलयमिति—मोक्षमभिव्याप्येत्यर्थः। य इति—अन्धं तमः—अविद्यां अतितितीर्षतां संसारिणां करुणया यः पुराणगुह्यं श्रीभागवतमाहेत्यन्वयः। स्वानुभावम्—असाधारणप्रभावमित्यर्थः॥२४॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

बोध्यते। सारश्च—भगवन्माहात्म्यं तद्भजनञ्च। तत्सारत्वं विना मुक्तस्यापि शुकस्य कथमत्र प्रवृत्तिरिति भावः। फलमिति—सकलवेदादिशास्त्र-तात्पर्य्यार्थविगमलाक्षतार्थरूपमित्यर्थः। गुरुं मुनीनामिति,

अनुवाद—

इस रसामृत से परितृप्त है, उसकी अन्य कहीं भी तृप्ति नहीं होती है। प्रथम स्कन्ध में भी कथित है— "अहो कैसा आनन्द है! समस्त पुरुषार्थ वितरण में समर्थ, निगम कल्पतरु का फलरूप—श्रीमद् भागवत शुक के मुख से इस पृथिवी में अखण्ड रूपमें निपतित है। ओ हे रसविशेष भावनाचतुर रसिकगण! काल विलम्ब क्यों? इस द्रवीभूत अमृतमय फल का दान मोक्ष पर्य्यन्त निरन्तर करते रहो।"

अतएव प्रथम स्कन्ध में ही कथित है—जो लोक पथभ्रष्ट पथिक के समान निबिड़ अन्धकारमय इस संसार अरण्य में विचरण करते करते विषय कण्टक से व्यथित होकर "त्राहि त्राहि चीत्कार कर रहा है, उन सब के प्रति करुणा करके जो असाधारण शक्तिशाली, निखिल वेदों का सार, आत्मतत्त्व दर्शन का एकमात्र प्रदीपस्वरूप श्रीमद् भागवत को दर्शाये हैं। मैं उन मुनिगणों के पूजनीय व्यासनन्दन श्रीशुकदेव का आश्रय ग्रहण करता हूँ।"

श्रीमद् भागवत मत ही सर्वशास्त्र का अधिनायक है, वह उल्लिखित श्लोक से सूचित हुआ है, एवं मुनिगणों के सभा मध्य में अधिष्ठित होकर महाराज परीक्षित को उपदेश करने से श्रीशुकदेव का भी उक्त मुनिवृन्द की अपेक्षा ज्ञानाधिक्य सूचित हुआ है॥२४॥

सारार्थः—पूज्यपाद ग्रन्थकार—"मध्वाचार्यचरणैः" कहकर बहुवचन निर्देशके द्वारा उनके प्रति अतिशय समादर प्रकट किये हैं। श्रीमन्मध्वाचार्य ही सविशेष भगवत्तत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रथम पथ-प्रदर्शक हैं, उसमें भी निज सम्प्रदाय उनके सम्प्रदाय की शाखा है, सुतरां श्रीमन्मध्वाचार्य श्रीचैतन्य सम्प्रदाय के अतिशय आदरणीय हैं।

श्रीमन्मध्वाचार्य के सम्बन्ध में एक आख्यायिका है—मध्वमुनि वायुदेव का अवतार थे, तज्जन्य आप सर्वज्ञ एवं अति विक्रमशाली थे। एक चतुर्दश विद्या पारदर्शी दिग्विजयी पण्डित को विद्याबल से पराजित करके निज प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने के निमित्त चतुर्दश विद्या के चतुर्दश मठासन स्थान स्थान में

यतः ;—

"तत्रोपजग्मुर्भुवनं पुनाना महानुभावा मुनयः सशिष्याः ।
प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ।।
अत्रिर्वशिष्ठश्चयवनः शरद्वानरिष्टनेमिर्भृगुरङ्गिराश्च ।
पराशरो गाधिसुतोऽथ राम उतथ्य इन्द्रप्रमदेध्मबाहौ ।।
मेधातिथिर्देवल आर्ष्टिषेणो भरद्वाजो गौतमः पिप्पलादः ।
मैत्रेय और्व्वः कवषः कुम्भयोनिर्द्वैपायनो भगवान्नारदश्च !
अन्ये च देवर्षिब्रह्मर्षिवर्य्या राजर्षिवर्य्या अरुणादयश्च ।
नानार्षेयप्रवरान् समेतानभ्यर्च्य राजा शिरसा ववन्दे ।।
सुखोपविष्टेष्वथ तेषु भूयः कृतप्रणामः स्वचिकीर्षितं यत् ।
विज्ञापयामास विविक्तचेता उपस्थितोऽग्रे निगृहीतपाणिः ।।" [भा० १,१९,८-१२]

इत्याद्यनन्तरम् ;—

"ततश्च वः पृच्छ्यमिदं विपृच्छे विश्रभ्य विप्रा इतिकृत्यतायाम् ।
सर्व्वात्मना म्रियमाणैश्च कृत्यं शुद्धञ्च तत्रामृशताभियुक्ताः ।।" [भा० १,१९,२४]

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

मुनीनां गुरुमित्युक्तं, तत् कथमित्यत्राह—यत इति । यत इत्यस्य— इत्युक्तमिति परेण सम्बन्धः । और्व्व इति—विप्रवंशं विनाशयद्भ्यो दुष्टेभ्यः क्षत्रियेभ्यो भयाद्गर्भादाकृष्योरौ तन्मात्रा स्थापितस्ततो जातः क्षत्रियांस्तान् स्वेन तेजसा भस्मीचकार इति भारते कथास्ति । निगृहीतपाणिः—योजिताञ्जलिपुटः ।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

गुरुत्वं—ज्ञानातिशयत्वं, न तूपदेष्टृत्वं, मुनीनामिति सामान्यतो निर्द्देशात् । एवञ्चोपदेष्टृत्वेन इत्यस्य—परीक्षितं प्रत्युपदेष्टृत्वेनेत्यर्थः ।।२४-२५।।

अनुवाद—

स्थापन किए थे । श्रीमन्मध्वाचार्यने उस दिग्विजयी को चतुर्दश क्षण में चतुर्दश विद्या विषयक तर्क से पराजित कर उनके चतुर्दश मठासन अधिकार किया था । उस समय दिग्विजयी,—श्रीमन्मध्वाचार्य के विद्या विषय में अलौकिक क्षमता को अनुभव करके उनका शिष्यत्व ग्रहण किए थे । तदवधि उनका नाम पद्मनाभ हुआ ।।२४।।

श्रीशुकदेव मुनिवृन्द के पूजनीय हैं,—इस कथन का हेतु श्रीमद् भागवत में ही प्रकाशित है,—"महाराज परीक्षित ब्राह्मण के अभिसम्पात से विवेक प्राप्तकर गङ्गातीर में *प्रायोपवेशन करने पर जगत् पवित्रकारी महानुभाव मुनिगण निज निज शिष्य के सहित वहाँपर आगमन किए थे, जो सब साधुगण तीर्थ पर्य्यटन के छल से तीर्थ को पवित्र करते हैं ऐसे अत्रि, वशिष्ठ, च्यवन, शरद्वान्, अरिष्टनेमि, भृगु, अङ्गिरा, पराशर, गाधिसुत (विश्वामित्र) राम (परशुराम) उतथ्य, इन्द्रप्रमद, इध्मबाहु, मेधातिथि, देवल, आर्ष्टिसेन, भरद्वाज, गौतम, पिप्पलाद, मैत्रेय, और्व, कवष, द्वैपायन, भगवान् नारद प्रभृति ऋषि गणों का आगमन हुआ था, तद्भिन्न अनेक देवर्षि, ब्रह्मर्षि, अरुणादि राजर्षिवर्ग भी वहाँपर आए थे ।

महाराज परीक्षित, समस्त श्रेणी के मुनिवृन्दों को देखकर अवनत मस्तक से प्रणाम किए थे अनन्तर ऋषिगण राजदत्त आसन ग्रहण कर श्रमापनोदन करने से विशुद्ध चेता राजर्षि परीक्षित पुनर्वार कृताञ्जलि होकर उन सबके सामने खड़े होकर प्रणतिपूर्वक निज अभीष्ट विषय कहे थे । इसके बाद श्रीभागवत में परीक्षित का प्रश्न इस प्रकार कथित है । "विप्रगण ! मेरा बड़ा ही सौभाग्य है—एकत्र आप सबके

*** प्रायोपवेशन—प्रायोऽनशनमृत्युः इति मेदिनी । प्राय शब्दका अर्थ-मृत्युके निमित्त भोजन त्याग करना ।**

इति पृच्छति राज्ञि ;—

"तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रो यदृच्छया गामटमानोऽनपेक्षः।
अलक्ष्यलिङ्गो निजलाभतुष्टो वृतश्च बालैरवधूतवेशः॥" [भा० १,१६,२५]
ततश्च,—"प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः"— [भा० १,१६,२८]

इत्याद्यन्ते ;—

"स संवृतस्तत्र महान्महीयसां ब्रह्मर्षि-राजर्षि-सुरर्षिवर्य्यैः।
व्यरोचतालं भगवान् यथेन्दुर्ग्रहर्क्षतारानिकरैः परीतः॥"—[भा० १,१६,३०] इत्युक्तम् ॥२५॥

अत्र यद्यपि तत्र श्रीव्यास-नारदौ तस्यापि गुरु-परमगुरू, तथापि पुनस्तन्मुखनिःसृतं श्रीभागवतं तयोरप्यश्रुतचरमिव जातमित्येवं श्रीशुकस्तावप्युपदिदेश देश्यमित्यभिप्रायः।

यदुक्तम् ;—"शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्" इति।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

एवं कर्त्तव्यस्य भावः—इति कर्त्तव्यता, तस्यां विषये सर्व्वावस्थायां पुंसः किं कृत्यं, तत्रापि म्रियमाणैश्च किं कृत्यं, तच्च शुद्धं हिंसाशून्यं, तत्रामृशत यूयम्। गां पृथिवीम्। अनपेक्षः—निस्पृहः। निजस्य—शुद्धिपूर्त्तिकर्त्तुः स्वस्वामिनः कृष्णस्य लाभेन तुष्टः। तत्र—सभायाम् ॥२५॥

वक्तव्यं योजयत्यत्र यद्यपीत्यादिना। तस्मादेवमिति,—तद्वक्तुः—श्रीशुकस्य सर्व्वगुरुत्वेनापीत्यर्थः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अश्रुतचरमिवेति तदानीमस्मृतत्वादिति भावः। तावप्युपदिदेशेति, तावपि—व्यास-नारदावपि। अपिकारात् राम-भृग्वङ्गिरो-वशिष्ठ-पराशरादीनां ग्रहणम्, तेषामपि वेदपुराणवेत्तृत्वात्। उपदिदेश—स्मारयामास-यद्वा, देश्य—मधुरव्याख्यानकौशलं उपदिदेशैवेत्यर्थः, अश्रुतचरमिवेत्युक्तत्वात्। तथा च

अनुवाद—

दर्शन मिला। सुतरां आपके समीप से सदुत्तर प्राप्त होने के अभिलाष से मेरा जिज्ञास्य यह है कि—कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति का अनुष्ठान करना मानवमात्र का ही कर्त्तव्य है। केवल यह ही नहीं है, इस प्रकार अनेक कर्त्तव्य मानव के निमित्त श्रुत है। किन्तु उस सवके मध्यमें निखिल मानव के समस्त अवस्था में, विशेषतः आसन्न मृत्यु व्यक्ति के सम्बन्ध में,—निर्दोष सर्वोत्तम कार्य क्या है? आप सव इसका निर्णय करके एक वाक्यसे मुझे आदेश प्रदान करें।"

"महाराज परीक्षित् इसप्रकार प्रश्न कर रहे थे, उस समय श्रीकृष्णस्फूर्त्ति से परमानन्दमय, आश्रमादि चिह्नशून्य, अवधूत वेशधारी, निस्पृह, व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेव यदृच्छाक्रम से पृथिवी पर्य्यटन करते करते चतुर्दिक में बालकगणों से परिवृत होकर परीक्षित की सभामें उपस्थित हुए। अनन्तर उस गूढ़तेजा श्रीशुकदेव को अवलोकन करके ही समस्त मुनिगण निज निज आसन से उत्थित हुए" इत्यादि का वर्णन करके श्रीसूतने पुनर्वार कहा—"महतों का महत् वह श्रीशुकदेव सभा मध्यमें ब्रह्मर्षि, देवर्षि एवं राजर्षिगण द्वारा परिवृत होकर ग्रहनक्षत्र तारागणों से सुशोभित शशधर के समान अतिशय शोभा धारण किए थे ॥२५॥

श्रीशुकदेव सव के उपदेष्टा। यद्यपि परीक्षित् की सभा में उपस्थित व्यासदेव श्रीशुकदेव के गुरु, एवं श्रीनारद परमगुरु थे, तथापि पुनर्वार परीक्षित् सभा में श्रीशुकदेव के मुख से श्रीमद् भागवत श्रवण करके ऐसा बोध उनका हुआ कि—इस प्रकार श्रवण कभी भी नहीं किया। इस प्रकार श्रीशुकदेव, व्यास एवं नारद के उपदेश्य विषय का उपदेश दिये थे। अर्थात् उनके विषय विशेष में आवेश होने से श्रीमद् भागवत का अति निगूढ़ तात्पर्य का स्मरण उस समय नहीं था। श्रीशुकदेवने उसका स्मरण करा दिया। यहाँ का अभिप्राय इस प्रकार का ही है। श्रीवेदव्यासने भी वैसा ही कहा है,—"शुक मुख निःसृत यह श्रीमद् भागवत द्रवीभूत अमृतमय फल है।

तस्मादेवमपि श्रीभागवतस्यैव सर्व्वाधिक्यम् । मात्स्यादीनां यत् पुराणाधिक्यं श्रूयते, तत्त्वापेक्षिकमिति । अहो किं बहुना ? श्रीकृष्ण-प्रतिनिधिरूपमेवेदम् । यत उक्तं प्रथमस्कन्धे;—

"कृष्णे स्वधामोपगते धर्म्मज्ञानादिभिः सह । कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ।।" [भा० १, ३, ४५] इति ।

अतएव सर्व्वगुणयुक्तत्वमस्यैव दृष्टं, "धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र" **इत्यादिना,**

"वेदाः पुराणं काव्यञ्च प्रभुर्मित्रं प्रियेव च । बोधयन्तीति हि प्राहुस्त्रिवृद्भागवतं पुनः ।।"—

इति मुक्ताफले हेमाद्रिकारवचनेन च ।

तस्मान्मन्यन्तां वा केचित् पुराणान्तरेषु वेद-सापेक्षत्वं, श्रीभागवते तु तथा सम्भावना स्वयमेव लब्धं भवति । अतएव परमश्रुतिरूपत्वं तस्य । यथोक्तम् ;—

"कथं वा पाण्डवेयस्य राजर्षेर्मुनिना सह । संवादः समभूत् तात ! यत्रैषा सात्वती श्रुतिः ।।" इति ।
[भा० १, ४, ७] इति ।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

आपेक्षिकमिति—एतदन्यपुराणापेक्षयेत्यर्थः । अथ परमोत्कर्षमाह—अहो किमिति । अतएवेति—कृष्ण-प्रतिनिधित्वात् कृष्णवत् सर्व्वगुणयुक्तत्वमित्यर्थः । प्रियेव—कान्तेव । त्रिवृत्—वेदादित्रयगुणयुक्तमित्यर्थः । तस्मादिति, वेदसापेक्षत्वं—वेदवाक्येन पुराणप्रामाण्यमित्यर्थः । अतएवेति—परमार्थवेदकत्वाद्वेदान्तस्यैव भागवतस्य परमश्रुतिरूपत्वमित्यर्थः । यत्र—संवादे । सात्वती—वैष्णवीत्यर्थः । अथेति—'इदं भगवता

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

तयोरपि तथा व्याख्यानकौशलयोग्यत्वेऽपि शुकदेवं प्रति तथानुपदेशादिति भावः । आपेक्षिकमिति—भागवतान्यपुराणापेक्षिकमित्यर्थः । धर्म्मज्ञानादिभिः सहेति आदिना भक्त्यादिपरिग्रहः, यथोत्तरमुत्तमत्वमेषां । कलौ नष्टदृशां—नष्टज्ञानादीनां सम्बन्धे धर्म्मज्ञानादिभिः सह एष पुराणार्कोऽधुना उदित इत्यन्वयः । चर्म्मचक्षुर्यथा सूर्य्यांशस्तथा ज्ञानचक्षुः श्रीभागवतांश इति द्योतनाय श्रीभागवतस्यार्कतया रूपकमिति भावः । वेदा इति—वेदाः प्रभुरिव बोधयन्तीत्यन्वयः । प्रभुपदेन 'राजा' इत्युच्यते, तथा च—राजा यथाज्ञापयति तथैवामात्यादयः कुर्वन्ति, न तु तद्वाक्यं 'भद्रमभद्रं वा' इति विचारयन्ति; तथा

अनुवाद—

वक्ता श्रीशुकदेव में समस्त गुरुत्व प्रतिपन्न होनेसे श्रीमद् भागवत का—समस्त शास्त्र की अपेक्षा श्रेष्ठत्व अनुभूत हुआ है । पुराण के मध्य में मत्स्यादि पुराण का आधिक्य श्रुत होता है, वह आपेक्षिक है, अर्थात् श्रीमद् भागवत भिन्न अन्यान्य पुराण की अपेक्षा मत्स्यादि पुराण श्रेष्ठ है, यह जानना होगा ।

श्रीमद् भागवत—श्रीकृष्ण का प्रतिनिधि । अहो अधिक और क्या कहेंगे ! यह श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण का प्रतिनिधिस्वरूप है, श्रीकृष्ण के न्याय सर्व सद्गुणयुक्त है, इसका विवरण प्रथम स्कन्ध में है । "श्रीकृष्ण निज प्रतिपादित धर्म, ज्ञान, विवेकादि के सहित नित्यलीला में प्रविष्ट होने से सम्प्रति अज्ञानान्ध 'तादृश धर्मादि विहीन' कलि जीव के सम्बन्धमें यह पुराण श्रीमद् भागवत सूर्य्य के समान समुदित हुये हैं, एतज्जन्य ही "धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र" इत्यादि श्लोक से श्रीमद् भागवत को ही निखिल गुण खनिरूप से जाना जाता है, एवं "वेद, पुराण, काव्यशास्त्र—क्रमशः प्रभु, मित्र एवं प्रेयसी के समान हितजनक उपदेश प्रदान करते हैं, किन्तु श्रीमद् भागवत उक्त तीन रूपसे ही नियत सदुपदेश देकर जीव का कल्याण करते रहे हैं । इस प्रकार हेमाद्रिकार श्रीवोपदेवकृत मुक्ताफल टीका धृत वचन में भी श्रीमद् भागवत का सर्वगुणाकरत्व दृष्ट होता है ।

वेदोक्त वाक्य से ही पुराण का प्रामाण्य है, इससे पुराणों का वेद सापेक्षत्व होना स्वाभाविक है, किन्तु श्रीमद् भागवत में उसकी सम्भावना स्वतःही है, इसका संवाद भी श्रीमद्भागवतीय वाक्य से ही प्राप्त होता

अथ यत् खलु सर्व्वं पुराणजातमाविर्भाव्येत्यादिकं पूर्व्वमुक्तं, तत्तु प्रथमस्कन्धगतश्रीव्यास-नारदसंवादेनैव प्रमेयम् ॥२६॥

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

पूर्व्वं' इत्यादिद्वादशोक्तं ब्रह्मनारायणसम्वादरूपमष्टादशसु मध्ये प्रकटितं, व्यासनारदसम्वादरूपं तत्रैव प्रवेशितं, तदुभयस्य लक्षण-संख्ये तु मात्स्यादावुक्ते इति बोध्यमित्यर्थः। एवमेव भारतोपक्रमेऽपि दृष्टम्। आदावाख्यानैर्विना चतुर्विंशतिसहस्रं भारतं, ततस्तैः सहितं पञ्चाशत्सहस्रं, ततस्तैस्ततोऽप्यधिकमितो-ऽप्यधिकमिति, तद्वत् ॥२६॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

वेदवचनेन विहितं कर्म्म विद्वांसो यथायथाऽभिहितं प्रमाणनिरपेक्षं, तथैव कुर्व्वन्ति। पुराणं मित्रमिव प्रमाणयुक्तिसापेक्षं बोधयति, विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। काव्यं—काव्यशास्त्रं, प्रियेव—कान्तेव सरसतामापादयद्बोधयति। भागवतं—भागवताख्यशास्त्रं, त्रिवृत्—प्रभु-मित्र-कान्तासदृक्, वेद इव प्रमाण-निरपेक्षतया प्रभुरिव, इतरपुराणमिव प्रमाणयुक्तिसम्वलितत्वेन हितबोधकत्वेन च मित्रमिव, कान्तेव सरसतापादनश्चेति सर्व्वोत्तममित्यर्थः। हेमाद्रिकारस्य—वोपदेवस्य, हेमाद्रिकारत्वेन तदुपादानं युक्ति-शास्त्रदर्शितत्व-लाभाय। सात्वती—भागवती ॥२६॥

अनुवाद—

है। अतएव परमार्थ का ज्ञापक होने से श्रीमद् भागवत भी वेदान्त के न्याय परम श्रुति स्वरूप है, यह कथा प्रथम स्कन्ध में उक्त है।

"तात सूत! कैसे पाण्डुकुलनन्दन परीक्षित के सहित श्रीशुकदेव का संवाद हुआ था, जिससे यह सात्वती "वैष्णवी श्रुति" श्रुति श्रीमद् भागवत का आविर्भाव हुआ है।" श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास, समस्त पुराणादि को आविर्भावित करके पश्चात् श्रीमद् भागवत का आविर्भाव किए थे। पूर्व में इसका कथन हुआ है। उसका प्रमाण प्रथम स्कन्ध गत श्रीव्यास नारद संबाद के द्वारा ही होगा ॥२६॥

सारार्थः—**श्रीव्यासदेव श्रीशुकदेव के गुरु, श्रीनारद, परमगुरु। श्रीव्यासदेव वेद का प्रकाश करके भी अप्रसन्न चित्त से भग्नोत्साह होकर सरस्वती तीर में दिनातिपात कर रहे थे। उस समय देवर्षि नारद उनको श्रीमद् भागवत उपदेश देकर उस ग्रन्थ को विस्तार करके प्रकाश करने की अनुमति प्रदान किए थे। श्रीव्यासदेव भी तदनुसार विस्तृत रूपसे श्रीमद् भागवत को प्रकाशित करके श्रीशुकदेव को अध्ययन कराये थे। एतज्जन्य व्यासदेव श्रीशुकदेव के गुरु एवं श्रीनारद परमगुरु हैं।**

श्रीनारद एवं श्रीवेदव्यास अज्ञानी नहीं थे, कर्म, योग, ज्ञान भक्ति विषय में निष्णात थे, किन्तु अधिकांश समय विभिन्न धर्म चचर्चा में रत रहते थे। श्रीमद् भागवत के सम्बन्ध बिशेष अनुशीलन का सुअवसर नहीं था, परीक्षित् की सभा में श्रीशुकदेव के मुख से श्रीमद् भागवत की अपूर्व सुमधुर व्याख्या को सुनकर—अश्रुतपूर्व अनुभव हुआ। उस प्रकार सुमधुर व्याख्या करने में नारद एवं व्यास समर्थ होने पर भी, यह व्याख्या में उन दोनों का नूतनत्व बोध हुआ। उन्होंने उस प्रकार व्याख्या करने के निमित्त शुकदेव अथवा अपर किसी उपदेश नहीं दिया था, अथवा श्रीशुकदेव के मुख से श्रवण किया, तज्जन्य आनन्द से विह्वल, एवं आत्मविस्मृत होकर आज ही नवीन आनन्द पाया, इस प्रकार भाव उभय के मनमें उदित हुआ था। ग्रन्थकारने इस अभिप्राय से ही "तावप्युपदिदेश देश्यम्" लिखा है।

"पुराणार्कोऽधुनोदितः" **इस स्थल में श्रीमद् भागवत को सूर्य्य के सहित रूपक करने का तात्पर्य्य यह है—रात्रि काल में मानवगणों के चक्षु निबिड़ अन्धकार में कुछ नहीं देख पाता, प्रातः सूर्य्य उदित होकर दर्शनशक्ति का अन्तराय अन्धकार को विदूरित करके समस्त वस्तु प्रकाश कर देते हैं। उस प्रकार श्रीमद् भागवत भी उदित होकर कलिगत अज्ञानतिमिर से आवृत मानवों के ज्ञान चक्षु का आवरण**

तदेवं परमनिःश्रेयस-निश्चयाय श्रीभागवतमेव पौर्व्वापर्य्याविरोधेन विचार्य्यते। तत्रास्मिन् सन्दर्भषट्कात्मके ग्रन्थे सूत्रस्थानीयं—अवतारिकावाक्यं, विषयवाक्यं—श्रीभागवतवाक्यम्।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

तदेवमिति ;—ननु वेद एवास्माकं प्रमाणमिति प्रतिज्ञाय पुराणमेव तत् स्वीकरोतीति किमिदं कौतुकमिति चेन्मैवं भणितव्यम्,'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य'इत्यादिश्रुत्यैव पुराणस्य वेदत्वाभिधानात्।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

परमनिःश्रेयसनिश्चयाय—परमनिःश्रेयसतत्साधननिश्चयाय। श्रीभागवतमेवेति—पुराणादिवचनान्यत्र श्रीभागवतवचनव्याख्यासम्बादार्थमेवोक्तानीति बोध्यम्। विचार्य्यते—वास्तवतत्त्वार्थकतया ज्ञापयते,

अनुवाद—

उन्मोचन किए हैं, एवं उसके सम्मुख में अन्य योग के सुदुर्लभ भक्ति, भगवद् ज्ञान, एवं प्रेम प्रकाश करके कलि जगत् को कृतार्थ किए हैं।

"वेदा पुराणं काव्यञ्च"—इत्यादि श्लोक में प्रभु, मित्र एवं प्रिय शब्द से सूचित है कि—प्रभु, राजा, अमात्यवर्ग के प्रति जो आज्ञा करते हैं, दोष गुण विचार न करके ही अमात्यगण अवनत मस्तक से उसका पालन करते हैं। उस प्रकार धार्मिक मानवगण—प्रमाण युक्ति की अपेक्षा न करके सुदृढ़ विश्वास से वेदोपदिष्ट नित्य नैमित्तिकादि कर्मानुष्ठान करते रहते हैं।

बन्धुगण: सर्वदा ही हितोपदेश देते हैं, 'उसको मित्र कहते हैं।' प्रयोजनानुसार नानाविध प्रमाण युक्ति की अवतारणा भी करते हैं, उस प्रकार पुराण भी मानव को सदुपदेश देते हैं।

पति हितैषिणी प्रेयसी,—प्रियतम पति की हितकामना से सुमधुर सरस भाषा से आलाप उपदेश देती रहती है, उस प्रकार काव्य शास्त्र भी शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार प्रभृति के द्वारा वाक्य की सरसता मधुरता आविष्कार पूर्वक उपादेयता सम्पादन करके मानव जगत् को हितोपदेश प्रदान करते हैं।

शुकदेव परीक्षित के निकट कौन भागवत कहे थे ? इसका उत्तर—श्रीमद् भागवतीय द्वादश स्कन्धीय त्रयोदश अध्याय में पुराण गणना के प्रसङ्ग में श्रीमद् भागवत को लक्ष्य करके कहा है—

"इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे। स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम्॥

जिस समय ब्रह्मा, अनन्तशायी श्रीनारायण के नाभि कमल से उद्‌भूत हुये थे, तव भगवान् उनको जो उपदेश दिये थे उसके अंश ही अष्टादश पुराण में प्रकाशित है। अनन्तर श्रीकृष्णद्वैपायन श्रीनारदमुनि के उपदेशानुसार उक्त अंश को विस्तृत रूपसे प्रकाश किये। श्रीशुकदेवने इस विस्तृत श्रीमद् भागवत का ही कीर्त्तन किया। यह ही पूज्यपाद श्रीजीव गोस्वामीपाद का अभिप्राय है।

अनन्त शक्ति विभु भगवान् के प्रयोजनानुसार लीलाधामादि का सङ्कोच प्रसारण होता है। एक ही लीला, धाम विभूतिका सङ्कोच विकाश कल्प भेद से होने पर भी उसमें अनित्यत्व दोष नहीं होता है, कारण श्रीभगवान् के समान लीला धामादि भी विभु पदार्थ है, उन सव का सङ्कोच विस्तार स्वाभाविक नियम से होता है, उस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि स्वरूप श्रीमद् भागवत का आविर्भाव कभी संक्षिप्त कभी विस्तृतरूपसे होता है। फलतः इससे उनका अनित्यत्व, कृत्रिमत्व दोष नहीं होता है, श्रीकृष्ण के प्राकटच सम्बन्ध में श्रीवसुदेव जिस प्रकार द्वार मात्र है, उस प्रकार श्रीमद् भागवत के प्राकटच कल्पमें भी श्रीकृष्णद्वैपायन द्वार स्वरूप हैं। तज्जन्य ही "पुराणार्कोऽधुनोदितः" वाक्य में सूर्य्योदय के सहित सादृश्य से श्रीमद् भागवत के आविर्भाव में स्वातन्त्र्य प्रदर्शित हुआ है॥२६॥

इस प्रकार श्रीमद् भागवत की सर्वशास्त्र श्रेष्ठता एवं श्रीकृष्ण प्रतिनिधिरूपता स्थापित हुई, तव परम मङ्गलमय वस्तु एवं उसका साधन निर्णय के निमित्त पूर्वापर अविरोध से श्रीमद् भागवत का ही विचार करते हैं, अर्थात् श्रीमद्भागवत ही वास्तव तत्त्व का प्रकाशक है, यह सूचित हो रहा है, ब्रह्मसूत्र के भाष्य

भाष्यरूपा तद्व्याख्या तु सम्प्रति मध्यदेशादौ व्याप्तानद्वैतवादिनो नूनं भगवन्महिमानम-वगाहयितुं तद्वादेन कर्व्वुरितलिपीनां परमवैष्णवानां श्रीधरस्वामिचरणानां शुद्धवैष्णव-सिद्धान्तानुगता चेत्तर्हि यथावदेव विलिख्यते। क्वचित्तेषामेवान्यत्रदृष्ट-व्याख्यानुसारेण द्रविड़ादिदेशविख्यातपरमभागवतानां, तेषामेव बाहुल्येन तत्र वैष्णवत्वेन प्रसिद्धत्वात्, श्रीभागवत एव, "क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविड़ेषु च भूरिशः—" [भा० ११, ५, ७८]
इत्यनेन—प्रमितमहिम्नां साक्षात् श्रीप्रभृतितः प्रवृत्तसम्प्रदायानां श्रीवैष्णवाभिधानां श्रीरामानुजभगवत्पादविरचितश्रीभाष्यादिदृष्टमतप्रामाण्येन मूलग्रन्थस्वारस्येन चान्यथा च।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

वेदेषु वेदान्तस्येव पुराणेषु श्रीभागवतस्य श्रैष्ठ्यनिर्णयाच्च तदेव प्रमाणमिति किमसङ्गतमुक्तमिति। अथ ब्रह्मसूत्रभाष्यरीत्या सन्दर्भस्यास्य प्रवृत्तिरित्याह;—तत्रास्मिन्निति, विचारार्हवाक्यं—विषयवाक्यम्। भाष्यरूपा—तद्व्याख्येति। अयमर्थः;—श्रीधरस्वामिनो वैष्णवा एव, तट्टीकासु भगवद्विग्रहगुणविभूति-धाम्नां तत्पार्षदतनूनाञ्च नित्यत्वोक्तेः, भगवद्भक्तेः सर्व्वोत्कृष्टमोक्षानुवृत्त्योरुक्तेश्च। तथापि क्वचित् क्वचिन्मायावादोल्लेखस्तद्वादिनो भगवद्भक्तौ प्रवेशयितुं वड़िशामिषार्पणन्यायेनैवेति विदितमिति। शुद्धवैष्णवेति—यथा सांख्यादिशास्त्राणामविरुद्धांशः सर्व्वैः स्वीकृतस्तद्वदिदं बोध्यम्। क्वचित्तेषामेवेति—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ज्ञापनं—ज्ञानानुकूलव्यापारः; स च व्यापारः—शास्त्रान्तरं युक्तिवाक्यञ्च। तत्रेति—विचारात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे इत्यर्थः। यद्वा,तत्रेत्यस्य—'सूत्रस्थानीयं' इत्यनेन 'विषयवाक्यं' इत्यनेन चान्वयः। सूत्रस्थानीयं—मूलस्थानीयम्। अवतारणिकावाक्यं—भागवतवचनोत्थापकाकाङ्क्षोत्थापकवाक्यम्। विषयवाक्यं—विचारवाक्यम्। तद्व्याख्या—भागवतव्याख्या। अवगाहयितुं—बोधयितुं, तत्सम्प्रदायान्तर्गतत्वादिति। तद्वादेन—अद्वैतवादिमतबोधत्वेन, कर्व्वुरितलिपीनां—शुद्धवैष्णवमत-तात्पर्यकत्वेन विचित्रवाक्यानां,

अनुवाद—

प्रभृति की रीति के अनुसार श्रीमद् भागवत के भाष्यरूप इस सन्दर्भ ग्रन्थ की रीति को करते हैं। विचारार्ह—"भागवत सन्दर्भः" नामक छह सन्दर्भ में अवतारिका वाक्य—अर्थात् भागवतीय वचन का सूचक वाक्य। आशङ्का उत्पादक प्रथम निर्दिष्ट वाक्य, उसको सूत्रस्थानीय (मूल स्थानीय वाक्य जानना होगा, और श्रीमद् भागवतस्थ वाक्य को विषय वाक्य—अर्थात् विचारयोग्य वाक्य जानना होगा।

प्रतीत होता है कि—सम्प्रति मध्य देशादि में परिव्याप्त अद्वैत बादिगण को श्रीभगवान् की महिमा में अवगाहन कराने के निमित्त—अर्थात् अद्वैतबादियों को भगवत् महिमा का बोध कराने के निमित्त, परम वैष्णव श्रीधरस्वामिपादने श्रीमद् भागवत के भाष्यरूप निजकृत व्याख्या ग्रन्थ में अद्वैतबाद के सहित शुद्ध वैष्णवमत का तात्पर्य्य बोधक वाक्य का सन्निवेश किया है। सुतरां मैं उनकी व्याख्या के जिस अंश में शुद्ध वैष्णव सिद्धान्त का आनुगत्य है, उसको यथावत लिखूंगा। इससे प्रतिपन्न हुआ कि—जिस स्थान में श्रीधरस्वामिपादने शुद्ध अद्वैतबाद का अनुवाद करके व्याख्या की है, उसको परित्याग करूंगा।

श्रीधरस्वामिपादने स्थानान्तर में जो व्याख्या शुद्ध वैष्णव मत के अनुकूल की उसका ग्रहण करूंगा। द्राविड़ प्रभृति देश में प्रसिद्ध जो भागवतगण विद्यमान हैं उक्त प्रदेश में उनकी संख्या भी कम नहीं है, एवं चिरकाल ही शुद्ध वैष्णव नाम से वे सव विख्यात हैं। श्रीभागवत के नवयोगिन्द्र के उपाख्यान में "महाराज! कहीं कहीं पर वैष्णव की स्थिति होने से भी द्रविड़ादि देश में ही उनकी संख्या अधिक है" इस वचन से उन सव की महिमा का कीर्त्तन हुआ है। साक्षात्–'श्रीलक्ष्मी' से ही जिस सम्प्रदाय प्रवृत्त है, एवं तज्जन्य श्रीवैष्णव नाम से जो विख्यात है, इस सम्प्रदाय का नायक अथवा प्रचारक—भगवान्

अद्वैतव्याख्यानन्तु प्रसिद्धत्वान्नातिवितायते ।।२७।।

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

क्वचित् स्थलान्तरीय-स्वामिव्याख्यानुसारेण श्रीभाष्यादिदृष्टमतप्रामाण्येन मूलश्रीभागवतस्वारस्येन चान्यथा च भाष्यरूपा तद्वयाख्या मया लिख्यते ; इति मत्कपोलकल्पनं किञ्चिदपि नास्तीति प्रमाणोपेतात्र टीकेत्यर्थः । ननु पूर्व्वपक्षज्ञानायाद्वैतञ्च व्याख्येयमिति तत्राह—अद्वैतेति ।।२७।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

परमवैष्णवानां—ज्ञानमपेक्ष्य कृष्णभक्तेरौत्कर्ष्यबोधकव्याख्यातृतया वैष्णवत्वेन प्रसिद्धानां वैष्णवसिद्धान्तानुगतेति—व्याख्येति शेषः । चेदिति—यदि दृश्यत इत्यर्थः । एतेन यत्र शुद्धाद्वैतवादमतानुवादव्याख्या, सा नात्र ग्राह्या इत्याह—क्वचिदिति, अन्यथा इत्यनेनास्यान्वयः । तेषामेव—श्रीधरस्वामिचरणानामेव, अन्यत्र—वचनान्तरव्याख्याने, दृष्टव्याख्यानुसारेण—दृष्टशुद्धवैष्णवमतार्थानुसारेण । तत्र—द्रविड़ादौ, आदिना—कर्णाट-तैलङ्गादिपरिग्रहः । द्रविड़ेष्विति—बहुवचनेन कार्णाटादिपरिग्रहः । श्रीवैष्णवाभिधानामित्यस्य 'मता' इत्यनेनान्वयः । श्रीभाष्येति—वेदान्तसूत्रभाष्येत्यर्थः । मतप्रामाण्येन—

अनुवाद—

श्रीरामानुज स्वामी हैं। आपने श्रीभाष्य का प्रणयन किया है। उक्त भाष्य में एवं माध्व भाष्य प्रभृति में युक्ति प्रमाण द्वारा जो मत स्थापित हुआ है, उस मत का अनुकूल होने से ही श्रीधरस्वामिपाद की व्याख्या गृहीत होगी। वह भी मूल श्रीमद् भागवत के स्वारस्य से ही सम्भव है। अर्थात् जिस प्रकार से श्रीमद्भागवत के अनुबन्धादि का अनुरूप हो एवं रसाभासादि दोष न हो। किसी किसी स्थानमें स्वामीपाद का अनुवर्त्ती न होकर भी ग्रन्थ विवेचन करेंगे। यदि कोई कहे कि पूर्वपक्ष प्रदर्शन के निमित्त अद्वैतवाद को दर्शाना अत्यावश्यक है। उसके सम्बन्ध में कहते हैं—अद्वैत मत की व्याख्या,—अति प्रसिद्ध है। सुतरां उसका विस्तार करना निष्प्रयोजन है ।।२७।।

सारार्थः—प्रथम केवल वेद को प्रमाण रूपसे स्वीकार करके सम्प्रति पुनर्वार पुराण को प्रमाण रूपसे स्वीकार करने से ग्रन्थकार का वाक्य असङ्गत नहीं हो सकता। कारण—प्रथम ही "एवं वा अरे महतो भूतस्य" इत्यादि श्रुति द्वारा पुराणों का वेदत्व स्थापित है, वेद के मध्य में जिस प्रकार पुराण की श्रेष्ठता है, उस प्रकार पुराण के मध्यमें श्रीमद् भागवत की श्रेष्ठता का निश्चय भी शास्त्रीय प्रमाण से ही हुआ है, सुतरां परम मङ्गलमय वस्तु प्रतिपादन विषय में श्रीमद् भागवत को अवलम्बन कर विचार करना किसी प्रकार से असङ्गत नहीं हो सकता है।

"भाष्यरूपा तद्वयाख्या तु" इत्यादि वाक्य का तात्पर्य्य यह है कि—श्रीधरस्वामिपाद निश्चय ही परम वैष्णव थे। कारण, देखने में आता है कि—श्रीमद् भागवत एवं गीता प्रभृति की टीका में आपने—श्रीभगवान् की श्रीमूर्त्ति, गुण, विभूति, धाम एवं उनके पार्षदगण के देह की नित्यता स्थापन किया है। एवं सर्वोत्कृष्ट मोक्ष के बाद भी श्रीभगवद्भक्ति की अनुवृत्ति का प्रदर्शन आपने किया है। अर्थात् मुक्तगण भी श्रीभगवन्नामगुण लीला श्रवण कीर्त्तनादि का अनुष्ठान करते रहते हैं। किन्तु धीवरगण जिस प्रकार बड़िश में आमिष संयुक्त करके मत्स्य बेधन करते हैं, उस प्रकार ही अद्वैतबादियों की दृष्टि आकृष्ट करके उनसब के चित्त श्रीभगवान् के सविशेष स्वरूप में एवं भक्ति तत्त्व में प्रविष्ट कराने के निमित्त ही आपने स्थान स्थान में अद्वैतवाद को लिखा है।

मूलस्वारस्येन चान्यथा च—इस वचन से बोध होता है कि—ग्रन्थकारने निज साम्प्रदायिक मत को असमोर्द्ध गुरुत्वपूर्ण जान कर ही समय समय पर शुद्ध वैष्णव श्रीरामानुज श्रीमध्वाचार्य्य प्रभृति के मत की अपेक्षा की है। तब उन सब के जो मत निज मत का अनुकूल है,—सादरपूर्वक उसका ग्रहण आपने किया है ।।२७।।

अत्र च स्वदर्शितार्थविशेष-प्रामाण्यायैव, न तु श्रीमद्भागवतवाक्य-प्रामाण्याय प्रमाणानि श्रुति-पुराणादिवचनानि यथादृष्टमेवोदाहरणीयानि ; क्वचित् स्वयमदृष्टाकराणि च तत्त्ववादगुरूणामनाधुनिकानां प्रचुरप्रचारितवैष्णवमतविशेषाणां दक्षिणादिदेशविख्यात-शिष्योपशिष्यीभूतविजयध्वजव्यासतीर्थादिवेदवेदार्थविद्वराणां श्रीमध्वाचार्य्यचरणानां भागवततात्पर्य्य-भारततात्पर्य्य-ब्रह्मसूत्रभाष्यादिभ्यः संगृहीतानि। तैश्चैवमुक्तं भारत-तात्पर्य्ये ;—

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अत्रेति। इह ग्रन्थे यानि श्रुतिपुराणादिवचनानि मया ध्रियन्ते, तानि स्वदर्शितार्थविशेषप्रामाण्यायैव, न तु श्रीभागवतवाक्यप्रामाण्याय, तस्य स्वतःप्रमाणत्वात्। तानि च यथादृष्टमेवोदाहरणीयानि— मूलग्रन्थात् विलोक्यात्रार्पितानीत्यर्थः। कानिचिद्वाक्यानि तु मददृष्टाकराण्यस्मदाचार्य्यश्रीमध्वमुनि-दृष्टाकराण्येव क्वचिन्मया ध्रियन्ते इत्याह—क्वचिदिति। मद्वयाख्याने क्वचिदर्थविशेषे प्रामाण्याय श्रीमध्वाचार्य्यचरणानां भागवततात्पर्य्यादिभ्यो ग्रन्थेभ्यः संगृहीतानि श्रुतिपुराणादिवचनानि ध्रियन्त इत्यनुषङ्गः। अत्रास्य ग्रन्थकर्त्तुः सत्यवादित्वं ध्वनितम्। 'कौमारब्रह्मचर्य्यवान्नैष्ठिको यः सत्यतपोनिधिः

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

प्रागुक्तयुक्त्या निर्णीतप्रामाण्यकमतानुसारेण मूलविरुद्धत्वेऽसङ्गतं स्यादित्यत आह—मूलस्वारस्येनेति। एतेन क्वचित् तत्तन्मतपरित्यागेनापि व्याख्येयमिति सूचितम्। अन्यथा चेति—'लिख्यते' पूर्व्वेणान्वयः, स्वामिचरणमतानुसारिमतेनेत्यर्थः ॥२७॥

यथादृष्टमिति—उदाहरणक्रियाविशेषणम्। स्वयमदृष्टचराणीत्यस्य—परिगृहीतानीति परेणान्वयः। स्वयमदृष्टचराणीत्यनेन मतस्यैतस्य गौरवं सूचितम्। तत्त्ववादगुरूणां—तत्त्वविचारगुरूणां, 'श्रीमच्छङ्करा-चार्य्यशिष्यतां लब्ध्वाऽपि' इत्यनेन तस्य तस्य ज्ञातस्यापि त्यागे तस्य तस्य सदोषत्वं सूचितम्। मतस्यैतस्य प्रमाणसिद्धत्वं दर्शयति—तैश्चैवमुक्तमिति। तैः—श्रीमाध्वाचार्य्यचरणैः। ज्ञेयमिति ;—

अत्रेदमवधेयम्,—महानुभावश्रीधरस्वामिप्रभृतिमतेषु यद्युक्तिशास्त्रनिर्णीतं, तत्तदेव मतं सङ्कलय्य स्वमतमाविष्कृतं, न त्वेतेषां कस्यापि सम्प्रदायान्तर्गतोऽयं ग्रन्थकार इति दर्शितम्। तत्र निर्व्विशेष-ब्रह्मोपासक-मायावादि-श्रीमच्छङ्कराचार्य्यमतमुपेक्षितं, स्वमतभक्तिशास्त्रविरुद्धत्वात्। किन्तु तस्य हृद्गतं निगूढं भागवतमतमपि गोपी-वस्त्रहरणवर्णनादिद्वारा निर्णीय तच्छिष्यपरम्परासु भक्तिप्रधानमतमाश्रित्य सम्प्रदायभेदो जात इति 'भागवतः' 'स्मार्त्तः'—इत्यद्वैतवादिसम्प्रदायद्वयम्। तत्र भागवतसम्प्रदायान्तर्गतः— श्रीधरस्वामी,तस्य वैकुण्ठनाथप्रधानतया भागवतव्याख्यानेऽपि तद्वयाख्यातभगवद्रूप-तद्भक्तिप्राधान्यमेवादृतं, न तु सर्व्वं तन्मतम्। तथा श्रीमद्रामानुजाचार्य्यः—विशिष्टाद्वैतवादी स्वयंभगवत्त्वेन लक्ष्मीनाथं संस्थाप्य

अनुवाद—

संगृहीत प्रमाणों का आकर स्थान। श्रुति पुराणादि मूल ग्रन्थ में जो वचन जिस प्रकार दृष्ट है, यथायथ रूपसे ही उसका ग्रहण भागवत सन्दर्भ में हुआ है, तव वे प्रमाण समूह भागवतीय वाक्य को प्रमाणित करने के अभिप्राय से गृहीत नहीं हुए हैं। किन्तु निज प्रदर्शित सिद्धान्त विशेष को प्रमाणित करने के अभिप्राय से ही गृहीत हुए हैं। कभी तो आकर मूलग्रन्थ उपलब्ध न होने से वैष्णव मत विशेष का बहुल प्रचारक दक्षिणादि देश विख्यात वेदवेदार्थवित् श्रेष्ठ तत्त्वबाद गुरु विजयध्वज प्रभृति के गुरु एवं व्यास तीर्थादि के परम गुरु—अति प्राचीन श्रीमन्मध्वाचार्यचरण प्रणीत—भारत तात्पर्य्य एवं भागवत तात्पर्य्यग्रन्थ एवं ब्रह्मसूत्र भाष्यसे अनेक शास्त्रीय प्रमाणों का संग्रह भी मैंने किया है। श्रीमन्मध्वाचार्य्य के ग्रन्थसमूह बहुविध प्रमाणों का आकर है। इसका बोध उनके भारत तात्पर्य्य प्रतिज्ञा वाक्यसे ही होता है।

"शास्त्रान्तराणि संजानन् वेदान्तस्य प्रसादतः। देशे देशे तथा ग्रन्थान् दृष्ट्वा चैव पृथग् विधान्॥
यथा स भगवान् व्यासः साक्षान्नारारणः प्रभुः। जगाद भारताद्येषु तथा वक्ष्ये तदीक्षया॥" इति।

तत्र तदुद्धृता श्रुतिः—चतुर्वेदशिखाद्या; पुराणञ्च—गारुड़ादीनां सम्प्रति सर्व्वत्रा-प्रचरद्रूपमंशादिकं; संहिता च—महासंहितादिका; तन्त्रञ्च—तन्त्रभागवतादिकं ब्रह्म-तर्कादिकमिति ज्ञेयम्॥२८॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

स्वप्नेऽप्यनृतं नोचे च' इति प्रसिद्धम्। तेषां कीदृशानामित्याह,—तत्त्वेति। 'सर्व्वं वस्तु सत्यम्' इति वादस्तत्त्ववादस्तदुपदेष्ट्णामित्यर्थः। अनाधुनिकानां—अतिप्राचीनानां, 'केनचित् शाङ्करेण सह विवादे मध्वस्य मतं व्यासः स्वीचक्रे, शङ्करस्य तु तत्याज' इत्यैतिह्यमस्ति। प्रचारितेति—'भक्तानां विप्राणामेव मोक्षः, देवा भक्तेषु मुख्याः, विरिञ्चस्यैव सायुज्यं, लक्ष्म्या जीवकोटित्वं' इत्येव मतविशेषः। दक्षिणादि-देशेति—तेन गौड़ेऽपि माधवेन्द्रादयस्तदुपशिष्याः कतिचिद्बभूवुरित्यर्थः। शास्त्रान्तराणीति—तेन स्वस्य दृष्टसर्व्वाकरता व्यज्यते, दिग्विजयित्वञ्चेत्युपोद्घातो व्याख्यातः॥२८॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तदुपासको जगदुपादानतया प्रकृतिमनङ्गीकृत्य परमेश्वरस्वरूप-तद्धर्म्मजड़ांशपरिणामेन जगदुत्पत्तिं स्वीकृतवान्; तन्मतमपि सर्व्वं न श्रीभागवततात्पर्य्यविषयः। किन्तु मायावादनिरास-जीवतत्त्व जगत्-सत्यत्वादि-तद्वर्णितांशमादाय स्वव्याख्यापोषणमत्र ग्रन्थे कृतम्। तथा श्रीमध्वाचार्य्यस्य द्वैतवादिनोऽपि न सर्व्वं मतं गृहीतं, तन्मतेऽपि—स्वयं भगवान् श्रीविष्णुरेव, लक्ष्म्या एव प्रधानशक्तितया व्रजलीला-तत्परिकराणां सर्व्वतो मुख्यता न तदभिप्रेता। एवं तेन 'ज्ञानप्राधान्यं, मुक्तिः—प्रधानपुरुषार्थः' इति च भाष्ये दर्शितं, परन्तु तन्मतसिद्धं—'भगवतः सगुणत्वं, नित्या प्रकृतिः, तत्परिणामो जगत् सत्यं,

अनुवाद—

"नाना शास्त्र की सम्यक् आलोचना से एवं वेदान्त के प्रसाद से भिन्न भिन्न देश के विविध ग्रन्थ को देखकर साक्षात् नारायण भगवान् व्यासदेव के अभिप्रायके अनुसार भागवतादि का तात्पर्य्य निर्णय करेंगे।"

श्रीमन्मध्वाचार्य्यने भारतादि तात्पर्य्य ग्रन्थमें जिस श्रुतियों का संग्रह किया है, उसमें चतुर्वेद शिखादि, पुराण के मध्य में अधुना सर्वत्र अप्रचलित गरुड़ादि पुराणों के अंश समूह, संहिता के मध्यमें महासंहितादि, एवं तन्त्र के मध्यमें तन्त्र भागवतादि एवं ब्रह्मतर्कादि से प्रमाणनिचय का संग्रह किया है॥२८॥

सारार्थः—"ननु भागवत प्रामाण्याय" अर्थात् श्रीमद् भागवत का वेद के समान स्वतः प्रामाण्य है। उनके अर्थ का प्रामाण्य स्थापन करने के निमित्त अन्यान्य शास्त्र की सहायता की आवश्यकता नहीं होती है, तव श्रीमद् भागवत का जो सिद्धान्त करेंगे,—उनको अन्यान्य शास्त्र प्रमाण युक्ति से सप्रमाण करने का प्रयास करूंगा। यह ही ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

"तत्त्वबाद गुरुः" श्रीबलदेव के मतमें इसका अर्थ—"सर्वं वस्तु सत्यं इति वादस्तत्त्ववादस्तदुपदेष्टॄणां इत्यर्थः" "सकल वस्तु ही सत्य है" यह जिनका उपदेश है, वह ही तत्त्वबादी हैं। श्रीमन्मध्वाचार्य ही इस मत का प्रवर्त्तक हैं। आप श्रीशङ्कराचार्य सम्प्रदायभुक्त होने पर भी स्वयं द्वैतबाद का प्रचार कर पृथक् सम्प्रदाय का गठन किए थे।

प्रस्तुत ग्रन्थकार किस सम्प्रदायी हैं? इसकी आलोचना—श्रीधर स्वामी, श्रीमन्मध्वाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य्य प्रभृति महानुभव वैष्णवाचार्यगण,—निज निज मत के अनुकूल में जो सव शास्त्र युक्ति तर्कादि का स्थापन किए हैं, ग्रन्थकार तत्समुदय का संग्रहकर निज साम्प्रदायिक मत का आविष्कार किए हैं। श्रीमत् शङ्कराचार्य्य निर्गुणब्रह्म प्रतिपादक मायाबादी है। अप्राकृत गुणगणसमन्वित विग्रह श्रीभगवान्

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

ब्रह्मतटस्थांशा जीवास्ततो भिन्ना:'—इत्यादिकं मतं गृहीतम् । प्रकृतेर्ब्रह्मस्वरूपता तेनानङ्गीकृता इति स्वमताद्विशेष: । किन्तु द्वैताद्वैतवादिभास्करीयमतं—'ब्रह्मस्वरूपशक्त्यात्मना परिणामो जगत्, सा च शक्ति: त्रिगुणा प्रकृति:' इति तदेव स्वानुमतमिति लभ्यते । परञ्च तत् सर्व्वमतमेव साधु,—"वह्वाचार्य्य-विभेदेन भगवन्तमुपासते" इत्युक्तत्वादिति । तथा च श्रीमन्महाप्रभुचरणानां मतं सर्व्वतो महत्, सर्व्वमत-सारसंग्रहरूपत्वात् । एवं श्रीमन्मध्वाचार्य्यो यथा श्रीमच्छङ्कराचार्य्यशिष्योऽपि ब्रह्मसम्प्रदायमाश्रित्य ब्रह्मसूत्र-भाष्यादिकं कृत्वा स्वातन्त्र्येण सम्प्रदायप्रवर्त्तक:, तथा स्वयंभगवदवतारोऽपि श्रीकृष्णचैतन्य:—स्वमतमेव तत्सम्प्रदायान्तर्गतत्वं गुर्व्वाश्रयणस्यावश्यकत्वमङ्गीकृत्य प्रवर्त्तितवान्—स्वस्वरूपश्रीमदद्वैता-चार्य्यादिद्वारेति, तदनुज्ञया च गोस्वामिभिस्तत्प्रकटीकृतम् । तत्र ब्रह्मसूत्रस्य भाष्यान्तरमकृत्वा भगवता नारायणेन ब्रह्मणे उपदिष्टं श्रीमद्भागवतरूपभाष्यमेव व्याख्यातुमयमारम्भ: । यद्यपि—

अनुवाद—

एवं पञ्चम पुरुषार्थ भगवत् प्रीति का संस्थापन में उनका मत मूलत: विरोधी होने से ग्रन्थकारने उसकी उपेक्षा की है, किन्तु श्रीधरस्वामिपाद के मत को ग्रहण किया है । कारण यह है कि—श्रीधरस्वामिपाद "भागवत सम्प्रदाय" भुक्त थे । श्रीमत् शङ्कराचार्य्य के अन्तर्द्धान के पश्चात् तत्कृत श्रीगोविन्दाष्टक ग्रन्थ में मृद्भक्षण वस्त्रहरणादि लीला का वर्णन को देखकर परवर्त्ती अनेक व्यक्तियों की धारणा हुई की आचार्य शङ्कर का 'भागवत' मत ही निगूढ़ अभिप्रेत है । अतएव उस समय से ही अद्वैतवादी शङ्कर सम्प्रदाय के मध्य में "भागवत" "स्मार्त्त" भेद से दो भेद आ गए थे । श्रीधरस्वामिपाद इस 'भागवत' सम्प्रदाय के अन्तर्गत थे । आपने श्रीमद् भागवत की व्याख्या में श्रीवैकुण्ठ नाथ का प्राधान्य स्थापन करने पर भी श्रीभगवान् के रूप, धाम, एवं भगवत् पार्षददेह की नित्यता, एवं भगवद्भक्ति का प्राधान्य का समादर किया है । सर्वांश का आदर नहीं किया है । अतएव ग्रन्थकार श्रीजीव गोस्वामीपाद श्रीधर सम्प्रदायी नहीं कहा जा सकता है ।

श्रीरामानुजाचार्य—विशिष्टाद्वैतबादी हैं, आपने श्रीलक्ष्मी नाथ को स्वयं भगवान् कहा है, एवं प्रकृति को जगत् का उपादान न मानकर परमेश्वर के स्वरूपगत धर्म को जाडयांश परिणाम से जगत् की उत्पत्ति को माना है । किन्तु ग्रन्थकार श्रीजीव गोस्वामिपादने उनके सर्मथित विषयों के मध्यमें मायाबाद निरास, जीवतत्त्व, जगत् सत्यत्वादि को ग्रहण कर स्वीय मत पोषण किया है, सुतरां आप रामानुज सम्प्रदायी नहीं है ।

श्रीमन्मध्वाचार्य—द्वैतबादी होने पर भी ग्रन्थकार उनका समस्त मत ग्रहण नहीं किए हैं। श्रीमध्वाचार्य के मतमें श्रीविष्णु स्वयं भगवान् लक्ष्मी उनकी प्रधान शक्ति, अथच जीव कोटित्व लक्ष्मी का । व्रजलीला एवं व्रज परिकर मुख्य नहीं है । ज्ञान का ही प्राधान्य है । मुक्ति प्रधान पुरुषार्थ ; ब्राह्मण जातिगत भक्त की ही मुक्ति होती है, देवता भक्तगणों के मध्यमें प्रधान है, ब्रह्मा की सायुज्यमुक्ति होती है, अपर की नहीं । ग्रन्थकार श्रीमन्मध्वाचार्य के समस्त मत को स्वीकार न करके—"श्रीभगवान् सगुण, प्रकृति नित्या, उसका परिणाम जगत्, जगत् की सत्यता । ब्रह्म की तटस्था शक्ति—जीव है, एवं वह ब्रह्म से भिन्न है, इत्यादि मतों का ग्रहण किए हैं । अतएव ग्रन्थकार को माध्व सम्प्रदायी कहा नहीं जा सकता है । किन्तु ग्रन्थ के उपक्रम उपसंहार को देखने से प्रतीत होता है कि—श्रीचैतन्य सम्प्रदाय नामक जो विशुद्ध वैष्णव सम्प्रदाय है, जिसका प्रवर्त्तन ४६५ वर्ष पूर्व में हुआ था, ग्रन्थकार श्रीजीवगोस्वामी इस सम्प्रदाय भुक्त आचार्य्य पदवाच्य हैं ।

श्रीमाधवेन्द्रपुरी माध्व सम्प्रदायी थे, उनके शिष्य श्रीईश्वरपुरी हैं, श्रीचैतन्य महाप्रभु श्रीईश्वरपुरी को गुरुरूप में वरण किए थे । इस दृष्टि से श्रीचैतन्यदेव को माध्व सम्प्रदायी कहा जा सकता है । किन्तु

अथ नमस्कुर्व्वन्नेव तथाभूतस्य श्रीमद्भागवतस्य तात्पर्य्यं तद्वक्तुर्हृदयनिष्ठापर्य्यालोचनया संक्षेपतस्तावन्निर्द्धारयति ;—

सर्वसम्वादिनी

अथ (मूले) प्रमेय-प्रकरणारम्भे 'अथ नमस्कुर्वन्नेव' इति सूत्र-स्थानीयस्याभासवाक्यस्य विषय-स्थानीय-श्रीभागवतवाक्य-समाम्नावङ्कविन्यासस्तद्वाक्य-सङ्गति-गणना-परः। स च श्रीक्रमसन्दर्भानुकूलो

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अथ यस्य ब्रह्मेति पद्योक्तं सम्बन्धिकृष्णतत्त्वं, तद्भक्तिलक्षणमभिधेयं, तत्प्रेमलक्षणं पुमर्थञ्च निरूपयता

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

"यो ब्रह्माणं विदधाति वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै प्रीणाति" (श्वेताश्व० ६, १८) इत्यादिश्रुत्या प्राग्दर्शितश्रुतिभिश्च सर्गादौ ऋगादिपुराणाद्यात्मकवेदसमुदायं ब्रह्मणे भगवान् उपदिदेश, तथापि तदुपदेशोऽन्तर्य्यामिरूपेण हृदि प्रवर्त्तनरूप इति वेदानां तात्पर्य्यं दुरूहं मत्वा पृच्छते ब्रह्मणे साक्षान्नारायणेन

अनुवाद—

श्रीमन्मध्वाचार्य के समान स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जगत्गुरु होकर भी लोक शिक्षार्थ विशुद्ध साम्प्रदायिक गुर्वाश्रय रीति का प्रवर्त्तन किए थे, किन्तु पदार्थतत्त्व निरूपण में निज विशेष मत का ही प्रचार किए थे।

श्रीमत् शङ्कराचार्य श्रीमध्वाचार्य प्रभृति सम्प्रदाय प्रवर्त्तकगण के समान निजमत प्रचार के उद्देश्य से ब्रह्मसूत्र की भाष्य रचना नहीं किए, इनके मतमें ही ब्रह्मसूत्र का अकृत्रिम भाष्य श्रीमद् भागवत है, अतः उनके परिकरवृन्द ब्रह्मसूत्र की पृथक् भाष्य रचना करना निष्प्रयोजन मानकर श्रीमद् भागवत के भाष्य स्वरूप षट् सन्दर्भ की रचना किए हैं।

ग्रन्थकार का आश्रयणीय एक मत है, द्वैताद्वैत भास्करीय मत समय समय पर शब्द साम्य से अधुना प्रचारित श्रीनिम्बार्क मतीय द्वैताद्वैतबाद के साथ भ्रम उपस्थित होता है, किन्तु श्रीचैतन्यदेव एवं उनके परिकरवृन्द के निकट श्रीनिम्बार्क के ग्रन्थ एवं सिद्धान्त सम्पूर्ण अज्ञात ही था। अतएव उक्त भास्करीय मत से ही जगत् ब्रह्म की शक्ति का परिणाम है, वह शक्ति भी त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। यह मत निज मत का अनुकूल होने से आपने ग्रहण किया है। ग्रन्थकार उक्त मतसमूह से उपादेय तत्त्वनिचय संग्रह करके स्वीय सम्प्रदाय के अधिदैवत श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के मत को सुदृढ़ किए हैं। श्रीचैतन्यानुचर वृन्द परमोदार हैं, पूर्वोक्त मत प्रवर्त्तकों के मत से स्वीय अनुकूल पदार्थ का आदरपूर्वक ग्रहण किए हैं। अनादर सूचक शब्द प्रयोग इन सबके लेख में नहीं है।

अनादि काल से धर्म प्रवर्त्तक विभिन्न सम्प्रदाय जगत् में निज निज प्रभुत्व स्थापन करते आ रहे हैं। उन उन सम्प्रदाय के आचार्यगण भी नाना विधि से श्रीभगवान् की उपासना करते आ रहे हैं, एवं मानव को उपदेश प्रदान भी करते हैं, श्रीभगवान् भी उससे प्रसन्न होकर भजनानुरूप फल दान भी करते हैं, सुतरां किसी सत् सम्प्रदाय घृणा द्वेष का पात्र नहीं है। तब यहाँ पर अतिशय गौरव के साथ कहा जा सकता है कि—जिस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक सार्वदेशिक, सार्वकालिक मनुष्यमात्र का एकमात्र परम उपास्य —स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के प्रकाश स्वरूप श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु हैं। उस सम्प्रदाय उक्त समस्त सम्प्रदाय से सर्वथा श्रेष्ठ है। समस्त मतों के सारसंग्रह से इस विशुद्ध मतका प्रवर्त्तन होने से ही सर्वश्रेष्ठता का अन्यतम कारण निर्णय भी होता है।

प्रमेय निर्णय के निमित्त, सर्वप्रथम प्रमाण निर्णय करना अत्यावश्यक है, अतः श्रीमद् भागवत ही प्रमेय निर्णय में विमल प्रमाण है, उसका प्रतिपादन करके उपोद्घात प्रकरण को समाप्त आपने किया ॥२८॥

"स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि।। (भा० १२,१२,६८)

टीका च श्रीधरस्वामिविरचिता ;—

"श्रीगुरुं नमस्करोति। स्वसुखेनैव निभृतं पूर्णं चेतो यस्य सः। तेनैव व्युदस्तोऽन्यस्मिन् भावो भावना यस्य तथाभूतोऽप्यजितस्य रुचिराभिर्लीलाभिराकृष्टः सारः स्वसुखगतं धैर्यं यस्य सः। तत्त्वदीपं परमार्थप्रकाशकं श्रीभागवतं यो व्यतनुत, तं नतोऽस्मि" **इत्येषा। एवमेव द्वितीये तद्वाक्यमेव;** '''प्रायेण मुनयो राजन्'' **इत्यादिपद्यत्रयमनुसन्धेयम्। अत्राखिलवृजिनं तादृशभावस्य प्रतिकूलमुदासीनञ्च ज्ञेयम्। तदेवमिह सम्बन्धितत्त्वं ब्रह्मानन्दादपि प्रकृष्टो रुचिरलीलाविशिष्टः श्रीमानजित एव। स च पूर्णत्वेन मुख्यतया श्रीकृष्णसंज्ञ एवेति श्रीवादरायणसमाधौ**

सर्वसम्वादिनी

भविष्यति। तत्र तत्र व्याख्या-समाप्तौ त्वङ्कविन्यास-विशेषस्यायमर्थः। ["स्वसुखनिभृत-" इति पद्यस्य

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

पद्येन तावद्ग्रन्थं प्रवर्त्तयन् ग्रन्थकृदवतारयति;—अथेति मङ्गलार्थम्। यस्मिन् शास्त्रवक्तुर्हृदयनिष्ठा प्रतीयते; तदेव शास्त्रप्रतिपाद्यवस्तु, न त्वन्यदित्यर्थः। स्वेति,—तदीयम्—अजितनिरूपकं पुराणमित्यर्थः। टीका चेति;—स्वसुखेनेति—स्वमसाधारणं जीवानन्दादुत्कृष्टं, गुड़ादिव मधु, यदनभिव्यक्तसंस्थानगुण-

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तदवधारणाय श्रीभागवतमेव स्फुटमुपदिष्टमिति भागवतव्याख्यानमेवोचितमिति ।।२८।।

एतावता प्रबन्धेन शिष्यप्रवर्त्तनायाभिधेयप्रकर्षं प्रदर्श्य ग्रन्थमारभते—अथेति। तद्वक्तुः—श्रीभागवतवक्तुः शुकस्य, हृदयनिष्ठा—श्रीकृष्ण-तद्भजनादिषु मनसः समाधिः,—तत्-पर्य्यालोचनया—पूर्व्वापर-तद्वचनेषु तत्-पर्य्यालोचनया। स्वसुखेति—अस्य ब्रह्मात्मकतया स्वात्मक-स्वप्रकाशसुखेनैव इत्यर्थः। यद्वा—स्वस्य यत् सुखं, "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्" इति श्रुतिसिद्धं तेनैवेत्यर्थः। अस्यां श्रुतौ जीवपरं

अनुवाद—

ग्रन्थारम्भ। ग्रन्थकार पूर्वोक्त प्रबन्ध में शिष्यवर्ग को अध्ययनादि में प्रवृत्त कराने के निमित्त अभिधेय वस्तु की प्रकर्षता प्रदर्शन करके अधुना ग्रन्थारम्भ कर रहे हैं।

अनन्तर ग्रन्थकर्त्ता प्रकृत विषय के प्रारम्भ में मूल ग्रन्थवक्ता श्रीशुकदेव को नमस्कार करने के निमित्त वक्ता श्रीशुकदेव के पूर्वापर वाक्य की पर्य्यालोचना में उनकी हृदयनिष्ठा को अनुभव कर तदनुयायि सर्व शास्त्र शिरोमणि श्रीमद् भागवत का तात्पर्य्य का निर्द्धारण संक्षेप से करते हैं। जीवानन्द से उत्कृष्टतर स्वप्रकाश ब्रह्मानन्द से जिनका चित्त परितृप्त है, एवं तज्जन्य तदितर विषय वासनामें जिनकी किसी प्रकार आसक्ति नहीं थी, तथापि श्रीकृष्ण की सुमधुर रुचिर लीला को सुनकर जिनका तादृश ब्रह्मनिष्ठ चित्त का धैर्य्य आकृष्ट हो गया था, अर्थात् निर्विशेष ब्रह्माकार मन की धैर्य्यच्युति हो गई थी, तज्जन्य जो करुणा परवश होकर परमार्थ प्रकाशक लीलामय श्रीमद् भागवत पुराण का प्रचार किया, उन निखिल पापराशि विनाशी व्यासनन्दन श्रीशुकदेव को नमस्कार करता हूँ। इस श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामिपादने भी— "सूत, निज गुरु श्रीशुकदेव को प्रणाम किए हैं" कहकर उल्लिखित अर्थ का प्रकाश किया है। द्वितीय स्कन्धमें उस प्रकार मनोवृत्ति का प्रकाश हुआ है। "हे राजन्! प्राय देखने में आता है,—निर्गुण ब्रह्मनिष्ठ शास्त्रीय विधिनिषेध से अतीत मुनिगण भी श्रीहरि के गुणानुवाद में आनन्द अनुभव करते हैं। इत्यादि पद्यत्रय में तदीय भावानुसन्धान करना कर्त्तव्य है।

सामान्याकार में सम्बन्ध प्रयोजन अभिधेय तत्त्व,—उक्त श्लोक के अखिल वृजिन शब्द से

व्यक्तीभविष्यति। तथा प्रयोजनाख्यः पुरुषार्थश्च तादृशतदासक्तिजनकं तत्प्रेमसुखमेव। ततोऽभिधेयमपि तादृशतत्प्रेमजनकं तल्लीलाश्रवणादिलक्षणं तद्भजनमेवेत्यायातम्। अत्र 'व्याससूनुं' इति ब्रह्मवैवर्त्तानुसारेण श्रीकृष्ण-वराज्जन्मत एव मायया तस्यास्पृष्टत्वं सूचितम्। १२।१२ श्रीसूतः श्रीशौनकम् ।।२९।।

सर्वसम्वादिनी

वक्ता] द्वादशस्कन्धे द्वादशाध्याये श्रीसूतः, (भा० १।७।४) 'भक्तियोगेन' इत्यादि शौनकं प्रति निर्द्धारयतीति चूर्णिका-वाकचस्यान्वयात्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ।।२९-३०।।

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

विभूतिलीलमानन्दरूपं स्वप्रकाशं ब्रह्मशब्दव्यपदेश्यं वस्तु, तेनेत्यर्थः। रुचिराभिरिति—पारमैश्वर्य्य-समवेतमाधुर्य्यसंभिन्नत्वान्मनोज्ञाभिरानन्दैकरूपाभिः पानकरसन्यायेन स्फुरदजित-तत्परिकरादिभिर्लीला-भिरित्यर्थः। अत्राखिलेति। प्रतिकूलं—प्रत्याख्यायकम्। उदासीनं—त्याजकमित्यर्थः। (अङ्कयुग्मं स्कन्धाध्याययोर्ज्ञापकम्)। श्रीसूतः श्रीशौनकं प्रति निर्द्धारयतीत्यवतारिका-वाकचेन सम्बन्धः। एवमुत्तरत्र सर्व्वत्र बोध्यम् ।।२९।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ब्रह्मपदं—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परञ्चापरमेव च" इति श्रुतेः। यद्यपि सात्वतमते जीवस्याणुत्वं, तथापि बृहत्त्वांशं परित्यज्य चेतनत्वेन जीवस्य ब्रह्मपदेन निर्द्देशः—आत्म-पदेनेवेति। अत उक्तं—"इतरेष्वात्मशब्दस्तु सोपचारो विधीयते" इति माध्वभाष्ये। यद्वा, स्वं—असाधारणं ब्रह्मानुभवजनितं सुखं तेनैवेत्यर्थः। पूर्ण—तृप्तं, तेनैव—ब्रह्मसुखतृप्तचेतस्त्वेनैव स्वसुखेनेत्यर्थः। अजितस्य—कृष्णस्य। धैर्य्यं—ब्रह्माकारे मनसो धारणम्। अथवा, धैर्य्यं—निरुक्ततृप्तत्वं, इदञ्च श्रीमद्भागवत-चर्च्चायां हेतुः। एवमेव—शुकस्यैतादृशमनोवृत्ति-पर्य्यालोचनमेव, तद्वाकच एव—शुकवाकचेऽपि। तादृशभावस्येति—

अनुवाद—

मुक्तगणों का चित्ताकर्षक भगवद्भाव का प्रतिकूल एवं त्याजक दुरदृष्ट को जानना होगा। सुतरां ब्रह्मानन्द से भी अति उत्कृष्ट सुखमय श्रीवृन्दावनादि धामगत लीलाविशिष्ट श्रीमान् अजित ही इस स्थान में सम्बन्धि तत्त्व हैं। परिपूर्ण स्वरूप होने से जो समस्त अवतार के मुख्य रूपसे निर्द्दिष्ट हुए हैं, उन श्रीकृष्ण ही यहाँ के अजित शब्द का वाच्य है। यह कथन श्रीवेदव्यास की समाधि में परिस्फुट होगा। श्रीकृष्ण में चित्त के आसक्तिजनक भगवत् प्रेमसुख का अनुभव ही प्रयोजनाख्य पुरुषार्थ है, एवं तादृश प्रेम का जनक श्रीकृष्ण लीला श्रवणादि लक्षण तदीय भजन साधन भक्ति ही अभिधेय है, उसकी उपलब्धि इस श्लोक से होती है। इस श्लोक में "व्याससूनु" शब्दोल्लेख से सूचित होता है कि—ब्रह्मवैवर्त्त पुराणानुसार जन्मतः ही शुकदेव माया से मुक्त थे। श्रीसूत ने श्रीशौनक ऋषि को उक्त वृत्तान्त "स्वसुखनिभृतचेताः" श्लोक के द्वारा कहा था ।।२९।।

सारार्थः—ग्रन्थकार श्रीमद्भागवत का भाष्यस्वरूप 'सन्दर्भ' ग्रन्थ आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम तद्विषयक गुरु श्रीशुकदेव को ही प्रणाम किये हैं। श्रीजीवगोस्वामिपादने प्रतिज्ञा की है कि "मैं स्वकपोल कल्पित कुछ भी नहीं कहूँगा।" तज्जन्य आपने प्रमाण निर्णय के प्रारम्भ में ही "कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्" इस श्रीमद् भागवतीय श्लोक से ही मङ्गलाचरण किया, पुनर्वार प्रमेय निर्णय के समय भी सर्वप्रथम उस श्रीमद् भागवतीय श्लोकोल्लेख के द्वारा ही श्रीमद् भागवत के गुरु को प्रणाम किया। इस पद्य से सूत महाराजने भी निज गुरु बुद्धि से श्रीशुकदेव को प्रणाम किया है।

श्रीगुरु—बुद्धि साक्षी हैं, उनकी करुणा से ही बुद्धि परतत्त्व ग्रहण करने में समर्थ होती है, श्रीजीव गोस्वामिपादने ही सर्वप्रमाण शिरोमणि श्रीमद् भागवत के सम्बन्ध प्रयोजन एवं अभिधेय तत्त्व का निर्णय

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

मुक्तानामप्याकर्षकस्य भगवद्भावस्येत्यर्थः । सम्वन्धितत्त्वं—श्रीभागवतप्रतिपाद्यतत्त्वम् । प्रकृष्टरुचिरा—प्रकृष्टसुखमयी या लीला—श्रीमद्वृन्दावनादिधामक्रीड़ा तद्विशिष्टः । पूर्णत्वेन—स्वतःसिद्ध-ज्ञानशक्त्यादिमत्त्वेन, बादरायणसमाधौ—व्याससमाधिलब्धार्थबोधके—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यादिवाक्ये । तदासक्तिजनकं—श्रीकृष्णसंलग्नचेतस्त्वप्रयोजकं, प्रेमसुखं—प्रेमाख्यभक्त्या सुखानुभवः । ततः—श्रीकृष्णाख्यमुख्याभिधेयासक्त्यर्थं प्रेमसुखप्रयोजनत्वात्, तद्भजनमेव—तद्भजनमपि कृष्ण-तत्प्रेमसुखादेरप्यभिधेयत्वात् । श्रीसूतः शौनकं प्रतीति—अस्य "अथ नमस्कुर्वन्नेव" इत्यादि चूर्णिकावाक्यस्थेन 'निर्द्धारयति'इत्यनेनान्वयः । एवमुत्तरत्र 'निर्द्धारयति' इति पदेन 'श्रीसूतः शौनकं प्रति' इत्यस्यान्वयः ।।२९।।

अनुवाद—

किया है । इस अलौकिक तत्त्व का स्फुरण तज्जातीय गुरुके विना हृदयमें नहीं होगा, इस अभिप्राय से ही श्रीसूत कथित प्रमाण वाक्य से अर्थात् मूल के आनुगत्य से ही प्रणाम के छल से श्रीमद् भागवत गुरु योगीन्द्र श्रीशुकदेव के निकट कृपाप्रार्थना की है ।

श्रीभगवान् एवं उनके अनन्य भक्तगण एक उद्देश्य से एक कार्य करने में प्रवृत्त होकर तद्द्वारा अनेक कार्य निष्पन्न करते हैं । यद्यपि उक्त पद्य प्रणाम के उद्देश्य से ही गृहीत हुआ है, तथापि उनके द्वारा प्रणाम के छल से संक्षेप में वक्ता गुरु श्रीशुकदेव की हृदयनिष्ठा किस वस्तुमें है अर्थात् श्रीशुकदेव श्रीमद् भागवतके सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन रूपसे किस वस्तु को स्वीकार किये हैं, इसका प्रकाश हुआ है ।

"स्वसुखनिभृतचेताः" इस विशेषण का यह अर्थ भी असङ्गत नहीं है, "आनन्दमय जीवका स्वरूप, जो मोक्ष में प्रतिष्ठित है, उस अवस्था में ही श्रीशुकदेव का मन पूर्ण था । श्रुति कहती है—आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्" इस श्रुति में जो "ब्रह्मपद है, उसका अर्थ जीव है, कारण श्रुति जीव को भी ब्रह्म कहती है" "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परञ्चापरमेव च" (मैत्रः ६, २२) जो अतिशय बृहत्—व्यापक, उसको ब्रह्म कहा गया है "बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्म परमं विदुः" (अथर्वः ४) किन्तु सात्वत मतमें जीव को अणु कहा गया है । सुतरां उक्त श्रुति में जीव को ब्रह्म क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर—ब्रह्म भी चेतन है एवं जीव भी चेतन है, अतएव ब्रह्म के बृहत्वांश को छोड़कर केवल चैतन्यांश को लक्ष्य करके ही जीव को ब्रह्म कहा गया है । जैसे अनेक स्थलमें जीव को आत्मा कहा गया है । मध्वभाष्यमें उक्त है, ईश्वर भिन्न अन्यत्र आत्म शब्द की मुख्यावृत्ति नहीं है । "इतरेष्वात्मशब्दस्तु उपचारो विधीयते" । अथवा "स्वसुखनिभृतचेताः" इस विशेषण का अर्थ यह है कि—स्व-असाधारण ब्रह्मानुभव जनित सुख से श्रीशुक देव का हृदय निभृत—पूर्ण, अर्थात् परितृप्त था, सूतरां उससे अति निकृष्ट विषयसमूह उनके चित्त को आकर्षण करने में समर्थ नहीं थे, कारण—विषय में आकृष्ट करने के अभिप्राय से श्रीवेदव्यास पुत्र के पीछे पीछे "पुत्र पुत्र" कहकर धावित होकर भी अकृतकार्य हुए थे । किन्तु जव व्यासदेव समझ गये कि पुत्र का चित्त निर्विशेष ब्रह्मनिष्ठ है, विषय में आकृष्ट होने का नहीं है, ब्रह्मानन्द से ही अति उत्कृष्ट स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के गुणलीलादि ही इसके चित्त को आकर्षण करने में समर्थ है । विशेषतः "तुम्हें माया स्पर्श नहीं करेगी" इस श्रीकृष्ण के वर से ही जव इसका जन्म हुआ है, तव पुत्र का भी निज समाधिलब्ध पुरुषोत्तम के प्रेम से आकर्षण होगा, इस अभिप्राय से सविशेष भगवत्तत्त्व का अमल प्रमाण श्रीमद्भागवत के कतिपय श्लोकों का स्मरण उन्होंने किया, जिसमें आत्माराम चित्ताकर्षी नन्दनन्दन श्रीकृष्णके रूपगुणलीला वर्णित है ।

श्रीव्यासदेवने उक्त श्लोकों का अभ्यास काष्ठ आहरणकारियों को कराया । काष्ठ आहरणकारियों के मुख से लीलाव्यञ्जनात्मक भागवतीय शब्द को सुनकर ही सद्य आत्माराम का चित्त आकृष्ट हो गया, वह शब्दानुसरण से धावित होने लगा, काष्ठ आहरणकारिगण आत्म रक्षा के निमित्त व्यासदेव के निकट उपस्थित हो गये एवं श्रीवेदव्यास के निकट सम्पूर्ण श्रीमद् भागवत अध्ययन किये ।

तादृशमेव तात्पर्य्यं करिष्यमाणतद्ग्रन्थप्रतिपाद्यतत्त्व-निर्णयकृते तत्प्रवक्तृ-श्रीबादरायणकृते समाधावपि संक्षेपत एव निर्द्धारयति ;—

"भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले । अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम् ॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् । परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते ॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे । लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥
यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोक-मोह-भयापहा ॥
स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजम् । शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम् ॥ [भा० १,७,४-८]

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

ग्रन्थवक्तुः शुकस्य यत्र निष्ठावधारिता, तत्रैव ग्रन्थकर्त्तुर्व्यासस्यापि निष्ठामवधारयितुमवतारयति;— तादृशमेवेति । निवृत्तिनिरतं—ब्रह्मानन्दादन्यस्मिन् स्पृहाविरहितम् । कस्येति—संहिताभ्यासस्य किं

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

तन्निर्द्धारणमेव दर्शयति—भक्तियोगेनेत्यादिना । मनसोऽमलत्वं—विषयपरित्यागः, तथा च प्रत्याहृते चेतसि भक्तियोगेन पूर्णं पुरुषं—स्वयंभगवन्तं श्रीकृष्णं । तदपाश्रयां— तद्बहिर्भूतां ।

"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्व्वसंश्रये । ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते" इति विष्णुपुराणात् । सर्व्वसंश्रयत्वञ्च तस्य "अस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठतः"इत्यादिश्रुत्या तदिच्छया सर्व्वधृतिनिबन्धनं गगनवत् सर्व्वसम्बन्धरूपञ्च, माया च तदिच्छया जीवं मोहयतीत्याह— ययेति । मोहनञ्च—भगवत्तत्त्वावरणरूपं, त्रिगुणात्मकं देहं मनुते—स्वाभेदेन मन्यते । अनर्थं—सुख-दुःखादि, तत्कृतं—तेन निमित्तीभूतेन लिङ्गदेहेन कृतं, अभिपद्यते—प्राप्नोति । सात्वतसंहितां— श्रीभागवतं, शोक मोहभयापहेति—माया-निवृत्तिद्वारेति शेषः । मुनिः—ब्रह्ममननशीलोऽपि । कस्येति—

अनुवाद—

इस आख्यायिका से निर्णय होता है कि—श्रीशुकदेव का हृदय किस में परिनिष्ठित था । श्रीकृष्ण द्वैपायन समाधि नाम भक्तियोगमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, भक्ति एवं प्रेम को अवगत होकर श्रीमद् भागवत ग्रन्थ में भी उसका सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन तत्त्व रूपमें निर्देश किए हैं, एवं श्रीशुकदेव को भी उसका अध्ययन कराने से आपने पिता के उपदिष्ट तत्त्वसमूह का धारण हृदयमें समीचीन रूपसे करके तद्भाव वासित अन्तःकरण से श्रीपरीक्षित् की सभा में श्रीमद् भागवत का कीर्त्तन किये ।

ग्रन्थकर्त्ता एवं वक्ता की हृदयनिष्ठा यदि एक होती है तो ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय में पार्थक्य नहीं हो सकता है । तज्जन्य श्रीमद् भागवत ग्रन्थ के भाष्यकार श्रीजीवगोस्वामी पादने व्यास एवं शुक की हृदय निष्ठा के अनुरूप ग्रन्थ के सम्बन्ध-श्रीकृष्ण, अभिधेय-भक्ति, एवं प्रयोजन-प्रेमरूप तात्पर्य्य की सूचना संक्षेप से करते हुये भागवतीय सूतोक्त श्लोक द्वारा श्रीशुकदेव को गुरु रूपमें नमस्कार किया ।

"श्रीसूतः शौनकम्" इस पद का "अथ नमस्कुर्व्वन्" इत्यादि चूर्णिका वाक्यस्थ—"निर्द्धारयति" इस क्रिया के सहित अन्वय होगा । अर्थात् सूत; शौनक ऋषि के प्रति इस प्रकार तात्पर्य्य निर्द्धारण किये थे । उत्तरोत्तर वाक्य का अर्थ भी इस नियम से जानना होगा ॥२९॥

वेदव्यास की समाधि—पूर्व वाक्यमें ग्रन्थ वक्ता श्रीशुकदेव की हृदयनिष्ठा का वर्णन हुआ है, सम्प्रति ग्रन्थ प्रकाशक श्रीकृष्णद्वैपायन की हृदयनिष्ठा उसमें ही है । इस विषय का प्रतिपादन करने के निमित्त श्रीव्यासदेव की समाधि का वर्णन करते हैं ।

महर्षि श्रीवेदव्यास ने जिस ग्रन्थ प्रकाश करने का मनस्थ किया था, उस श्रीमद् भागवत प्रतिपाद्य तत्त्व क्या है ? इसका निर्णय करने के निमित्त जिस समाधि का अवलम्बन आपने किया था, उस समाधि में भी श्रीशुकदेव की हृदयनिष्ठा के अनुयायी तात्पर्य्य निहित है, इसका निर्द्धारण संक्षेप से कर रहे हैं ।

तत्र ;— "स वै निवृत्तिनिरतः सर्व्वत्रोपेक्षको मुनिः।
कस्य वा वृहतीमेतामात्मारामः समभ्यसत् ॥" –[भा० १, ७, ९]

इति श्रीशौनकप्रश्नानन्तरञ्च ;—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्व्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् वादरायणिः। अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥" [भा० १,७,१०-११]

भक्तियोगेन—प्रेम्ना ;—

"अस्त्वेवमङ्ग ! भजतां भगवान्मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" ।—[भा० ५, ६, १८]

इत्यत्र प्रसिद्धेः। प्रणिहिते—समाहिते, "समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्" [भा० १, ५, १३]

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

फलमित्यर्थः। अध्यगात् अधीतवान्। मुक्तप्रग्रहयेति—यथाश्वः प्रग्रहे मुक्ते बलावधि धावत्येवं पूर्णशब्दः प्रवृत्तः पूर्णत्वावधि प्रवर्त्ततेति वक्तुं, तदवधिश्च स्वयंभगवत्येवेति तथोच्यते इत्यर्थः ॥३०॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

हेतोरिति-शेषः। आत्माराम इति,—तथा च ब्रह्मविचारात्मकमनने परतत्त्वं निर्व्विशेषं ब्रह्म निर्द्धार्य्य प्रत्याहारेणात्मना ब्रह्मानुभवसुखेन मग्नः कथमेतत् समभ्यसदिति भावः। निर्ग्रन्थाः—देहाभिमानरूप-ग्रन्थिशून्यतयेतरनिरपेक्षाः। भक्तिं—कृष्णभक्तिं, अहैतुकीं—मुमुक्षादिहेतुरहिताम्। इत्थम्भूताः—ब्राह्मानन्दादप्याकर्षका गुणा रूपमाधुर्य्यादयो यस्य सः। हरिरिति—मनोहरति सर्व्वस्मादिति तदर्थः। प्रेम्नेति—तस्यैव श्रीकृष्णानुभावकत्वादिति। मुक्तिं—ब्रह्मसाक्षात्काररूपाम्। अतो हरेर्गुणेन—श्रवणविषयीभूतेन, आक्षिप्ता—ब्रह्मानन्दानुभवात्मकसमाधितोऽप्याकृष्टा मतिर्यस्य सः। भगवान्—"वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवान्" इत्युक्तलक्षणः। विष्णुजनप्रिय इति। परीक्षितासङ्गे हेतुतयोक्तम्।

अनुवाद—

श्रीकृष्णभक्ति रूप प्रेम से मन निर्म्मल (विषय वासना) शून्य होकर उत्तम रूपसे समाहित होने से उन्होंने पूर्णपुरुष—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनकी अपाश्रया बहिर्भूता 'बहिरङ्गा' माया को देखा था। जीव स्वयं त्रिगुणातीत चेतनस्वरूप होकर भी मायाके द्वारा विमोहित है, तज्जन्य वह अपने को त्रिगुणात्मक देह के सहित अभेद मानता है, पश्चात् निमित्तस्वरूप—लिङ्ग भेदकृत अनर्थ—सुख दुःखादि को प्राप्त करता है। उस जीव को भी आपने देखा था, एवं अधोक्षज—प्राकृत इन्द्रिय ज्ञानातीत श्रीभगवान् के—अनर्थ नाशकारी भक्तियोग को भी आपने अवलोकन किया था। भगवान् व्यासदेव इस सब को अनुभव करके अज्ञ व्यक्तिगण को अवगत कराने के निमित्त सात्वत संहिता श्रीमद्भागवत का आविष्कार किए, जिसका श्रवण करते करते परमपुरुष श्रीकृष्ण में प्रेमभक्ति का उदय होता है, एवं तद्द्वारा जीव के शोक, मोह, भय विदूरित होते हैं।

महर्षि श्रीवेदव्यासने प्रथम श्रीमद् भागवत संहिता का वर्णन संक्षेप से किया, अनन्तर देवर्षि श्रीनारदोपदेश से उसका विस्तार रूपसे प्रकाश कर वैराग्यवान् मननशील आत्मज्ञ श्रीशुकदेव को अध्ययन कराया। श्रीमद्भागवतीय सूत्र वार्त्ता के बाद श्रीशौनक ऋषिने प्रश्न किया—श्रीशुकदेव तो मुनि, निवृत्ति मार्गनिष्ठ, सर्व विषयमें ही उपेक्षावान् थे, अर्थात् ब्रह्मानन्द व्यतीत अपर विषयों में निस्पृह एवं आत्माराम होकर भी अति विस्तृत श्रीमद् भागवत का अध्ययन आपने कैसे किया ?

उत्तरमें सूतने कहा—जो देहाभिमानरूप ग्रन्थशून्य होकर निरपेक्ष हुये है, उन सब आत्माराम मुनिगण भी अनन्त विचित्र लीलापरायण भगवान् श्रीकृष्ण में मुमुक्षादि हेतु शून्य भक्ति करते हैं। क्योंकि—सर्वमनोहारी श्रीहरि के गुण ही इस प्रकार है—असाधारण स्वीय रूपमाधुर्य्यादि के द्वारा ब्रह्मानन्द से भी

इति तं प्रति श्रीनारदोपदेशात् ; पूर्णपदस्य मुक्तप्रग्रहया वृत्त्या,—

"भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि। वर्त्तते निरुपाधिश्च वासुदेवेऽखिलात्मनि।"—

इति पाद्मोत्तरखण्डवचनावष्टम्भेन, तथा—

"कामकामो यजेत् सोममकामः पुरुषं परम्।" "अकामः सर्व्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।।"—[भा० २, ३, ९-१०]

इत्यस्य वाक्यद्वयस्य पूर्व्ववाक्ये 'पुरुषं—परमात्मानं प्रकृत्येकोपाधिम्," उत्तरवाक्ये "पुरुषं—पूर्णं निरुपाधिं" इति टीकानुसारेण च, पूर्णः पुरुषोऽत्र—स्वयंभगवानेवोच्यते ।।३०।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

पूर्णपदस्येति ; मुक्तप्रग्रहया—बाधकरहितया मुख्यया वृत्त्या पूर्णोऽत्र स्वयंभगवान् उच्यते इत्यन्वयः। तत्र पूर्णः—पूर्णपदबोध्यः, तथा च निर्व्विशेषण-पूर्णपदस्य सर्व्वसुखपरिपूर्णपरतयाऽन्यत्र बाधेन स्वयंभगवानेवात्र श्लोके उच्यते इत्यर्थः। पुरुष इत्यपि—पुरुषशब्दोऽपि। निरुपाधिः—अन्यतात्पर्य्यग्राहकपदादिसमभिव्याहाररहितः। वचनावष्टम्भेन—वचनावगतमुख्यवृत्त्या,—अस्य, 'टीकानुसारेण च' इत्यस्य च 'पुरुषोऽत्र स्वयंभगवानेवोच्यत'—इत्यनेनान्वयः। तत्र, पुरुष-पुरुषपदबोध्यः,प्रकृत्युपाधिमिति—पुरुषपदेन वैराजस्यापि

अनुवाद—

आत्माराम मुनियों के मन को आकर्षण करते रहते हैं। अतएव भगवान् बादरायणि शुकदेव जब पितृ नियोजित काष्ठाहरणकारियों के मुखसे संक्षिप्त भागवतीय श्रीहरि गुणानुकीर्त्तन श्रवण किए थे, तब उनका मन ब्रह्मानन्दानुभवात्मक समाधि से भी आकृष्ट हुआ था, एवं निज पिता श्रीव्यासदेव के निकट बृहत् आख्यान श्रीमद् भागवत का अध्ययन किए थे। अहो! श्रीमद् भागवत का कैसा अनिर्वचनीय माहात्म्य है? उस समय से ही श्रीहरिभक्तगण श्रीशुकदेव के अतिशय प्रिय बन गये थे।

पूर्व श्लोकस्थित "भक्तियोग" शब्द का "प्रेमभक्ति" अर्थ करना होगा। कारण श्रीभगवान् उनके भजनकारी व्यक्ति को मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु भक्तियोग 'प्रेम' प्रदान नहीं करते हैं। यहाँ भक्तियोग शब्द से 'प्रेम' अर्थ की प्रसिद्धि है। प्रणिहित शब्द का अर्थ—समाहित होगा। श्रीदेवर्षि नारद श्रीव्यासदेव को उपदेश किए थे,—"आप समाधिस्थ होकर श्रीभगवल्लीला का अनुस्मरण करो, अर्थात् समाधि के द्वारा लीला अवगत होकर उसका वर्णन करो।" इस श्लोकस्थित "पूर्णपुरुष" शब्द का अर्थ मुक्तप्रग्रह वृत्ति से स्वयं भगवान् है। 'भगवान् एवं पुरुष' यह दो शब्द निरुपाधि है, अर्थात् अन्य तात्पर्य्यग्राहक किसी पद का वाचक नहीं है, सुतरां उक्त शब्द की मुख्या वृत्ति श्रीवसुदेव नन्दन में ही है। पद्मपुराण के 'पूर्णपुरुष' शब्द की मुख्यावृत्तिसे जो बोध होता है, उससे तात्पर्य्य स्वयं भगवान् में ही गृहीत होता है, एवं साधारण विषय कामी व्यक्ति सोम देवता की अर्चना करें, कामना हीन व्यक्ति परमपुरुष ईश्वर की उपासना करे। अथवा अकामी, सर्वकामी, मोक्षकामी जनगण प्रसन्न मन से सुतीव्र भक्तियोग द्वारा पूर्णपुरुष भगवान् का भजन करें। श्रीमद् भागवत के द्वितीय स्कन्ध के वाक्यद्वयस्थ प्रथम वाक्य का अर्थ श्रीधरस्वामिपाद ने किया है—"पुरुष शब्द से प्रकृत्युपाधिक परमात्मा जानना होगा। द्वितीय वाक्यस्थ पुरुष शब्दसे निरुपाधि अर्थ जानना होगा।" श्रीधरस्वामिपाद की टीका के अनुसार भी यहाँ पूर्णपुरुष शब्द से केवल स्वयं भगवान् का ही बोध होता है ।।३०।।

सारार्थः—"तदपाश्रयां" विशेषणसे माया को वहिरङ्गा शक्ति जानना होगा, कारण ग्रन्थकार परवर्त्ती वाक्यमें "मायाया न स्वरूपभूतत्वमित्यपि लभ्यते" कहकर उसका वहिरङ्गत्व स्थापन किये हैं। श्रीभगवान् की शक्ति द्विविधा—'अन्तरङ्गा एवं वहिरङ्गा' है। अन्तरङ्गा को स्वरूपशक्ति कहते हैं, वहिरङ्गा को मायाशक्ति कहते हैं, अन्तरङ्गा—ह्लादिनी, सन्धिनी, सम्वित नाम से त्रिविधा है, यह शक्ति श्रीभगवान्

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

बोधनात् परशब्दसमभिव्याहृतपुरुषपदेनात्र प्रकृत्युपाधेरीश्वरस्य ग्रहणमिति भावः । कामनाभेदेन अधिकारि-भेदेन भजनीयभेदस्य प्रकृतत्वात् पूर्व्ववाकचस्थपुरुषपदार्थभेदाय तदुत्तरवाकचस्थपुरुषपदार्थविवरणं टीका-कारोक्तं दर्शयति—'पुरुषं पूर्णं निरुपाधिम्' इति । तत्र पुरुपमिति—उत्तरवाकचस्थपुरुषपदविवरणं, तद्वाकचस्थपरशब्दस्यापि ग्राहकं ; तेन 'परम्' इत्यस्यार्थः—'पूर्णम्' इति, उपाधिः—प्रकृतिः,—तद्रहितम् । तत्र पुरुपपदार्थतावच्छेदकं न निरुपाधिकं, किन्तु पुरुषत्वं—"पुरि शेते पुरुषः" इति व्युत्पत्त्या शरीर-विशेषावच्छिन्नचेतनत्वरूपं, शरीरञ्च प्रकृति-प्राकृताप्राकृत-भेदेन त्रिविधमिति । त्रिविध एव पुरुषपदार्थः,

अनुवाद—

के स्वरूप में नित्य विद्यमान होने से स्वरूपशक्ति होती है । त्रिगुणात्मिका मायाशक्ति—अप्राकृत गुणवर्जित श्रीभगवान् के पश्चात् देशमें अवस्थित होने से वह श्रीभगवान् को स्पर्श नहीं कर सकती है, अतः इसे वहिरङ्गा कहती है । यहाँ अपाश्रय शब्द वाच्य भी वहिरङ्गा माया ही है ।

"ह्लादिनी सन्धिनी सम्बित्त्वय्येका सर्वसंश्रये । ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ।। (विष्णुपुराण)

यया सम्मोहितः । इससे जीव का मोह कहा गया है । यह मोह भगवत्तत्त्व का आवरण है । माया द्वारा जीव का भगवद्भाव आवृत होने से ही देह के सहित जीव अपने को अभिन्न मान लेता है, और निमित्त स्वरूप लिङ्ग देहकृत सुख दुःखादि का उपभोग भी करता है ।

अनादि काल से ही जीवगण की दुःखदायिनी दुर्दमनीया माया को श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने भक्तियोगरूप समाधि से अवलोकन कर माया निरासक उपाय की चिन्ता की, एवं माया निवृत्ति का अनन्य सुगम उपाय —भक्तियोग को ही आपने निश्चय किया । इस भक्तियोग से जव माया निवृत्ति होती है तव जीव के शोक मोह भय मूलतः विनष्ट हो जाते हैं, अनन्तर श्रीमद् भागवत ही उक्त भक्तितत्त्व का एकमात्र ज्ञापक है, यह भी आपने स्थिर किया । पूर्व में समाधि में जिस ग्रन्थ को संक्षेप से प्राप्त किए थे, पश्चात् उसका ही विस्तृत रूपसे प्रकाश किया ।

आत्माराम ज्ञानिगण ब्रह्म विचार करते करते निर्विशेष ब्रह्म को परतत्त्व रूपसे निश्चय करते हैं, पश्चात् निखिल विषयों से मन को प्रत्याहृत करके ब्रह्मानुभव में निमग्न होते हैं । इस प्रकार अवस्थापन्न व्यक्ति ही आत्माराम है । सुतरां उस प्रकार शुकदेव की रुचि श्रीमद् भागवत अध्ययन में कैसे हुई ? श्रीशौनक का प्रश्न यह ही था ।

"निर्ग्रन्थ" शब्द से चित् जड़ात्मक ग्रन्थिशून्य, चित्, जीव, उसका 'जड़' शरीर में "अहं" अभिमान द्वारा आबद्ध होना ही ग्रन्थि है । श्रीव्यासदेव श्रीभगवद् अनुभवरूप समाधि में निमग्न थे, तज्जन्य ग्रन्थकारने "भक्तियोग" शब्द का अर्थ "प्रेम" किया है । प्रेम का ही श्रीकृष्णानुभावकत्व है, अन्तर में एवं बाहर भगवत् साक्षात्कार ही प्रेम है । इस प्रेम से स्वतः ही जीव के श्रीभगवद् विस्मृति जनित समस्त दुःख की निवृत्ति होती है, श्रीमद् भागवत में भी उक्त है—"भक्तिः परेशानुभवः ।" "प्रयोजनञ्च तदनुभवः, स चान्तर्वहिः साक्षात्कारलक्षणः, यत एव स्वयं कृतस्नदुःखनिवृत्तिर्भवति ।" (भक्ति सं १)

ग्रन्थकार श्रीजीव गोस्वामिपादने प्रीति सन्दर्भ में सामान्यतः प्रेम का स्वरूप कीर्त्तन किया है । "परतत्त्वलक्षणं तज्ज्ञानमेव परमानन्दप्राप्तिः, सैव परमपुरुषार्थ इति । स्वात्माज्ञाननिवृत्तिः दुःखात्यन्त-निवृत्तिश्च—निदाने तदज्ञाने गते सति स्वत एव सम्पद्यते । (प्रीति स० १)

भगवत् प्रेमप्राप्ति के निमित्त ही जीव का प्रयत्न करना कर्त्तव्य है । भगवदनुभवमय प्रेम आनन्दस्वरूप है, उसका उदय होने से ही स्वरूपास्फूर्त्ति एवं आत्यन्तिक दुःख का निदानरूप अज्ञान विदूरित होता है, तव कार्य्यरूप स्वरूपास्फूर्त्ति एवं आत्यन्तिक दुःख भी स्वतः ही विनष्ट हो जाता है, तज्जन्य श्रीमद्भागवत एवं उपनिषद्में उक्त है,—"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे" भा० १, २, २१, मुण्डक, ३, १, १, "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" अतएव इस अन्तर्वहिर्मय

पूर्व्वमिति पाठे "पूर्व्वमेवाहमिहासम्" इति "तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति श्रौतनिर्व्वचन-

श्रीमद्‌बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

पाठान्तरेणापि स एवार्थ इति व्याख्यातुमाह—पूर्व्वमिति; ईश्वरस्यैव पूर्व्ववर्त्तित्वात् पुरुषत्वमित्यर्थः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तत्र च पूर्णार्थक 'पर' पदसमभिव्याहारेणाप्राकृतशरीरः स्वयंभगवान् लब्ध इति सूचनाय 'निरुपाधिं' इत्युक्तम्। न च—निरुपाधिमिति टीका निर्व्विशेषब्रह्मपरेति वाच्यं, यजेतेत्यनुपपत्तेः। निर्व्विशेषस्य "यजि देवपूजायाम्" इत्युक्तयजनासम्भवादिति भावः ॥३०॥

अनुवाद—

भगवत् साक्षात्कार अनुभवात्मक प्रेम का प्रभाव से ही श्रीवेदव्यासने श्रीभगवत्तत्त्व, माया तत्त्व, जीवतत्त्व, भक्तितत्त्व की उपलब्धि की।

"मुक्तिं ददाति" यहाँ मुक्ति शब्दसे ब्रह्मसाक्षात्कारमय मुक्ति को ही जानना होगा, कारण भगवत् साक्षात्कारमय प्रेम तदपेक्षा अति दुर्ल्लभ है।

"मुक्तप्रग्रहा वृत्ति" का अर्थ बाधक रहित मुख्यावृत्ति है। शब्द की वृत्ति दो प्रकार है, सङ्कोचात्मिका एवं मुक्तप्रग्रहा, ग्रन्थकारने यहाँ पर मुक्तप्रग्रहा वृत्ति को ही स्वीकार किया है। जिस प्रकार अश्व का प्रग्रह छोड़ देने से अश्व निज शक्ति के अनुसार धावित होता है, एवं शक्ति के चरम स्थान में वह उपनीत होता है, उस प्रकार यहाँ "पूर्ण" शब्द भी श्रुत्युक्त "पूर्ण" शब्द के पूर्णावधित्व के समान स्वयं भगवान् स्वयं कृष्ण में अवस्थित है।

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमदुच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ग्रन्थकार "कामकामः" इत्यादि पूर्व वाक्य का अर्द्धवचन से श्रीधरस्वामिपाद कथित "पुरुषं परमात्मानं प्रकृत्येकोपाधिं" टीका के अंश को उल्लेख करके परशब्द विशिष्ट पुरुष से प्रकृत्युपाधि ईश्वर को ग्रहण किए हैं, पुरुष शब्द से "वैराज" पुरुष का भी बोध होता है। एतज्जन्य "प्रकृत्युपाधि" विशेषण दिया गया है। जिस साधक की कामना जैसी होती है, उसका अधिकार तारतम्य भी उस प्रकार ही होती है। भजनीय वस्तु का तारतम्य भी उस प्रकार दृष्ट होता है, यह स्वतःसिद्ध नियम है। अतएव ग्रन्थकार, विविध कामी व्यक्ति का भजनीय पूर्ववाक्यस्थ "पुरुष" पद के सहित पर वाक्यस्थ "पुरुष" पद का भेद देखाने के निमित्त श्रीधरस्वामिपाद की टीका का उल्लेख करके 'पुरुष' पद की विवृति प्रदान किये हैं। "पुरुषं पूर्णं निरुपाधिं" इस टीकांश का पुरुष शब्द भी—"अकामः सर्वकामो वा" इस उत्तर वाक्य का पुरुष शब्द की विवृति है, एवं उक्त पुरुष शब्द से "पर" शब्द गृहीत हुआ है, तज्जन्य पर शब्द का "पूर्ण" अर्थ, एवं पुरुष शब्द का निरुपाधि अर्थ उन्होंने किया है। उक्त वाक्यस्थ पुरुष शब्द से पुरुष पदार्थ का ही बोध होता है, उससे निरुपाधित्व का बोध नहीं होता है। "पुरि शेते पुरुष" इस व्युत्पत्ति से शरीर विशिष्ट चेतन पदार्थ ही पुरुष है, शरीर भी प्रकृति प्राकृत एवं अप्राकृत भेद से तीन प्रकार है, पुरुष भी तीन प्रकार है। अतएव यहाँ पूर्णार्थक पर शब्द से अप्राकृत शरीर स्वयं भगवान् का बोध होता है। इस अर्थ को सूचित करने के निमित्त श्रीस्वामिपादने "निरुपाधि" शब्द का प्रयोग किया है। "निरुपाधि" शब्द से कोई ब्रह्म को न माने, वैसा अर्थ करने से 'यजेत्' क्रिया के सहित असङ्गति होगी, कारण यज धातु का अर्थ—देवपूजा है, निर्विशेष वस्तु की पूजा की सम्भावना नहीं है। ग्रन्थकार—ऊनत्रिंश, त्रिंश वाक्य में भागवतीय वचनादि का उल्लेख कर ग्रन्थवक्ता श्रीशुकदेव एवं प्रकाशक श्रीवेदव्यास की भगवान् श्रीकृष्ण, भक्ति, प्रेम, तीन पदार्थ में हृदयनिष्ठा का प्रतिपादन किये हैं, एवं उक्त तीन पदार्थ ही क्रमशः श्रीमद् भागवत के सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन है, इसका निश्चय भी उससे आपने किया है, प्रकारान्तर से श्रीमद् भागवत के भाष्यरूप इस ग्रन्थ के सम्बन्धादि भी मूलानुरूप परिस्फुट हुए हैं ॥३०॥

विशेषपुरुस्कारेण च स एवोच्यते। तमपश्यत् श्रीवेदव्यास इति स्वरूपशक्तिमन्तमेवेत्येतत् स्वयमेव लब्धम्; 'पूर्णं चन्द्रमपश्यत्' इत्युक्ते 'कान्तिमन्तमपश्यत्' इति लभ्यते। अतएव—

"त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः। मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित आत्मनि॥"

[भा० १, ७, २३]

इत्युक्तम्। अतएव, "मायाश्च तदपाश्रयाम्" **इत्यनेन तस्मिन् अप—अपकृष्ट आश्रयो,यस्याः, निलीय स्थितत्वादिति मायाया न तत्स्वरूपभूतत्वमित्यपि लभ्यते। वक्ष्यते च;—**"माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना" **इति। स्वरूपशक्तिरियमत्रैव व्यक्तीभविष्यति—**

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

स एवेति—स्वयंभगवानेव। स्वरूपशक्तिमत्त्वे प्रमाणमाह—त्वमिति। श्रुतिश्चात्रास्ति;—

"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति।—

एषैव "ह्लादिनी सन्धिनी" इत्यादिना स्मर्य्यते। इत्युक्तमिति—कण्ठतः पाठितमर्ज्जुनेनेत्यर्थः। मायातोऽन्येयं बोध्येत्याह—अतएवेत्यादिना। मूलवाक्येन स्वरूपभूता चिच्छक्तिरियं बोधितास्तीत्याह—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

'तत् पूर्व्वमेवाहमिहासम्" इतिश्रुतिप्रतीतकस्य पूर्व्वं—सृष्टेः पूर्व्वं, प्रलयेऽहमेवासमित्यर्थः। तत्—सृष्टिपूर्व्वकालसत्त्वं, पुरुषत्वं पुरुषपदप्रवृत्तिनिमित्तं पुरुषसम्बन्धीत्यपरश्रुतिप्रतीतिकार्थः। तथा च सृष्टि-प्राक्कालसत्तावद्रूपावच्छिन्नः स्वयम्भगवानेव पुरुषपदमुख्यार्थः, तत्रैव "पुरि शरीरे शेते" इति "पुरा आसीत्" इति व्युत्पत्तिद्वयसिद्धपुरुषपदप्रवृत्तिसत्त्वादिति। स्वरूपशक्तिमन्तमिति—

"ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य्य-वीर्य्य-तेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः—

इत्युक्तेस्तस्य शक्तिमत्त्वस्य स्वाभाविकत्वात् प्रत्यक्षात्मकतज्ज्ञाने स्वाभाविकशक्त्यादेरप्यवश्यभानादिति भावः। प्रकृतेः पर इति—प्रकृतेरन्तर्व्वहिर्वर्त्तमानोऽपि प्रकृत्याश्रयोऽपि च प्रकृत्यनासङ्गः, पद्मपत्र-जलमिवेत्यर्थः। कथमसङ्गत्वम्? इत्यत आह—"मायां व्युदस्य" इति;—आवरणशक्तिनिराकरणेन तटस्थीकृत्य, चिच्छक्त्या—चिन्मयशक्त्या, कैवल्ये—सुखमये, आत्मनि—स्व-स्वरूपे देहे स्थित इति।

अनुवाद—

श्रीव्यासदेव का भगवद् दर्शन,—"भक्तियोगेन मनसि" **इस श्लोक में यदि 'पूर्ण' पाठ के परिवर्त्त में 'पूर्व' पाठ हो तो "पूर्व" शब्द से "स्वयं भगवान्" ही प्रतिपादित होते हैं। "पूर्वे" सृष्टि के पहले (प्रलयमें) एकमात्र में ही था, सृष्टि के पूर्वकाल में विद्यमानता ही पुरुष का पुरुषत्व है। सुतरां उक्त श्रुतिद्वय के निर्वचनानुसार सृष्टि के प्रथम वर्त्तमान स्वयं भगवान् ही पुरुष पद का मुख्य वाच्य है। श्रीवेदव्यास उनको देखे थे, ऐसा कहने से आप श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति के सहित देखे थे—यह स्वाभाविक अनुमेय है। पूर्ण चन्द्र को देखा है, कहने से जिस प्रकार कान्ति को छोड़कर चन्द्र का दर्शन नहीं किया, किन्तु षोड़श कलापूर्ण कान्तिमान् चन्द्र को देखा है, इसका बोध होता है। उस प्रकार यहाँ पर भी वेदव्यास,—स्वरूप शक्तिविशिष्ट श्रीभगवान् को देखे थे, यह जानना होगा। अतएव श्रीमद् भागवत में उक्त है, प्रकृति के भितर एवं बाहर में वर्त्तमान, एवं प्रकृति को आश्रय कर रहने पर भी जो आवरण—शक्तिरूपा माया को निरास कर पद्मपत्र के जल के समान उसमें अनासक्त हैं, उन आद्य पुरुष साक्षात् ईश्वर सर्वदा चिच्छक्ति सहित सुखमय स्वरूपभूत देह में देह देहि विभागशून्य होकर अवस्थित हैं। तज्जन्य—"मायाश्च तदपाश्रयां" विशेषण दिया गया है। अर्थात् माया श्रीभगवान् के निकट लुक्कायित होकर रहती है, अतः उनकी स्वरूपभूत शक्ति नहीं है, इसका बोध होता है।**

"अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे" इत्यनेन "आत्मारामाश्च" इत्यनेन च। पूर्व्वत्र हि भक्तियोगप्रभावः खल्वसौ मायाभिभावकतया स्वरूप-शक्तिवृत्तित्वेनैव गम्यते, परत्र च ते गुणा ब्रह्मानन्दस्याप्युपरिचरतया, स्वरूपशक्तेः परमवृत्तितामेवार्हन्तीति। मायाधिष्ठातृ-पुरुषस्तु तदंशत्वेन, ब्रह्म च तदीयनिर्व्विशेषाविर्भावत्वेन, तदन्तर्भावविवक्षया पृथक् नोक्ते इति ज्ञेयम्। अतोऽत्र पूर्व्ववदेव सम्बन्धितत्त्वं निर्द्धारितम् ॥३१॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

स्वरूपेत्यादिना, 'पट्टमहिषीव स्वरूपशक्तिः, वहिर्द्वार-सेविकेव मायाशक्तिः' इत्युभयोर्महदन्तरं बोध्यम्। भगवद्भक्ते भगवद्गुणानाञ्च स्वरूपशक्तिसारांशत्वं सयुक्तिकमाह—पूर्व्वत्र हीत्यादिना, ब्रह्मानन्दस्येति—अनभिव्यक्तसंस्थानादिविशेषस्येति बोध्यम्। ननु परमात्मरूपस्ताहृशब्रह्मरूपश्चाविर्भावः कुतो व्यासेन न दृष्टः? इति चेत्तत्राह—मायाधिष्ठात्रिति ॥३१॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तथा च—जीवा मायाकृतावरणेन तिरोहितज्ञानाः प्रकृत्यासक्ताः, न त्वयं तथेत्यर्थः। परैति—निलीय तिष्ठति। पूर्व्वत्र—'अनर्थोपशमं' इति श्लोके, असौ—अनर्थोपशमत्वरूपभक्तिः, स्वरूपशक्तिवृत्तित्वेनैव—भक्तेः स्वरूपभूतचिच्छक्तिसारांशत्वेनैव। परत्र—'आत्मारामाश्च' इति श्लोके, ब्रह्मानन्दस्य—ब्रह्माकार-मनोवृत्तिविषयसुखस्य, उपरिचरतया—तदधिकसुखविषयतया, परमवृत्तितां—सारांशवृत्तितां—अर्हतीति। तथा चैताहृशभक्तयधिष्ठित-मनोवृत्तिरेव प्रेमाख्या भक्तिर्भगवन्तं विषयीकरोति। मनोवृत्तिश्च—मनः-परिणामविशेषात्मकं ज्ञानमात्मनिष्ठधर्म्मः, मनः सहकृतात्मजन्य आत्मनिष्ठ एव वा धर्म्मः। उक्तञ्च

अनुवाद—

इसके बाद द्वितीय स्कन्ध में भी कहेंगे "माया भगवान् के सम्मुख में आने में लज्जा से लुक्कायित होकर रहती है। भगवान् की स्वरूपशक्ति नामक जो वस्तु है, वह "अनर्थोपशमं" एवं "आत्मारामश्च" इत्यादि श्लोकद्वय में परिस्फुट होगा। पूर्व श्लोक में—अर्थात् 'अनर्थोपशमं' इस श्लोक में जिसके प्रभाव से जीव माया के प्रभाव से अपने को मुक्त करने में समर्थ होता है, उस भक्ति को श्रीभगवान् के स्वरूपभूत चित्शक्ति का सारांश माना जाता है। एवं पर श्लोक में (आत्मारामाश्च श्लोक में) जिस गुण को ब्रह्मानन्द के उपरिचर रूप में निश्चय किया गया है। वह गुण साधारण नहीं है, भगवान् की उस स्वरूप शक्ति की सारांश वृत्ति होना ही समीचीन है।

माया का अधिष्ठाता पुरुष (परमात्मा) श्रीभगवान् का ही अंश है, एवं ब्रह्म भी उनका निर्विशेष आविर्भाव है। सुतरां उभय ही स्वयं भगवान् में अन्तर्भुक्त है, इसका प्रकाश करने के निमित्त ही सूतदेव ने व्यास समाधि में ब्रह्म एवं परमात्मा का दर्शन पृथक्रूप से कीर्त्तन नहीं किया है। अतः यहाँ पूर्व के समान ही सम्बन्धि तत्त्व निर्णीत हुआ ॥३१॥

सारार्थः—पुरुष शब्द का अर्थ,—"पुरि शरीरे शेते" जो शरीर में शयन कर रहता है, अर्थात् अन्तर्य्यामी पुरुष। अथवा "पुरा आसीत्" जो सृष्टि के पहले (प्रलय काल में भी) है, वह "पुरुष" है। पुरुष शब्द का अर्थद्वय ही स्वयं भगवान् में विद्यमान् है, सुतरां ग्रन्थकार ने "पूर्ण" विशेषण विशिष्ट पुरुष को भी शास्त्रीय प्रमाण युक्ति से स्वयं भगवान् रूप में स्थापन किया। "स्वरूपशक्तिमन्तं" व्यासदेव श्रीभगवान् स्वरूपशक्ति के सहित देखे थे। वास्तविक भगवान् कहने से निर्विशेष भाव का बोध नहीं होता है, विविध अनन्त शक्तिविशिष्ट वस्तु ही भगवान् है। "एवञ्चानन्दमात्रं विशेष्यं, समस्ताः शक्तयो विशेषणानि, विशिष्टो भगवानित्यायातम्। तथा चैवं वैशिष्ट्ये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेनाखण्डतत्त्वरूपोऽसौ भगवान्। (भग स० ३) उनकी समस्त शक्ति ही भगवत् वाच्य है। अग्नि की दाहिका शक्ति के समान भगवान् से

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

रसामृतसिन्धौ—"आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्। कृष्णादिकर्म्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते" इति। तदीयनिर्व्विशेषाविर्भावरूपत्वेन—शरीरानवच्छिन्नस्वरूपभूत-ज्ञानसुखादिमत्त्वेन। तदन्तर्भावेण—तद्रूपत्वेन, अपृथग्दृष्टत्वात् अभिन्नत्वात्, विशेष्यनिर्व्विशेषं शरीरादिविशेषाविषयकमाविर्भवतीति निर्व्विशेष-प्रकाशं ज्ञानसुखात्मकं यद्रूपं स्वरूपं, तदीयं—भगवदीयं। तद्भिनेति, अपृथग्दृष्टत्वात्—पृथग्दर्शनाभावात् विशेष्यस्य शरीरिण: शरीरमपुरस्कृत्य, ब्रह्मपदवाकचत्वादितिभाव:। यद्वा—निर्व्विशेषे आविर्भावो यस्य स: तदीयो विशेषस्तत्त्वेनेति। अथवा—निर्व्विशेषो विशेषाकाररहितो य आविर्भाव: ज्ञानं, तदात्मको यस्तदीयो विशेषस्तत्त्वेनेति। सम्बन्धितत्त्वं—एतद्ग्रन्थतात्पर्य्यविषय-प्रतिपत्तिविषयतत्त्वम्।।३१।।

अनुवाद—

वे सव शक्ति पृथक् नहीं है।

"ज्ञानशक्तिवलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषत:। भगवच्छब्द वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभि:।।"

इस प्रकार असंख्य प्रमाणों से शक्तिवर्ग का स्वाभाविकत्व प्रदर्शित हुआ है। जिस समय साधक का भगवत् प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उस समय उक्त स्वाभाविक शक्तिवर्ग का भी अनुभव होता है, तज्जन्य ग्रन्थकार ने यहाँ "पूर्णचन्द्रमपश्यत्" उदाहरण दिया है। चन्द्र दर्शन जिस प्रकार कान्ति के सहित होता है, उस प्रकार भगवद्दर्शन भी उनकी स्वरूपशक्ति के साथ ही होता है। सम्प्रति उनकी स्वरूपशक्ति क्या है? संक्षेप से उसका प्रदर्शन करते हैं—

श्रुति कहती है—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियेति।।"

परम पुरुष श्रीभगवान् की स्वाभाविकी पराशक्ति-ज्ञान-बल-क्रिया भेद से त्रिविध है, इस तीन का निर्देश—ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंश्रये वाक्य से हुआ है। आधार शक्ति—सन्धिनी, ज्ञान शक्ति—सम्वित्, एवं आनन्दशक्ति—ह्लादिनी है। शक्तित्रय विशिष्ट होने से ही भगवान् सच्चिदानन्द हैं, शक्तित्रय का स्वरूपशक्तिनिर्विशेष से परस्पर में तारतम्य न होने पर भी क्रियांश में तारतम्य है। भगवान् स्वयं सद्रूप हैं, अथच समस्त देश काल वस्तु में सर्वदा विद्यमान रहते हैं, अपर को सत्ताप्रदान करते हैं। इसका कारण ही सन्धिनी है, आप स्वयं ज्ञान स्वरूप होकर भी करामलकवत् इच्छा मात्र से ही निखिल वस्तु को जान सकते हैं, एवं भक्तगण को अवगत कराते हैं, इसका हेतु "सम्वित" है। स्वयं सुखस्वरूप होकर भी जिससे निरतिशय आनन्द अनुभव करते हैं, वह ही ह्लादिनी है, यहाँ ह्लादिनी की श्रेष्ठता है। शान्तदास्यादि पञ्च रस के विभाग से भी उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य रीति के अवलम्बन से "मधुर" रसकी श्रेष्ठता भक्तगण द्वारा प्रदर्शित है। मधुररस की श्रेष्ठता क्यों? जिस वस्तु के आस्वादन में आनन्द का आधिक्य है—वह ही मधुर है, यदि आनन्द रहने से रस 'मधुर' होता है, एवं तज्जन्य उसकी श्रेष्ठता साधित होती है। तव स्वयं आनन्दाधिष्ठात्री आनन्दमयी ह्लादिनी शक्ति की श्रेष्ठता सम्पादन के निमित्त प्रयास की आवश्यकता ही नहीं है।

भगवान् ह्लादिनी शक्ति से ही आनन्द लाभ करते हैं। जगत् में आनन्द वस्तु ही अति प्रिय है। दूसरे को छोड़कर आदर के साथ उसका ग्रहण लोक करते रहते हैं। अत: श्रीभगवान् सर्वदा ह्लादिनी शक्ति के सहित विराजमान हैं, यह अवश्य स्वीकार्य्य है। प्रश्न हो सकता है कि—तीन ही तो स्वरूपशक्ति है, ह्लादिनी के साथ विराजित हैं, कहने से अपर शक्ति द्वय का परित्याग करते हैं? नहीं, भगवच्छक्ति की अवस्थिति दो रूप से होती है—भाव रूप से एवं मूर्त्ति रूप से। शक्तिवर्ग भाव रूप से श्रीभगवान् में है ही, मूर्त्ति रूप में भी भगवद्धाम में नित्य विराजित हैं। अत: ह्लादिनी की निरुक्ति—"ह्लादात्मापि यया ह्लादते ह्लादयति" होती है।

भावरूप शक्ति से आप "ह्लादात्मा" हैं, मूर्त्तिमती ह्लादिनी शक्ति के द्वारा भगवान् स्वयं आह्लादित

"अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे" इत्यनेन "आत्मारामाश्च" इत्यनेन च। पूर्व्वत्र हि भक्तियोगप्रभावः खल्वसौ मायाभिभावकतया स्वरूप-शक्तिवृत्तित्वेनैव गम्यते, परत्र च ते गुणा ब्रह्मानन्दस्याप्युपरिचरतया, स्वरूपशक्तेः परमवृत्तितामेवार्हन्तीति। मायाधिष्ठातृ-पुरुषस्तु तदंशत्वेन, ब्रह्म च तदीयनिर्व्विशेषाविर्भावत्वेन, तदन्तर्भावविवक्षया पृथक् नोक्ते इति ज्ञेयम्। अतोऽत्र पूर्व्ववदेव सम्बन्धितत्त्वं निर्द्धारितम् ॥३१॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

स्वरूपेत्यादिना, 'पट्टमहिषीव स्वरूपशक्तिः, वहिर्द्वार-सेविकेव मायाशक्तिः' इत्युभयोर्महदन्तरं बोध्यम्। भगवद्भक्ते भगवद्गुणानाञ्च स्वरूपशक्तिसारांशत्वं सयुक्तिकमाह—पूर्व्वत्र हीत्यादिना, ब्रह्मानन्दस्येति—अनभिव्यक्तसंस्थानादिविशेषस्येति बोध्यम्। ननु परमात्मरूपस्तादृशब्रह्मरूपश्चाविर्भावः कुतो व्यासेन न दृष्टः ? इति चेत्तत्राह—मायाधिष्ठात्रिति ॥३१॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तथा च—जीवा मायाकृतावरणेन तिरोहितज्ञानाः प्रकृत्यासक्ताः, न त्वयं तथेत्यर्थः। परैति—निलीय तिष्ठति। पूर्व्वत्र—'अनर्थोपशमं' इति श्लोके, असौ—अनर्थोपशमत्वरूपभक्तिः, स्वरूपशक्तिवृत्तित्वेनैव—भक्तेः स्वरूपभूतचिच्छक्तिसारांशत्वेनैव। परत्र—'आत्मारामाश्च' इति श्लोके, ब्रह्मानन्दस्य—ब्रह्माकार-मनोवृत्तिविषयसुखस्य, उपरिचरतया—तर्दाधकसुखविषयतया, परमवृत्तितां—सारांशवृत्तितां—अर्हतीति। तथा चैतादृशभक्त्यधिष्ठित-मनोवृत्तिरेव प्रेमाख्या भक्तिर्भगवन्तं विषयीकरोति। मनोवृत्तिश्च—मनः-परिणामविशेषात्मकं ज्ञानमात्मनिष्ठधर्म्मः, मनः सहकृतात्मजन्य आत्मनिष्ठ एव वा धर्म्मः। उक्तञ्च

अनुवाद—

इसके बाद द्वितीय स्कन्ध में भी कहेंगे "माया भगवान् के सम्मुख में आने में लज्जा से लुक्कायित होकर रहती है। भगवान् की स्वरूपशक्ति नामक जो वस्तु है, वह "अनर्थोपशमं" एवं "आत्मारामश्च" इत्यादि श्लोकद्वय में परिस्फुट होगा। पूर्व श्लोक में—अर्थात् 'अनर्थोपशमं' इस श्लोक में जिसके प्रभाव से जीव माया के प्रभाव से अपने को मुक्त करने में समर्थ होता है, उस भक्ति को श्रीभगवान् के स्वरूपभूत चित्शक्ति का सारांश माना जाता है। एवं पर श्लोक में (आत्मारामाश्च श्लोक में) जिस गुण को ब्रह्मानन्द के उपरिचर रूप में निश्चय किया गया है। वह गुण साधारण नहीं है, भगवान् की उस स्वरूप शक्ति की सारांश वृत्ति होना ही समीचीन है।

माया का अधिष्ठाता पुरुष (परमात्मा) श्रीभगवान् का ही अंश है, एवं ब्रह्म भी उनका निर्विशेष आविर्भाव है। सुतरां उभय ही स्वयं भगवान् में अन्तर्भुक्त है, इसका प्रकाश करने के निमित्त ही सूतदेव ने व्यास समाधि में ब्रह्म एवं परमात्मा का दर्शन पृथक्रूप से कीर्त्तन नहीं किया है। अतः यहाँ पूर्व के समान ही सम्बन्धि तत्त्व निर्णीत हुआ ॥३१॥

सारार्थः—पुरुष शब्द का अर्थ,—"पुरि शरीरे शेते" जो शरीर में शयन कर रहता है, अर्थात् अन्तर्य्यामी पुरुष। अथवा "पुरा आसीत्" जो सृष्टि के पहले (प्रलय काल में भी) है, वह "पुरुष" है। पुरुष शब्द का अर्थद्वय ही स्वयं भगवान् में विद्यमान् है, सुतरां ग्रन्थकार ने "पूर्ण" विशेषण विशिष्ट पुरुष को भी शास्त्रीय प्रमाण युक्ति से स्वयं भगवान् रूप में स्थापन किया। "स्वरूपशक्तिमन्तं" व्यासदेव श्रीभगवान् स्वरूपशक्ति के सहित देखे थे। वास्तविक भगवान् कहने से निर्विशेष भाव का बोध नहीं होता है, विविध अनन्त शक्तिविशिष्ट वस्तु ही भगवान् है। "एवञ्चानन्दमात्रं विशेष्यं, समस्ताः शक्तयो विशेषणानि, विशिष्टो भगवानित्यायातम्। तथा चैवं वैशिष्ट्ये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेनाखण्डतत्त्वरूपोऽसौ भगवान्। (भग स० ३) उनकी समस्त शक्ति ही भगवत् वाच्य है। अग्नि की दाहिका शक्ति के समान भगवान् से

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

रसामृतसिन्धौ—"आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम् । कृष्णादिकर्म्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते" इति । तदीयनिर्व्विशेषाविर्भावरूपत्वेन—शरीरानवच्छिन्नस्वरूपभूत-ज्ञानसुखादिमत्त्वेन । तदन्तर्भावेण—तद्रूपत्वेन, अपृथग्दृष्टत्वात् अभिन्नत्वात्, विशेष्यनिर्व्विशेषं शरीरादिविशेषाविषयकमाविर्भवतीति निर्व्विशेषप्रकाशं ज्ञानसुखात्मकं यद्रूपं स्वरूपं, तदीयं—भगवदीयं । तद्विनेति, अपृथग्दृष्टत्वात्—पृथग्दर्शनाभावात् विशेष्यस्य शरीरिणः शरीरमपुरस्कृत्य, ब्रह्मपदवाच्यत्वादितिभावः । यद्वा—निर्व्विशेषे आविर्भावो यस्य सः तदीयो विशेषस्तत्त्वेनेति । अथवा—निर्व्विशेषो विशेषाकाररहितो य आविर्भावः ज्ञानं, तदात्मको यस्तदीयो विशेषस्तत्त्वेनेति । सम्बन्धितत्त्वं—एतद्ग्रन्थतात्पर्य्यविषय-प्रतिपत्तिविषयतत्त्वम् ।।३१।।

अनुवाद—

वे सब शक्ति पृथक् नहीं है ।

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्द वाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ।।"

इस प्रकार असंख्य प्रमाणों से शक्तिवर्ग का स्वाभाविकत्व प्रदर्शित हुआ है । जिस समय साधक का भगवत् प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उस समय उक्त स्वाभाविक शक्तिवर्ग का भी अनुभव होता है, तज्जन्य ग्रन्थकार ने यहाँ "पूर्णचन्द्रमपश्यत्" उदाहरण दिया है । चन्द्र दर्शन जिस प्रकार कान्ति के सहित होता है, उस प्रकार भगवद्दर्शन भी उनकी स्वरूपशक्ति के साथ ही होता है । सम्प्रति उनकी स्वरूपशक्ति क्या है ? संक्षेप से उसका प्रदर्शन करते हैं—

श्रुति कहती है—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रुयते । स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियेति ।।"

परम पुरुष श्रीभगवान् की स्वाभाविकी पराशक्ति-ज्ञान-बल-क्रिया भेद से त्रिविध है, इस तीन का निर्देश—ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंश्रये वाक्य से हुआ है । आधार शक्ति—सन्धिनी, ज्ञान शक्ति—सम्वित्, एवं आनन्दशक्ति—ह्लादिनी है । शक्तित्रय विशिष्ट होने से ही भगवान् सच्चिदानन्द हैं, शक्तित्रय का स्वरूपशक्तिनिर्विशेष से परस्पर में तारतम्य न होने पर भी क्रियांश में तारतम्य है । भगवान् स्वयं सद्रूप हैं, अथच समस्त देश काल वस्तु में सर्वदा विद्यमान रहते हैं, अपर को सत्ताप्रदान करते हैं । इसका कारण ही सन्धिनी है, आप स्वयं ज्ञान स्वरूप होकर भी करामलकवत् इच्छा मात्र से ही निखिल वस्तु को जान सकते हैं, एवं भक्तगण को अवगत कराते हैं, इसका हेतु "सम्वित" है । स्वयं सुखस्वरूप होकर भी जिससे निरतिशय आनन्द अनुभव करते हैं, वह ही ह्लादिनी है, यहाँ ह्लादिनी की श्रेष्ठता है । शान्तदास्यादि पञ्च रस के विभाग से भी उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य रीति के अवलम्बन से "मधुर" रसकी श्रेष्ठता भक्तगण द्वारा प्रदर्शित है । मधुररस की श्रेष्ठता क्यों ? जिस वस्तु के आस्वादन में आनन्द का आधिक्य है—वह ही मधुर है, यदि आनन्द रहने से रस 'मधुर' होता है, एवं तज्जन्य उसकी श्रेष्ठता साधित होती है । तब स्वयं आनन्दाधिष्ठात्री आनन्दमयी ह्लादिनी शक्ति की श्रेष्ठता सम्पादन के निमित्त प्रयास की आवश्यकता ही नहीं है ।

भगवान् ह्लादिनी शक्ति से ही आनन्द लाभ करते हैं । जगत् में आनन्द वस्तु ही अति प्रिय है । दूसरे को छोड़कर आदर के साथ उसका ग्रहण लोक करते रहते हैं । अतः श्रीभगवान् सर्वदा ह्लादिनी शक्ति के सहित विराजमान हैं, यह अवश्य स्वीकार्य्य है । प्रश्न हो सकता है कि—तीन ही तो स्वरूपशक्ति है, ह्लादिनी के साथ विराजित हैं, कहने से अपर शक्ति द्वय का परित्याग करते हैं ? नहीं, भगवच्छक्ति की अवस्थिति दो रूप से होती है—भाव रूप से एवं मूर्त्ति रूप से । शक्तिवर्ग भाव रूप से श्रीभगवान् में है ही, मूर्त्ति रूप में भी भगवद्धाम में नित्य विराजित हैं । अतः ह्लादिनी की निरुक्ति—"ह्लादात्मापि यया ह्लादते ह्लादयति" होती है ।

भावरूप शक्ति से आप "ह्लादात्मा" हैं, मूर्त्तिमती ह्लादिनी शक्ति के द्वारा भगवान् स्वयं आह्लादित

अथ प्राक्प्रतिपादितस्यैवाभिधेयस्य प्रयोजनस्य च स्थापकं जीवस्य स्वरूपत एव परमेश्वराद्वैलक्षण्यमपश्यदित्याह ययेति। यया—मायया सम्मोहितो जीवः स्वयं चिद्रूपत्वेन त्रिगुणात्मकाज्जड़ात् परोऽप्यात्मानं त्रिगुणात्मकं जड़ं देहादिसंघातं मनुते, तन्मननकृतमनर्थं संसारव्यसनञ्चाभिपद्यते। तदेवं जीवस्य चिद्रूपत्वेऽपि, "यया सम्मोहित" इति 'मनुत' इति च स्वरूपभूतज्ञानशालित्वं व्यनक्ति, प्रकाशैकरूपस्य तेजसः स्वपरप्रकाशनशक्तिवत्,

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

जीवो येनेश्वरं भजेत् भक्त्या च तस्मिन् प्रेमाणं विन्देत्ततो मायया विमुक्तः स्यात्तमीश्वराज्जीवस्य वास्तवं भेदमपश्यदिति व्याचष्टे ;—अथ प्रागित्यादिना। जीवस्येति, वैलक्षण्यमिति;—सेवकत्वसेव्यत्वाणुत्व-विभुत्वरूपनित्यधर्म्महेतुकं भेदमित्यर्थः। ननु "चिन्मात्रो जीवो यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादौ चिद्धातुत्वश्रवणात्, न तस्य धर्म्मभूतं नित्यं ज्ञानमस्ति, येन मोहमनने वर्णनीये ? तस्मात्,—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अभिधेयस्य—साधनभक्तेः। प्रयोजनस्य-प्रेमसेवायाः स्थापकमिति, जीव-परमेश्वरयोरभेदे तयोरनुपपत्तेरिति भावः। चिद्रूपं—चेतनं, परोऽपि—भिन्नोऽपि। मनुते—आत्मत्वेन जानाति, तज्ज्ञाने भ्रमरूपे दोष-विशेषतया मायैव हेतुरिति भावः। अनर्थं—रूपादिविषयग्रहणं, संसारव्यसनं—पुनःपुनःशरीरसम्बन्धे हेतुः धर्म्माधर्म्मसुखदुःखादिकम्। स्वरूपभूतज्ञानशालित्वमिति—एतेन विषयसम्बन्धरहितस्य परमेश्वर-साक्षात्कारसुखानुभवो भवतीतिसूचितम्। तत्—तस्मात्, आत्मन एव सुख दुःखादिमत्त्वादिति यावत्।

अनुवाद—

होते हैं एवं भक्तगण को आह्लादित करते हैं। इस मूर्त्तिमती ह्लादिनी शक्ति की अपेक्षा से ही कहा गया है—भगवान् सर्वदा ही ह्लादिनी शक्ति के सहित विराजमान् हैं। ह्लादिनी शक्ति के समान सन्धिनी, सम्वित् शक्ति की भावरूपता एवं मूर्त्तिरूपता है, उसका प्रदर्शन स्थल विशेष में होगा। अतएव ह्लादिनी शक्ति की सारांशरूपिणी मूर्त्तिमती श्रीराधिका के सहित श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण नित्य विराजमान हैं। "राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते जनेष्वा" (ऋक् परिशिष्ट) सुतरां व्यास समाधि में भी आप निज प्रेयसी के साथ ही आये थे, व्यासदेव उनको ही देखे थे।

भक्ति का स्वरूपशक्तित्व—यहाँ भक्ति शब्द प्रेम का वाचक है। "भक्त्यधिष्ठितमनोवृत्तिरेव प्रेमा" यह प्रेम ही श्रीभगवान् को वशीभूत करने में समर्थ है। यह प्रेमभक्ति स्वरूपशक्ति ह्लादिनी शक्ति के वृत्ति विशेष है। ह्लादिनी शक्ति का सारांश भक्ति जिस में अधिष्ठित होती है, तादृश मनोवृत्ति को ही प्रेमाख्या भक्ति कही जाती है।

"आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्। कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपाद्यते॥ (भक्तिरसामृत सि०)

"मनोवृत्ति" किसको कहती है, यह विचार्य्य है। साधारणतः सङ्कल्पविकल्पात्मक मनः है। यह मन का स्वाभाविक धर्म है, इस धर्म का परिवर्त्तन से मन आत्माकार में परिणत हो जाता है, उस आत्माकार परिणति रूप ज्ञान ही आत्मनिष्ठ धर्म है, इसको यहाँ पर मनोवृत्ति कही जाती है॥३१॥

परमेश्वर से जीव का वैलक्षण्य—जिस भेद भाव को अङ्गीकार कर परमेश्वर का भजन होता है, तद्द्वारा जीव प्रेय लाभ कर माया से मुक्त हो जाता है। वेदव्यास समाधि में परमेश्वर से जीव का उस वास्तव भेद को देखे थे। इस की व्याख्या की जा रही है। परमेश्वर से जीव का वैलक्षण्य स्वाभाविक ही है, भेद भाव का अनुमान अभिधेय—साधनभक्ति एवं प्रयोजन—प्रेम सेवा का स्थापन से ही होता है। कारण, जीव एवं ईश्वर में यदि वास्तविक भेद नहीं होता तो भक्ति एवं प्रेमरूप प्रयोजनीयता की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी, सुतरां वेदव्यास उस प्रकार से ही वैलक्षण्य को देखे थे। "यया" पद से ही

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" (भा० ५, १५) इति श्रीगीताभ्यः। तदेवं 'उपाधेरेव जीवत्वं, तन्नाशस्यैव मोक्षत्वम्' इति मतान्तरं परिहृतवान्। अत्र "यया सम्मोहितः" इत्यनेन तस्या एव तत्र कर्त्तृत्वं,भगवतस्तत्रोदासीनत्वं मतम्। वक्ष्यते च;—"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया। विमोहिता विकत्थन्ते ममाहमिति दुर्धियः" [भा० २, ५, १३] इति।

अत्र 'विलज्जमानया' इत्यनेनेदमायाति;—तस्या जीवसम्मोहनं कर्म्म श्रीभगवते न रोचते इति यद्यपि सा स्वयं जानाति, तथापि—

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं" इत्यादिवाक्यात् सत्त्वे या चैतन्यस्य छाया, तदेव सत्त्वोपहितस्य तस्य ज्ञानं, येन मोह-मनने व्यासेन दृष्टे स्याताम्? इति चेत्तत्राह,—तदेवमित्यादिना। छायाभावाच्च न तत्कल्पनं युक्तमिति भावः। ननु स्वरूपभूतं ज्ञानं कथमिति चेत्तत्राह,—प्रकाशैकेति, अहिकुण्डलाधिकरणे भाषितमेतद्द्रष्टव्यम्। तृतीयसन्दर्भे विस्तरीष्याम एतत्। तदेवमुपाधेरिति,—'अन्तःकरणं जीवः, अन्तःकरणनाशो जीवस्य मोक्षः' इति शङ्कर-मतं दूषितम्। तथा सति परोऽपीत्यादि व्याकोपादिति भावः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

जीवत्वं—ज्ञानसुखदुःखादिमत्त्वं, मोक्षत्वं—आत्यन्तिकदुःखानिवृत्तिसाधनत्वम्; न मोक्षपदवाच्यत्वम्। परिहृतवानिति—नित्यसुखसाक्षात्कारस्य स्वतःप्रयोजनतया मोक्षत्वात् तस्य नित्यचेतनात्मन्येव सम्भवात् तादृशमोक्षकामे दुःखनिवृत्तेरप्यवश्यम्भावात् दुःखनिवृत्तौ सुखस्यावश्यम्भावात् न दुःखनिवृत्तेः स्वतः प्रयोजनत्वं, उपाधिनाशस्यापि स्वतो नेच्छाविषयत्वमिति, आत्मनि नित्यसुखाभ्युदयस्यैव मोक्षत्वम्, उपाधेश्चानित्यत्वात् तदसम्भव इति भावः। ब्रह्मणः कृष्णस्वरूपत्वञ्च। तस्या एव—प्रकृतेरेव, कर्त्तृत्वं—जीवसम्मोहकत्वम्। तत्र—जीवसम्मोहने। वक्ष्यते चेति—मायाया एव मोहकत्वं न तु भगवत इति शेषः। विलज्जमानयेति,—यस्य भगवत ईक्षापथे स्थातुं विलज्जमानया अमुया मायया विमोहिता जीवा विकत्थन्ते इत्यन्वयः। किम्भूताः—पुत्रादौ 'मम' इति, शरीरे 'अहं' इति दुर्धियः सन्तः, विकत्थनं संसारव्यसनेनेति। लज्जा च—भगवत्सांङ्गिच्छक्तिमपेक्ष्य निकृष्टत्वेन, तथा च भगवदनुमतिं विनैव

अनुवाद—

उसका प्रकाश हुआ है। अर्थात् जीव स्वयं चेतन है, एवं जड़ प्रकृति से पृथक् है, तथापि वह माया—अज्ञान से सम्मोहित होता है, और अपने को त्रिगुणात्मक जड़ देहादि स्वरूप मान लेता है, इस ज्ञान से ही उसको अनर्थ—संसार पुनः पुनः जन्म मरणरूप दुःख मिलता रहता है।

जीव चिद्रूप होने पर भी उस में ज्ञातृत्व भी है, इसका प्रकाश "यया सम्मोहित" "मनुते" पदद्वय से होता है। तेजः प्रकाश स्वरूप होने पर भी स्व पर प्रकाशकारिणी शक्ति उसमें स्वाभाविकी होती है, उस प्रकार जीव ज्ञान स्वरूप होकर भी स्वरूपभूत ज्ञानशाली है। श्रीभगवद्गीता में उक्त है—अज्ञान अविद्या द्वारा ज्ञान आवृत होने से जीवगण मुग्ध होते हैं, सुतरां—"उपाधि का ही जीवत्व है, जीव नामक कोई पदार्थ नहीं है, उपाधि का नाश ही मोक्ष है, अर्थात् अन्तःकरण में उपस्थित चैतन्य ही जीव है, और उस जीवोपाधिरूप अन्तःकरण का नाश ही मोक्ष है, इत्यादि शङ्कर मत का अवास्तवत्व इससे प्रतिपन्न हुआ।"

यहाँ "माया द्वारा मोहित" इस वाक्य से जीव मोहन सम्बन्ध में माया का कर्त्तृत्व एवं श्रीभगवान् का औदासीन्य स्पष्टत ही प्रतीत होता है। श्रीमद् भागवत के द्वितीय स्कन्धस्थ ब्रह्मा के वाक्य से प्रकाश हुआ है कि—"माया श्रीभगवान् के दृष्टिपथ में रहने में लज्जिता होती है, अबोध जीव उस माया द्वारा विमोहित होकर "मैं मेरा" इस प्रकार आत्म श्लाघा करता रहता है।" यहाँ "विलज्जमाना" शब्द से बोध होता है कि—माया का जीव सम्मोहन कार्य्य ईश्वर का रुचिकर नहीं है। यद्यपि माया इसको जानती है, तथापि

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य" [भा० ११, २, ३७] इति दिशा जीवानामनादि-भगवदज्ञानमयवैमुख्यमसहमाना स्वरूपावरणमस्वरूपावेशञ्च करोति ।।३२।।

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।[1]

अत्रेति —तत्रजीवमोहने कर्म्मणि । तस्याः—मायायाः । विलज्जेति,—ब्रह्मवाक्यम् । अमुया—मायया । असहमानेति,—दास्या उचितमेतत् कर्म्म, यत् स्वामिविमुखान् दुःखाकरोतीति । ईशवैमुख्येन पिहितं जीवं माया पिधत्ते, घटेनावृतं दीपं यथा तम आवृणोतीति ।।३२।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

जीवसम्मोहः क्रियत इति भावः । भावार्थमाह अत्रेति, स्वयं जानातीति—जीवसम्मोहने भगवदनभिरुचिम् । भयं—बाध्यबाधकतानिबन्धनं, द्वितीयाभिनिवेशतः—देहाभिमानतः, ईशादपेतस्य— ईशविमुखस्य । इति दिशा—इतिदिग्दर्शनेनेति । अस्वरूपावेशं – देहावेशम् ।।३२।।

अनुवाद—

"जीव जिस प्रकार आराध्य देव श्रीभगवान् को भूल कर द्वितीय वस्तु नश्वर वस्तु में अभिनिविष्ट होता है, उस समय ही उस में भय उत्पन्न होता है, इस नियम से ही अनादि काल से ही अनादि श्रीभगवद्वैमुख्य भाव चला आ रहा है । माया उस कार्य को देखकर असहिष्णु हो जाती है, और जीव की स्वरूपास्फूर्त्ति एवं अस्वरूप में आवेश करा देती है । इस कारण से ही माया कुछ लज्जित होकर रहती है, और श्रीभगवान् के सम्मुख में आ नहीं सकती है ।।३२।।

सारार्थः—श्रीव्यासदेव, जीव एवं ईश्वर का वैलक्षण्य को देखे थे, वह भेद कैसा है, उसका विवरण संक्षेप से देते हैं, मूल में इसका विस्तार क्रमशः होगा । जीव—परमेश्वर का "सेवक है" । परमेश्वर जीव का सेव्य है । जीव—सूक्ष्म है, "सूक्ष्माणामप्यहं जीवः" (श्रीगीता) ईश्वर—विभु है, इत्यादि नित्य हेतुक भेद, जीव एवं ईश्वर में नित्य ही विद्यमान है ।

ग्रन्थकार ने जीव को चिद्रूप कहा है, उसका प्रतिपादन भी उन्होंने भागवतीय व्यास समाधिस्थ श्लोक के द्वारा किया है । जिस में माया द्वारा जीव सम्मोह एवं देहादि विषय में आत्मत्व मनन वर्णित है । किन्तु चिद्रूप (ज्ञानमय) है, उस में मोह नहीं है, अर्थात् जिस में धर्मभूत नित्य ज्ञान ही नहीं है । कारण जीव ज्ञानरूप है, उस मोह, कैसे सम्भव होगा ? श्रुति भी जीव को चिद्रूप कहती है,—"चिन्मात्रो जीवो यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानं यज्ञं तनुते" जीव चिन्मात्र है, जो विज्ञान में अवस्थित होकर विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता रहता है । यहाँ उस में 'चित्' धातु का अर्थ ही मिलता है । सुतरां "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं" इस प्रमाण के अनुसार सत्त्व में चैतन्य की जो छाया प्रतिविम्व—वह ही सत्त्वोपहित जीव का ज्ञान है, व्यास ने जिससे जीव मोहन एवं मनन को प्रत्यक्ष किया था, इस कल्पित शाङ्कर मत का निरास—"तदेवं जीवस्य चिद्रूपत्वेऽपि" इस वाक्य से करते हैं । जीव नित्य ज्ञानरूप ही नहीं है, किन्तु उस में धर्मभूत नित्य ज्ञानादि भी है, उसका सुस्पष्ट प्रकाश—"सम्मोहित" एवं "मनुते" सम्मोहन मनन क्रिया से होता है । सुतरां जीव को ज्ञानरूपत्व न कहकर स्वरूपभूत ज्ञानशालित्व कहना ही सुसङ्गत है । अतः ग्रन्थकार ने दृष्टान्त उपस्थित किया "प्रकाशैकरूपस्य" इत्यादि । सूर्य्य प्रकाशस्वरूप होकर भी प्रकाश का आश्रय है, वह अपने को एवं दूसरे को प्रकाशित करने की शक्ति प्राप्त किया है, उस प्रकार यहाँ पर भी जीव का प्रकाश धर्मत्व स्वीकार्य्य है ।

जव जीव विषय सम्बन्ध से विच्युत होता है, तव परमेश्वर साक्षात्कार जनित सुखानुभव होता है, इस की सूचना—"स्वरूपभूतज्ञानशालित्वं" वचन के द्वारा हुई है । सुतरां उस वाक्य से आत्मा सुख दुःखादिमत्त्व है, इस प्रकार ज्ञान होता है, अर्थात् जीवात्मा सुखदुःखादि युक्त है । इस प्रकार निश्चय से आचार्य्य शङ्कर के मत में ज्ञान सुख एवं दुःखादिमत्त्व ही जीवत्व है, उस उपाधि का नाश होने से मोक्ष

श्रीभगवांश्चानादित एव भक्तायां प्रपञ्चाधिकारिण्यां तस्यां दाक्षिण्यं लङ्घितुं न शक्नोति। तथा तद्भयेनापि जीवानां स्वसाम्मुख्यं वाञ्छन्नुपदिशति ;—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।" [गीता० ७, १४]

"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसम्विदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यतीति।।" [भा० ३, २५, २५]

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

नन्वीश्वरः कथं तन्मोहनं सहते? तत्राह—भगवांश्चेति—तर्हि कृपालुताक्षतिः? तत्राह—तथेति, तद्भयेनापीति—मायातो यज्जीवानां भयं तेनापि हेतुनेत्यर्थः। ततश्च न तत्क्षतिरित्यर्थः। दैवीति—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

प्रपञ्चाधिकारिण्यां—प्रपञ्चसृष्टयादौ नियुक्तायाम्, दाक्षिण्यं—साक्षादनुग्रहं, जीवसम्मोहने स्वातन्त्रयं न शक्नोतीति। तथा च करुणया भगवता स्वयं जीवसम्मोहनाशने मायायाः अद्यनाभङ्गो भवतीति न तत्कृतमिति भावः। ननु यदि जीवसम्मोहने भगवदनभिप्रायस्तदा कथं प्रपञ्चसृष्टयादौ नियोगः? जीवभोगार्थमेव तन्नियोगादिति चेन्न,

अनुवाद—

होता है, अर्थात् आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति का साधन है। किन्तु मोक्ष पद का वाच्यत्व-अभिधेयत्व नहीं है। इस मत का परिहार हुआ।

वास्तविक पक्ष दुःख निवृत्ति का साधन,—मोक्ष नहीं हो सकता है, नित्य सुख का साक्षात्कार, जीव मात्र का स्वतः ही प्रयोजनीय है, वह ही मोक्ष है। चेतन स्वरूप आत्मा में इस मोक्ष की सम्भावना है, जो इस प्रकार चाहता है उस की दुःख निवृत्ति तो स्वतः ही होगी, और यदि दुःख निवृत्ति होती है, तो सुख प्राप्ति भी अवश्य ही होगी, सुतरां दुःख निवृत्ति का स्वतः प्रयोजनीयत्व नहीं है। विचार से पता चलता है कि—प्रत्येक जीव सुख को ही चाहता है, आत्मा में नित्य सुख का अभ्युदय होना ही जब मोक्ष है, तब 'जीवत्व' उपाधि नाश के निमित्त स्वतः इच्छा होती ही नहीं, कारण—उपाधि अनित्य है, जीव में उनकी सम्भावना कुछ भी नहीं है।

अनादि भगवद्बहिर्मुखता दोष से जीव संसार में मायिक सुखदुःख मोहादि से अभिभूत हो गया, पश्चात् जब आत्यन्तिक सुखलाभ की इच्छा बलवती हुई, तब यह प्रेम सुख का साधन—साधनभक्ति का अनुष्ठान से अपने में नित्य प्रेम सुख का अभ्युदय हुआ। इस के प्रति ही जीव का चरम लक्ष्य है, उपाधि नाश करने की कामना तो किसी जीव की कभी भी नहीं होती है।

जिस प्रकार जीव नित्य दास है, उस प्रकार माया भी उनकी दासी है। अथच जीव अनादि भगवद् बहिर्मुख है, किन्तु माया जीव की भगवद्विमुखता को देख नहीं सकती है, अतः शिक्षा प्रदान के निमित्त प्रज्जलित दीप को किसी पात्र के द्वारा आवृत करने से जिस प्रकार अन्धकार उसको पुनर्वार आवृत करता है, उस प्रकार भगवद्विमुखता से आवृत जीव को—पुत्रादि में एवं शरीर में ममतारूप अस्वरूप का आवेश से विपन्न किया है।।३२।।

जिज्ञासा हो सकती है कि,—माया जीव की निर्दय भाव से संसार पेषणी द्वारा निष्पेषित कर रही है, इसका सहन भगवान् कैसे कर सकते हैं? उत्तर में वक्तव्य यह है कि—श्रीभगवान् अनादि काल से प्रपञ्च सृष्टि कार्य्य में नियुक्ता कर्त्तव्यपरायण माया के प्रति दाक्षिण्य (साक्षात् अनुग्रह) का संङ्कोच करने में असमर्थ है, अर्थात् भगवान् यदि करुणा करके स्वयं जीव के मोह को नष्ट कर देते हैं तो, माया के प्रति प्रदत्त अधिकार में हस्तक्षेप होगा, इससे माया का सम्मान नष्ट होगा, एवं स्वयं भी स्वेच्छाचारी बनेंगे। अतः उस प्रकार कार्य से सर्वथा विरत रहते हैं।

लीलया श्रीमद्व्यासरूपेण तु विशिष्टतया तदुपदिष्टवानित्यनन्तरमेवायास्यति, अनर्थोपशमं साक्षादिति। तस्माद्द्वयोरपि तत्तत् समञ्जसं ज्ञेयम्। ननु माया खलु शक्तिः, शक्तिश्च कार्य्यक्षमत्वं, तच्च धर्म्मविशेषः, तस्याः कथं लज्जादिकं ? उच्यते ;—एवं सत्यपि भगवति तासां शक्तीनामधिष्ठातृदेव्यः श्रूयन्ते, यथा केनोपनिषदि महेन्द्र-माययोः संवादः। तदास्तां प्रस्तुतं ; प्रस्तूयते ॥३३॥

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

प्रपत्तिश्चेयं सत्प्रसङ्गहेतुकैव तदुपदिष्टा, यया साम्मुख्यं स्यात्, "तद्विद्धि प्रणिपातेन" इत्यादि तद्वाक्याच्, "सतां प्रसङ्गात्" इत्याद्यग्रिमवाक्याच्च। लीलयेति—लीलावतारेण। विशिष्टतयेति—आचार्य्यरूपेणेत्यर्थः। तस्मादिति, द्वयोः—माया-भगवतोरपि। तत्तदिति—मोहनं साम्मुख्य-वाञ्छा चेत्यर्थः। ननु मायाया मोहन-लज्जनकर्त्तृत्वमुक्तं, तत् कथं जड़ायास्तस्याः सम्भवेत् ? इति शङ्कते—नन्विति मायेति ; धर्म्मविशेषः

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

"बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः। मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मनेऽकल्पनाय च॥" [भा० १०,८७,२] इति दशमोक्तपद्येन जनानां धर्म्मार्थकाममोक्षार्थं भगवतः प्रपञ्चसृष्टिबोधनात्, न तु जीवानां सम्मोहनार्थमपि नियोग इति भावः। तद्भयेनापि—मायाभयेनापि। यद्वा, जीवानां मायाकृतभयेनापि मायाकृतदर्शनेनापि इति यावत्। स्वसाम्मुख्यं वाञ्छन्नित्यर्थः उपदिशतीति—करुणयेत्यादिः। व्यासोपदेशं दर्शयति,—अनर्थोपशमं साक्षादितीति—अनर्थोपशमं साक्षादित्यादीत्यर्थः। तस्मात्—भजनोपदेशात्, द्वयोरेव—माया-जीवयोरेव, समञ्जसं—समानं, मायाया अधिकारस्थापनेन जीवस्य भयनिवृत्त्या चेति भावः। एवं—मायाया धर्म्मत्वे, भगवतीत्याधारे सप्तमी, तथा च भगवन्निष्ठानां तासां शक्तीनामित्यर्थः। संवाद इति—मायाया अधिष्ठातृदेव्यभावे तया सहेन्द्रस्य मिथः-कथनरूपसम्वादासम्भव इति भावः। 'विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्' [भा०१०,१,२५] इति 'प्रकृतिस्त्वञ्च सर्व्वस्य जगत्त्रयहितैषिणी'

अनुवाद—

जीव के प्रति श्रीभगवान् की करुणा—यदि भगवान् निज दास जीव का मोह नाश नहीं करते हैं, तो उनकी कृपालुता की हानि होती है ? उत्तर में कहते हैं—माया से जीव का सर्वदा भय है, भगवान् जानते हैं, अतः सम्मुखीन होने के निमित्त निरन्तर उपदेश देते हैं, "मेरी त्रिगुणमयी माया दुर्लङ्घ्या है, किन्तु जो मेरा आश्रय ग्रहण करता है, वह माया को अतिक्रम कर सकता है। यथाविधि साधुसङ्ग होने से, मेरी लीला का प्रकाशक, हृदय कर्णानन्ददायिनी कथा होती है, अनन्तर उक्त कथा श्रवणादि से अविद्या निवृत्ति के पथ स्वरूप मुझ में क्रमशः श्रद्धा, रति, भक्ति होती है।

श्रीभगवान्,—लीलावतार श्रीमद् व्यासरूप को प्रकट कर आचार्य्य के समान समस्त उपदेश प्रदान किये हैं। इसका विषय—"अनर्थोपशमं साक्षात्" इस भागवतीय श्लोक में उपस्थित होगा। सुतरां भजनोपदेश प्रदान करने से माया का जीव सम्मोहन कर्म एवं श्रीभगवान् मायाभय विदूरित करके जीव को निज सम्मुख में आनयन करने के इच्छा रूप कार्यद्वय का सामञ्जस्य विधान हुआ।

माया शब्द का अर्थ शक्ति है, शक्ति शब्द से कार्यक्षमता का बोध होता है, वह कार्यक्षमता भी धर्म विशेष है। सुतरां उन में लज्जा मोहन कर्त्तृत्वादि की सम्भावना कैसे है ? उत्तर में कहा—शक्ति धर्म विशेष होने पर भी उनकी अधिष्ठात्री देवी होती हैं, केनोपनिषद् में महेन्द्र के सहित माया का संवाद से उक्त सिद्धान्त प्रकट हुआ है ॥३३॥

सारार्थः—यदि जीव सम्मोहन कार्य करना श्रीभगवान् का अभिप्रेत नहीं है तब माया को प्रपञ्च सृजन कार्य में नियुक्त क्यों किया ? कारण जीव के भोग के निमित्त ही तो आवश्यकता है, और उसकी सम्पादिका

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

उत्साहादिवदित्यर्थः। सिद्धान्तयति—उच्यत इति। अधिष्ठातृदेव्य इति। विन्ध्यादिगिरीणां यथाधिष्ठातृमुर्त्तयस्तद्वत्। केनेति—तस्यां, "ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये" इत्यादिवाक्यमस्ति। "तत्राग्निवायुमघोनः सगर्व्वान् वीक्ष्य तद्गर्व्वमपनेतुं परमात्माविरभूत्। तमजानन्तस्ते जिज्ञासयामासुः। तेषां वीर्य्यं परीक्षमाणः स तृणं निदधौ। सर्व्वं दहेयमित्यग्निः, सर्व्वमाददीयेति वायुश्च ब्रुवंस्तन्निर्दग्धुमादातुञ्च नाशकत्। ज्ञातुं प्रवृत्तान्मघोनस्तु स तिरोधत्त। तदाकाशे मघवा हैमवतीमुमामाजगाम, किमेतदिति पप्रच्छ। सा च 'ब्रह्मैतत्' इत्युवाच' इति निष्कृष्टम्" ॥३३॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

इत्यादि बहुतरं प्रमाणं अस्तीति बोध्यं। अथ जड़ानां क्षित्यादिकार्य्याणामुपादानतया जड़ायाः प्रकृतेः सिद्धिरिति तस्या जड़त्वेन स्वतोऽक्षमतया तत्प्रवर्त्तकस्य चेतनपरमेश्वरस्य सिद्धिः, तदुक्तं—"स-ऐक्षत" (ऐत० १, १, १) "बहुस्याम्" (छान्दो० ६, २, ३) इत्यादि श्रुतिभिस्तस्या अधिष्ठातृदेवीस्वीकार तयैव सृष्ट्यादिसम्भवे किमीश्वरकल्पनयेति, "कार्य्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः" इत्यादिवचनविरोधश्च इति चेत्? न;— "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥" (श्वेताश्व० ४, ५)

इति सर्व्वप्रमाणवरीयस्या श्रुत्या प्रकृतिभोक्तुरात्मनोऽजत्वेन प्रतिपादनात् प्रकृतिवैशिष्टचपुरस्कारेनात्मबोधकतायामेव स्त्रीलिङ्गप्रयोगात् आत्ममात्रबोधकत्वेन 'अजः' इति पुंलिङ्गप्रयोगः। अन्यः अजः—परमेश्वरः सर्व्वव्यापकतया प्रकृत्यन्तरस्थोऽपि भुक्तभोगां—कृतनियमलक्षणभोगां तां जहाति—नात्मत्वेनाभिमन्यते। एतद्भोगाभिप्रायेणैव श्रीमच्छङ्कराचार्य्यचरणैरानन्दलहर्य्यां दुर्गायाः परमब्रह्ममहिषीत्वमुक्तम्।

अनुवाद—

माया है? उत्तर में कहा—भगवान् ने माया को प्रपञ्च सृजन कार्य में नियुक्त किया है। इस का उद्देश्य है—जीवगण को क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रदान करना है, किन्तु जीव को संसार में डालकर सम्मोहित (स्वरूप की अस्फूर्त्ति—अस्वरूप का आवेश) करने का अभिप्राय नहीं है। श्रीमद् भागवत में उक्त है—
"बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत् प्रभुः। मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मनेऽकल्पनाय च॥ (भा० १०,८७,२)

ग्रन्थकार ने श्रीमद्भागवत एवं श्रीमद् भगवद्गीता से वाक्यद्वय को उद्धृत करके जीव के प्रति भगवान् की अपार करुणा का प्रदर्शन किया है। श्रीभगवान् अमर्य्याद दयानिधि, सर्वेश्वर, वात्सल्य वारिधि हैं, यद्यपि जीव अनादि काल से निज परम उपास्य वस्तु को भूल गया है, एवं माया से लाञ्छन भोग भी कर रहा है, किन्तु भगवान् निश्चिन्त नहीं है। आप सर्वदा ही जीव को दुःख से परित्राण करने के निमित्त कभी निज सुख से, कभी योग्य जीव में भक्तिशक्ति सञ्चारित करके, लीलावतार प्रकट करके, विविध सदुपदेश प्रदान करते रहते हैं, एवं जीव के चित्त को अपने ओर आकृष्ट कर रहे हैं।

श्रीभगवान् अन्यान्य अवतार की अपेक्षा श्रीवेदव्यासरूप लीलावतार को प्रकट कर जीव को अधिकरूप से सदुपदेश प्रदान किए हैं। श्रीमद् भागवतादि पुराण एवं महाभारत, ब्रह्मसूत्र प्रभृति ग्रन्थ उस का प्रकृष्ट निदर्शन है।

"लीलया" इस शब्द से ग्रन्थकार—श्रीव्यासदेव को भगवान् के लीलावतार कहे हैं। अज्ञानान्ध जीव गण को ज्ञानालोक देखाकर भक्ति पथ में ले जाना ही इस अवतार का मुख्य उद्देश्य है, वेद विभाग एवं शास्त्र प्रकाश द्वारा उस को सफल करने के निमित्त श्रीभगवान्—पराशर एवं सत्यवती को निमित्त करके व्यास रूप में अवतीर्ण हुए थे।

"ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्। चक्रे वेद तरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः॥ (भा० १,३,२१)

इन्द्र के सहित मायाधिष्ठात्री देवी का संवाद उपनिषद में इस प्रकार है—"ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

अन्तर्य्यामितया प्रकृतौ प्रवेशाभिप्रायेणैव कारणोपाधिरीश्वर इत्युक्त, सुखदुःखमोहस्वभावसत्वरजस्तमोगुणमयप्रकृत्यभिमानिदेवतायाः स्वतन्त्रतानुपपत्त्या—शुद्धसत्त्वाख्य-चिन्मय-सुखमयशरीरस्वतन्त्रस्य लोकवत्तुलीलाकैवल्यन्यायेन नित्यलीलास्पदस्य सर्व्वनियन्तृतया सिद्धिः, लीलानुरोधेन नित्यधाम-तत्परिकराणां सिद्धिः, तादृशधामादिकं चिच्छक्त्याख्यपरशक्तिविलास एव, चिच्छक्त्यधिष्ठात्री देव्यपि वर्त्तते, सा च राधाद्या सच्चिदानन्दमयी अचिन्त्या भगवल्लीलोपयोगिनीति भगवद्भक्तानां भजनसिद्धानां नित्यसिद्धानाञ्च चिच्छक्तिविलासरूपाणि शरीराणीति दिक् । अत्रायमद्वैतवादिनां सात्वतानां निष्कर्षः ;—अद्वयं ज्ञानं ब्रह्म; तदेव प्रकृत्युपाधिरीश्वरः परमात्मा च । प्रकृतिश्च सत्त्वरजस्तमोगुणमयी सत्वप्रधाना, तस्याः समग्रसत्वांशोपाधिर्वासुदेवः, समुदितरजोगुणोपाधिर्ब्रह्मा, तमोगुणोपाधिः शिव इति मूर्त्तित्रयम् । तदुक्तम्—"सत्वं रजस्तम इति प्रकृतेगुणास्तैर्युक्तः परः" (भा० १, २, १३) इत्यादि । तत्र परः पुरुषः—

अनुवाद—

ह ब्रह्मणो विजिग्ये देवाः" इत्यादि "स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम, बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद्यक्षमिति । (केन ३, २४-२५) संक्षेपार्थ इस प्रकार है—किसी समय देवगण असुरों को युद्ध में परास्त कर गर्वित हो गये थे, गर्वापनोदन के निमित्त वहाँ परमात्मा आविर्भूत हुये थे। परिचय जानने के निमित्त उत्सुक होकर देवगण ने उन को पुछा, आप कौन हैं ? उत्तर न देकर आपने बलपरीक्षा हेतु एक तृण उनके सामने रख दिया। तव देवगण के मध्य में प्रमुख देवता अग्नि ने उस को ज्वला नहीं सका, वायु भी असमर्थ रहा। इन्द्र उपस्थित होकर परिचय प्राप्त करने में प्रवृत्त होते ही परमात्मा अपना रूप को दिखा कर अन्तर्हित हो गये। इस समय हठात् वहाँ पर स्त्रीरूप धारिणी हैमवती माया आ गई। इन्द्र उन को पुछने से माया बोली—वह 'ब्रह्म' है।

माया की अधिष्ठात्री देवी को अस्वीकार करने से महेन्द्र के साथ माया का कथोपकथन सिद्ध तो नहीं होगा। शास्त्र सत्य है, अतः इसको अस्वीकार नहीं किया जाता है। श्रीमद् भागवत में भी माया को लक्ष्य कर वर्णन है—"विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्"

मार्कण्डेय पुराण में उक्त है—"प्रकृतिस्त्वञ्च सर्वस्य जगत्रय हितैषिणी" उन कनक कान्ति कमनीय मूर्त्ति महामाया को उद्देश्य करके ही यह कथा कही गई है। इस प्रकार माया की अधिष्ठात्री देवी के अस्तित्व में बहुतर प्रमाण विद्यमान है।

विशेष कथा यह है, परिदृश्यमान पृथिवी में पृथिवी जल अग्नि वायु प्रभृति कार्यरूप वस्तुसमूह भी जड़ हैं। इसका उपादान प्रकृति है, वह भी जड़ है, जड़ की क्षमता कार्य करने की नहीं है, अत उस का परिचालक चेतन ईश्वर को स्वीकार करना अनिवार्य्य है। श्रुति कहती है—"स ऐक्षत" (ऐत० १, १, १) "बहु स्याम्" (छान्दोग्य ६, २, ३)

यदि कहा जाय कि—अधिष्ठात्री देवता स्वीकार करने से उस से ही सृष्टि हो सकती है, सहायक रूप से चेतन ईश्वर को मानने की आवश्यकता क्या है ? यदि ईश्वर की प्रयोजनीयता न हो तो "कार्योपाधिरयं जीवः" "कारणोपाधिरीश्वरः" जीव—कार्योपाधि एवं ईश्वर—कारणोपाधि है, इस समस्त वाक्य के सहित जटिल विरोध उपस्थित होगा। इस का समाधान श्रुति करती है।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः स्वरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।। (श्वेताश्वतर० ४, ५)

फलितार्थ यह है—परमेश्वर निज सर्वव्यापकता धर्म से प्रकृति के मध्यगत होकर भी भोगोत्कण्ठावती प्रकृति को परित्याग करते हैं। अर्थात् उस को स्वीयत्वेन अभिमानी होकर स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु ईश्वर के सङ्ग लाभ हेतु सर्वदा उत्सुका है, इस अभिप्राय से ही आचार्य शङ्कर ने आनन्द लहरी में श्रीदुर्गा को "परम ब्रह्म की महिषी" कहा है।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

प्रकृत्युपाधिरीश्वरः। तत्र च वासुदेवस्य सङ्कर्षणाख्यपुरुषः प्रथमोऽवतारः, सङ्कर्षणस्य प्रद्युम्नः, तस्य चानिरुद्ध इतिव्यूहचतुष्टयम्। तदुक्तम्—"एकमेवाद्वयं ब्रह्म मायया तच्चतुष्टयम्" इति। वासुदेवस्य लीलाविग्रहो वैकुण्ठनाथो नारायणो भगवानिति। स च वासुदेवः सङ्कर्षणाख्येनांशेन प्रकृतिक्षोभेण महत्तत्त्वादिक्रमेण विश्वं ससृजे।

"स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया। सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः॥" इति।

तत्र महत्तत्त्वादिक्रमेण हिरण्यगर्भः सूक्ष्मसमष्ट्यात्मकः, ततः स्थूलरूपो वैराजः रजोगुणप्रधानतया ब्रह्मणः स्थूल-सूक्ष्मरूपावेतौ, ब्रह्मणो लीलाविग्रहश्चतुराननः, शिवस्य च लीलाविग्रहा एकादश विज्ञेयाः, वासुदेवस्य च लीलाविग्रहाः—"स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः" (भा० १, ३, ६) इत्यादिना दर्शिताः। तेषु च केचित् सङ्कर्षणस्य चांशाः, केचिच्च तत्कलाः, कृष्णस्तु भगवान् स्वयं नारायण एवावतीर्णः, तदुक्तं— "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति। [भा० १, ३, २८]

अत्र स्वामिटीका—"तत्र मत्स्यादीनामवतारत्वेन सर्वज्ञत्व-सर्वशक्तिमत्त्वेऽपि यथोपयोगमेव ज्ञानक्रिया-शक्त्याविष्करणं, कुमारनारदादिष्वाधिकारिकेषु यथोपयोगमंशकलावेशः, कृष्णस्तु भगवान्नारायण एव, आविष्कृतसर्व्वशक्तिमत्त्वात्" इति। प्रकृतिश्च मायाशक्तिर्विश्वावरिका तदुपाधिर्दुर्गा, लक्ष्मीस्तु शुद्धसत्त्वांशोपाधिरिति॥३३॥

अनुवाद—

ईश्वर का कारणोपाधित्व—अवश्य स्वीकार्य्य है, कारण ईश्वर अन्तर्यामी रूप में प्रकृति में प्रवेश करते हैं। प्रकृतिरूप सत्त्व, रज, तमोगुण—क्रमशः सुख, दुःख, मोह स्वभावाक्रान्त है, इस त्रिगुणमयी प्रकृत्याभिमानिनी देवी का कुछ भी स्वातन्त्र्य नहीं है, ईश्वर ही सर्व नियन्ता हैं, शुद्ध सत्त्वात्मक चिन्मय सुखमय शरीर ईश्वर—स्वतन्त्र हैं, उन की समस्त लीला ही विशुद्धभाव से अनुष्ठित है, अथच लोक के समान प्रतीयमान हैं। तज्जन्य सर्वनियन्ताजनित दोष उन को स्पर्श नहीं करता है। जब ईश्वर नित्य हैं, विविध लीलापरायण हैं, तब उन नित्य धाम, नित्य परिकरगण भी नित्य होते हैं। अन्यथा नित्यलीला की वैचित्री की सम्भावना नहीं होती है। उक्त धाम लीला भी पराशक्ति चिच्छक्ति का विलासरूप है।

मायिक राज्य में जीव भोग्य प्रापञ्चिक लीलाक्षेत्र में त्रिगुणमयी प्रकृति दुर्गादि नाम्नी अधिष्ठात्री देवी, समस्त सम्पादन कर्त्री है, उस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के अप्राकृत निज भोग्य लीलाक्षेत्र में भी सच्चिदानन्दमयी श्रीराधा प्रभृति व्रजदेवी अधिष्ठात्री देवी हैं। यह सब ही स्वरूपशक्ति हैं, चिच्छक्ति की विलासस्फूर्त्ति हैं, सब ही श्रीकृष्ण लीला सम्पादन कर्त्री हैं। श्रीभगवान् के देह जिस प्रकार चिच्छक्ति का विलासरूप नित्य है, उस प्रकार नित्यसिद्ध परिकर, भक्त एवं साधन सिद्ध भक्तगण के देह भी चिच्छक्ति के विलास, एवं नित्य है।

अद्वैतबादि भक्तगण का मत—श्रीधरस्वामि प्रभृति अद्वयबादी भक्तगण के मत में एक अद्वय ज्ञान तत्त्व ब्रह्म,—प्रकृत्युपाधि ईश्वर परमात्मा नाम से कथित हैं, प्रकृत्युपाधि—एक ईश्वर, प्रकृति के सत्त्वगुण का नियामक—वासुदेव, रजोगुण का नियामक—ब्रह्मा, तमोगुण का नियामक—श्रीशिव हैं। वासुदेव से सङ्कर्षण, उन से प्रद्युम्न, उन से अनिरुद्ध नामक चतुर्व्यूह हैं। "एकमेवाद्वयं ब्रह्म मायया तच्चतुष्टयम्" श्रीवासुदेव का लीलाविग्रह—वैकुण्ठ नाथ श्रीनारायण हैं। श्रीवासुदेव ही सङ्कर्षण नामक निजांश के द्वारा प्रकृति को क्षुब्ध करके महत्तत्त्वादि क्रम से विश्व सृष्टि करते हैं।

"स एवेदं ससर्ज्जाग्रे भगवानात्ममायया। सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः॥"

महत्तत्त्वादि की सूक्ष्मावस्था के समष्टि स्वरूप—हिरण्यगर्भ हैं। स्थूल रूप वैराज है, रजोगुण प्रधान ब्रह्मा के उक्त दो रूप हैं। ब्रह्मा का लीलाविग्रह चतुरानन ब्रह्म हैं, शिव का लीलाविग्रह एकादश रुद्र हैं।

तत्र जीवस्य तादृशचिद्रूपत्वेऽपि परमेश्वरतो वैलक्षण्यं,तदपाश्रयामिति, यया सम्मोहित इति च दर्शयति ।।३४।।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

तत्र जीवस्येति ;—"मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इतीश्वरस्य मायानियन्तृत्वं "यया सम्मोहितो जीवः" इति जीवस्य मायानियम्यत्वञ्च। तेन स्वरूपत ईशाज्जीवस्य भेदपर्य्यायं वैलक्षण्यं दृष्टवानिति प्रस्फुटम्। 'अपश्यत्' इत्यनेन कालोऽप्यानीतः। तदेवमीश्वर-जीव-मायाकालाख्यानि चत्वारि तत्त्वानि समाधौ श्रीव्यासेन दृष्टानि। तानि नित्यान्येव।

"अथ ह वाव नित्यानि पुरुषः प्रकृतिरात्मा कालः" इत्येवं भाल्लवेयश्रुतेः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

जीवेश्वरयोर्देहसम्बन्धे वैलक्षण्यं द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये टीकायामाह ;—"अयं भावः, जीवस्याविद्यया मिथ्यादेह-सम्बन्धः ईश्वरस्य तु योगमायया चिद्घनलीलाविग्रहाविर्भाव इति महान् विशेषः" इति। मायाकृतावरणेन मिथ्यादेहसम्बन्धः कार्य्यदेहाभिमानं, योगमायया चिच्छक्त्या तिरस्कृतमायया चिद्घन-लीलाविग्रहे आविर्भावो न तु तदभिमानं,विग्रहस्य चिन्मयत्वं शुद्धसत्त्वरूपत्वेन नियतज्ञानाविर्भावकत्वमिति। यद्वा, योगमायया—योगाख्यमायया, स्वेच्छयेति यावत्। तदुक्तं—"स्वेच्छामयस्य" इति, स्वेच्छा—स्वीयेच्छा, तन्मयस्य—तदनुरूपशरीरस्य ; न त्वदृष्टाकृष्टशरीरस्येति। "आत्ममाया तदिच्छा स्यात् गुणमाया जड़ात्मिका" इति वचनाच्च। एवं "अक्षय्यं हि चातुर्म्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" इत्यादिश्रुतौ यथाऽक्षय्यपदस्य—"इह कर्म्मजितो लोकः क्षीयते, अमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" इत्यादिन्यायानु-गृहीतश्रुत्या बलवत्या बाधेन कल्पपर्य्यन्तस्थायिपरता, तथा—'यत् सावयवं तदनित्यं' 'यद्दृश्यं तदनित्यम्' इत्यादि न्यायानुगृहीतया बलवत्या—

अनुवाद—

श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय में "स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः" अवतारों का जो विवरण है, वे सव श्रीवासुदेव के लीलाविग्रह हैं। इस के मध्य में कोई अवतार वासुदेव के अंश कला है। किन्तु स्वयं नारायण ही श्रीकृष्ण रूप में अवतीर्ण हैं। "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।" इस की टीका में श्रीधरस्वामिपाद ने कहा है—"मत्स्यादि अवतार समूह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्त्व होने पर भी जहाँ जिस प्रकार ज्ञान क्रियाशक्त्यादि का आविष्कार आवश्यक है वैसा ही वे सव करते हैं। सनकादि कुमार एवं नारद प्रभृति में ज्ञान भक्त्यादि का प्रकाश से अंश कला संज्ञा हुई है। किन्तु इस के मध्य में कृष्ण साक्षात् नारायण ही हैं। कारण इन में निखिल शक्ति का प्रकाश प्राप्त हैं। प्रकृति की विलासमूर्त्ति विश्व की आवरिकाशक्ति महामाया दुर्गा है, और नारायण प्रिया लक्ष्मी शुद्धसत्त्वांशोपाधि है।"

मायाशक्ति चिच्छक्ति का अनेक भेद है। स्वरूपशक्ति पट्टमहिषी स्थानीय भगवान् की अति प्रेयसी है, मायाशक्ति भगवद्धाम के बहिर्द्वार में सेविका के समान वाह्यकर्मचारिणी सेविका है। सुतरां दासी का उचित कर्म है—स्वामिविमूढ़ जन को दुःख प्रदान करना इस से शिक्षा मिलती है, अतः माया अनादि बहिर्मुख जीवगण को संसार में निपतित करबाकर नानाविध दुःख प्रदान करती है ।।३३।।

पूर्वोक्त रीति से जोव चिद्रूप होने पर भी "तदपाश्रयाम्" "यया सम्मोहितः" वचन द्वय के द्वारा परमेश्वर से जोव का पार्थक्य प्रदर्शित हुआ। अर्थात् "मायाञ्च तदपाश्रयाम्" माया ईश्वर से अति दूर में अवस्थित है, इस प्रकार कहने का अभिप्राय है—ईश्वर मायाधीन नहीं है, सुतरां माया उन को मुग्ध नहीं कर सकती है, एवं "यया सम्मोहितः जीवः" कथन से जीव मायाधीन है, सुतरां माया उस को मुग्ध करती रहती है ।।३४।।

सारार्थः—माया ईश्वर से अति दूरमें रहती है, उन के सम्मुख में आ नहीं सकती, इस प्रकार कहने का

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

"नित्यो नित्यानाञ्चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" (कठ० ५,१३) इति काठकात्।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥" (श्वेत० ४,५) इति श्वेताश्वतराणां मन्त्राच्च।

"अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने। सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्व्वजिष्णवे॥
प्रधानं पुरुषश्चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयमास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययो॥
अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः। प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्॥
अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज! विद्यते। अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः" इति श्रीवैष्णवाच्च

तेष्वीश्वरः शक्तिमान् स्वतन्त्रः, जीवादयस्तु तच्छक्तयोऽस्वतन्त्राः।

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्याकर्म्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥" इति श्रीवैष्णवात्।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासनार्थं लोकानां ब्रह्मणो रूपकल्पना॥"
"आकाशवत् सर्व्वगतं सुसूक्ष्मं अपानिपादो जवनो ग्रहीता, अरूपमस्पर्शं निष्क्रियं निरञ्जनम्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिश्रुत्या बाधेन, "नित्यां मे मथुरां बिद्धि बिद्धि वृन्दाबनं तथा"
"साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी," "नित्यावतारो भगवान् नित्यमूर्त्तिर्जगत्पतिः।"
"सर्व्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः॥"

"अनादिरादिर्गोविन्दः सच्चिदानन्दविग्रहः,"—इत्यादिवचनानामन्यार्थपरता कल्पचत इति। अत्रोच्यते;—यथा प्रपञ्चोपादानत्वेन सिद्धा प्रकृतिरनिर्व्वचनीया सावयवा नित्या प्रत्यक्षगम्या सिद्धचति, तस्या अनित्यत्वे तदुपादानस्यावश्यकत्वे पुनरनवस्था स्यात्, निरवयवत्वेन परिणामासम्भव इति; तथा प्रकृतिप्रवर्त्तकतया सिद्धस्य चेतनस्याशरीरत्वे इष्टत्वानुपपत्तिरिति। तच्छरीरस्यानित्यत्वे तत्कारणशरीराङ्गीकारे पुनरनवस्था

अनुवाद—

तात्पर्य्य है—ईश्वर माया का नियम्य नहीं है, आप माया का नियन्ता हैं, जीव माया के द्वारा विमोहित है, माया का नियम्य है। सुतरां इस प्रकार परमेश्वर एवं जीव—उभय का भेद नियन्ता नियम्यरूप स्वरूपगत से ही होता है। वेदव्यास,—समाधि में इस प्रकार उभय के स्वरूपगत वैलक्षण्य अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्म को ही भेदरूप से देखे थे।

श्रीवेदव्यास समाधि नामक भक्तियोग से ईश्वर, जीव, माया को देखे थे। यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है, एवं "अपश्यत्" अतीत काल बोधक क्रिया से नित्य शास्त्रविदित काल को देखे थे। सुतरां ईश्वर, जीव, माया, एवं काल नित्यपदार्थ चतुष्टय ही वेदव्यास की दर्शनीय नित्य वस्तु है। उक्त वस्तु चतुष्टय के नित्यत्व के सम्बन्ध में श्रुति इस प्रकार है। "अथ ह वाव नित्यानि पुरुषः प्रकृतिरात्मा कालः।" (भाल्लवेय श्रुतिः) इस श्रुति से उक्त वस्तु चतुष्टय का नित्यत्व साधित हुआ है।

"अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने। सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे॥
प्रधान पुरुषश्चापि प्रविश्यात्मच्छेया हरिः। क्षोभयामास संप्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥
अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषि सत्तमैः। प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यसदसदात्मकम्॥
अनादिर्भगवान् कालोनान्तोऽस्य द्विज! विद्यते। अविच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्त संयमाः॥

श्रीविष्णु पुराणोक्त वचनों का तात्पर्य्य,—ईश्वर, जीव, माया, काल,—अनादि एवं नित्य है, "अविच्छिन्ना स्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्त संयमाः" इस अंश से कर्म का भी अनादित्व साधित हुआ एवं "नच कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्" ब्र० सू० २।१।३५ भाष्यकार भी कर्म का अनादित्व स्वीकार किये हैं।

यर्ह्येव यदेकं चिद्रूपं ब्रह्म मायाश्रयताबलितं विद्यामयं, तर्ह्येव तन्मायाविषयतापन्नमविद्या-

सर्वसम्वादिनी

एतद्व्याख्यान्ते (मू० २य-अनु०) 'यर्ह्येव यदेकं' इत्यादिकं श्रीपरमात्मसन्दर्भे (७१तम अनु०) विवरणीयम्।

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका।

"स यावदुर्व्वर्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि" (भा० १०, १, २२) इति श्रीभागवताच्च। तत्र विभुविज्ञानं—ईश्वरः, अनुविज्ञानं—जीवः। उभयं—नित्यज्ञानगुणकम्। सत्त्वादिगुणत्रयविशिष्टं जड़ं द्रव्यं माया। गुणत्रयशून्यं भूतवर्त्तमानादिव्यवहारकारणं जड़ं द्रव्यं तु कालः। कर्म्माप्यनादि विनाशि चास्ति; "न कर्म्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्" (ब्र० २, १, ३५) इति सूत्रादिति वस्तुस्थितिः श्रुतिस्मृतिसिद्धा वेदितव्या॥३४॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

स्यादिति नित्यशरीरसिद्धिः, तथा "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इति न्यायेन तद्धामादिकमप्राकृतं सिध्यतीति वैकुण्ठधाम्नस्तथात्वमाह द्वितीयस्कन्धे,—

तस्मै स्वलोकं भगवान् सभाजितः सन्दर्शयामास पदं न यत् परम्॥
व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टुतम्॥
प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः॥
न यत्र माया किमुतापरे हरे रनुव्रता यत्र सुरासुरार्च्चिताः" इति॥

तस्मै—ब्रह्मणे। एवं वृन्दाबनादिकमपि नित्यधाम,—कृष्णसन्दर्भादौ वक्तव्यं। परमानन्दस्य भगवतो यथा प्रयोजनमनपेक्ष्य सृष्टि-लीलादौ प्रवृत्तिस्तथा निजपरिकरैः सह क्रीड़ादौ प्रवृत्तिः, तथोक्तं माध्वभाष्ये;— "देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा" इत्यादीति दिक्। वैलक्षण्यं विरुद्धधर्म्माध्यासेन भेदः;— इदं दर्शनक्रिया-कर्म्म, "मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इत्यादि द्वयं—कर्त्तृ॥३४॥

अनुवाद—

अनादि पञ्चतत्त्व का संक्षिप्त परिचय—ईश्वर चेतन ज्ञानरूप, अथच ज्ञाता, विभु, तथापि योगमाया विलसित चिद्घन लीलाविग्रहवान् होकर भी देहाभिमानशून्य है, कारण—भगवत् शरीर चिन्मय, एवं शुद्धसत्त्वरूप होने से नियत ज्ञान प्रकाशकत्व उस में है, देह देहि भेद न होने से अभिमान की भी सम्भावना भी नहीं है। "देह देहि विभागोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्" जीव में देह देहि विभाग है, ईश्वर में उस का असद् भाव है। इस प्रकार ईश्वर स्वतन्त्र स्वरूप शक्तिमान्, प्रकृति नियन्ता, जीव के भोग के निमित्त जगत् की सृष्टि करके उस की मुक्ति का उपाय निर्देश करते हैं। "एकोऽपि सन् बहुधा विभाति"। आप एक होकर भी स्वरूपशक्ति के वैचित्र्य के कारण चिज्जगत् में एवं मायिक जगत् में अनेक रूप से प्रतिभात होते हैं। तथापि आप अव्यक्त हैं, अथच "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्" भक्त के प्रेम से वशीभूत होते हैं—षड़ैश्वर्य्यपूर्ण श्रीभगवान्।

जीव—नित्य ज्ञानगुण ईश्वर की तटस्था शक्ति है, अतः अल्पज्ञ है। अविद्याविलसित देह सम्बन्ध है, सुतरां मायाकृत स्वरूपास्फूर्त्ति तथा अस्वरूप का आवेश से देहाभिमानी है, तज्जन्य विविध अवस्थापन्न है, भगवद्विमुखता ही उस की इस दुरवस्था का कारण है, श्रीभगवदुपदिष्ट भक्ति ही उक्त दुर्दशा मोचन का अनन्य उपाय है।

माया—सत्त्वादि गुणत्रय विशिष्ट जड़द्रव्य, नित्य, अनादि, विविध जगत् सृष्टिकारिणी, जीवसम्मोहिनी प्रकृति है।

काल—अतीत, भविष्यत्, वर्त्तमान, युगपत्, क्षिप्र, मान्द्य प्रभृति व्यवहारात्मक शब्द का कारण है।

कर्म—अदृष्टादि शब्द से जो व्यवहृत होता है, अनादि—अथच विनाशशील जड़रूप है॥३४॥

परिभूतश्चेत्ययुक्तमिति जीवेश्वर-विभागोऽवगतः। ततश्च स्वरूपसामर्थ्यवैलक्षण्येन तद्द्वितयं मिथो विलक्षणस्वरूपमेवेत्यागतम् ॥३५॥

सर्वसम्वादिनी

अत्र श्रीशुक-हृदय-विरोधश्चैवम्—यदि भगवतोऽप्यविद्यामयमेव वैभवं स्यात्तदा श्रीशुकस्य तल्लीलाकृष्टत्वं न स्यादिति मूले चैवमग्रतो श्रीभगवत्सन्दर्भे (८३तम अनु०) सुष्ठु विचारयिष्यति ॥३५॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

यत्तु—"एकमेवाद्वितीयं" (छान्दोग्य० ६, २, १) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (वृ० आ० ३, ९, २८) "नेह नानास्ति किञ्चन" (वृ० आ० ४, ४, १९) इत्यादि श्रुतिभ्यो निर्व्विशेषचिन्मात्राद्वैतं ब्रह्म वास्तवं' अथ सदसद्विलक्षणत्वादनिर्व्वचनीयेन विद्याविद्यावृत्तिकेनाज्ञानेन सम्बन्धात्तस्माद्विद्योपहितमीश्वरचैतन्यमविद्योपहितं जीवचैतन्यञ्चाभूत्, स्वरूपज्ञानेन निवृत्ते त्वज्ञाने न तत्रेश्वरजीवभावः, किन्तु निर्विशेषाद्वितीयचिन्मात्ररूपावस्थितिर्भवेदित्याह मायी शङ्करः; तत्राह—यद्वा व यदेकमिति, विस्फुटार्थम्। इत्युक्तमिति।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तत्र "मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इत्यनेन परमेश्वरस्य मायाकृतमोहराहित्यं, "यया सम्मोहितो जीवः" इत्यनेन जीवस्य मायामोहितत्वमित्युक्तमिति। मोहितत्वतदभावरूपविरुद्धधर्म्मयोरेकस्मिन्नसम्भवादीश्वर-जीवयोर्भेदः सिद्ध इति दर्शयति—यदेकं चिद्रूपं ब्रह्मेति। मायाश्रयतेति—मायाश्रयो हि मायामपेक्ष्य व्यापकतया मायाकृतमावरणरूपं तद्विषयत्वं नार्हति, अतो विद्यामयं—अप्रतिरुद्धज्ञानं, तेन देहाभिमानरूपाऽविद्याकृतविषयभोगादि पराभवञ्च नाप्नोतीति भावः। जीवेश्वर-विभागः—जीवेश्वरयोर्मिथो भेदः।

अनुवाद—

जिस समय एकमात्र चित्स्वरूप ब्रह्म, मायाश्रय अथवा माया नियन्ता 'ईश्वर' है, ठीक उस समय में ही वह ब्रह्म पुनर्वार माया का विषय एवं अविद्या पराभूत जीव होता है, सुतरां उस प्रकार जीव एवं ईश्वर के विभाग नितान्त ही युक्ति विरुद्ध प्रतीत होता है। उक्त रूप जीव एवं ईश्वर का विभाग विषय में एक ही वस्तु का मायाश्रयत्व, माया मोहितत्त्व होने से परस्पर विरोध उपस्थित होता है। स्वरूपगत सामर्थ्य के द्वारा ही ईश्वर एवं जीव में विलक्षणता होती है। अर्थात् उभय ही चेतन है, किन्तु ईश्वर की माया नियमन सामर्थ्य, एवं जीव की मायाकृत स्वरूपावरण विदूरित करने की अक्षमता है, इस प्रकार उभय में शक्ति की विभिन्नता के कारण उभय विलक्षण स्वभाव के होते हैं। यह स्वाभाविकरूप से अनुमेय है ॥३५॥

सारार्थः—**"यद्वा व यदेकं" इत्यादि वाक्य का अभिप्राय यह है—"मायाञ्च तदपाश्रयां" इस वाक्य में "माया ईश्वर को मोहित नहीं कर सकती है, कहा गया है, "यया सम्मोहित जीवः" इस वाक्य में जीव का मायामोहितत्व दिखाया गया है। मोहित होना एवं उस का अभाव—मोहित न होना, उभय विरुद्ध धर्म एक वस्तु में रह नहीं सकता है। सुतरां ईश्वर एवं जीव में पारस्परिक भेद सुसिद्ध है। इस सिद्धान्त का प्रदर्शन उक्त वाक्य से हुआ है। ग्रन्थकार ने तत्सम्बन्ध में अद्वैतबाद का निरास उस से किया है। सुतरां अति संक्षेप में मायाबादी श्रीशङ्कर मत को पूर्वपक्ष रूप में दिखाया है। मायी श्रीशङ्कराचार्य का मत,—निर्विशेष चिन्मात्र अद्वैत ब्रह्म ही वास्तव तत्त्व है, सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, इस प्रकार लक्षणाक्रान्त,—अतएव अनिर्वचनीय विद्या एवं अविद्या वृत्ति को अज्ञान कहा जाता है, विद्या से उपहित चैतन्य—ईश्वर है, अविद्या से उपहित चैतन्य—जीव है। स्वरूप ज्ञान के द्वारा अज्ञान विदूरित होने से ईश्वर जीव संज्ञा नहीं रहती है, तव निर्विशेष अद्वितीय चिन्मात्र रूप में अवस्थिति होती है।**

उल्लिखित मायाबाद एक काल में अकस्मात् ब्रह्म का योग अज्ञान के सहित हो जाता है, एक भाग स्वाभाविक रूप से विद्याश्रित होकर ईश्वर नाम से अभिहित होता है। अपर भाग, अविद्या द्वारा पराभूत होकर जीव हो जाता है। हाय! ब्रह्म का ऐसा अपराध क्या है, जिस से वह बेचारा ब्रह्म उक्त विविध

न चोपाधि-तारतम्यमयपरिच्छेद-प्रतिविम्वत्वादिव्यवस्थया तयोर्विभागः स्यात् ॥३६॥

श्रीमद्‌बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

युगपदेवाकस्मादेवाज्ञानयोगादेकस्य भागस्य विद्याश्रयत्वमन्यस्याविद्यापराभूतिरिति किमपराद्धं तेन ब्रह्मणा, येन विविधविक्षेपक्लेशानुभवभाजनताभूत् ? पुनरप्याकस्मिकाज्ञानसम्बन्धस्याशक्यत्वाद्वक्तु्मिति न तदुक्तरीत्या तद्विभागो वाच्यः, किन्तु श्रीव्यासदृष्टरीत्यैव सोऽस्माभिरवगत इत्यर्थः ॥३५॥

यत्तु "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (वृ० आ० २,५,१६) इत्यादिश्रुतेस्तस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणो मायया परिच्छेदादीश्वरजीवविभागः स्यात्। तत्र विद्यया परिच्छिन्नो महान् खण्ड 'ईश्वरः,' अविद्यया परिच्छिन्नः कनीयान् खण्डस्तु 'जीवः'। यथा घटेनावच्छिन्नः शरावेणावच्छिन्नश्चाकाशखण्डो महदल्पताव्यपदेशं

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ततश्चेति—मायाश्रयत्वादिमायामोहितात्वयोर्मिथो विरोधाज्जीवेश्वरविभागाच्चे त्यर्थः। स्वरूपसामर्थ्य-वैलक्षण्येन,—स्वरूपयोः—स्वाभाविकयोः मायानियन्तृत्वप्रयोजकसामर्थ्यमायाकृतावरणनिवर्त्तनाक्षम-सामर्थ्ययोर्वैलक्षण्येन,मिथो विलक्षणस्वरूपमेव तत् द्वितयं—ईश्वरजीवोभयमित्यागतमित्यर्थः। भगवद्भजन-कृतशक्त्या जीवानामपि मायानिरासात्—'स्वरूप' इत्युक्तम्॥३५॥

अद्वैतवादिमतं निरस्यति,—नचेति। उपाधिः—लिङ्गशरीरं,—तस्य तारतम्यं—धर्म्माधर्म्मविशेष-कृतसुखदुःखादिवैचित्र्यं,—तन्मयं,—तदध्यासेन विलक्षणत्वप्रयोजकं,—यत् परिच्छेद-प्रतिविम्वत्वादि,—तद्व्यवस्थया—ब्रह्मणि तत्-कल्पनया। तयोः—जीवेश्वरयोः, विभागः स्यात्—भेदव्यवहारः स्यादित्यर्थः।

अनुवाद—

विक्षेप ग्रस्त होकर क्लेशभागी बना ? विभु ब्रह्म का आकस्मिक अज्ञान रूप माया के सहित सम्बन्ध होना कभी भी कहा नहीं जा सकता है, सुतरां मायाबादिगण की उक्त रीति के अनुसार जीव ईश्वर का विभाग अस्वीकार्य्य है, किन्तु श्रीव्यासदेव के समाधि से दृष्ट रीति के अनुसार उस भेद का निर्णय हम करेंगे ॥३५॥

परिच्छेद एवं प्रतिविम्बबाद—अद्वैतबादी श्रीमत् आचार्य्य शङ्कर कहते हैं—"इन्द्र, 'ब्रह्म' माया द्वारा अनेक रूप से प्रकाशित होते हैं।" इस श्रुति वाक्य के अनुसार एक अद्वितीय ब्रह्म माया द्वारा परिच्छिन्न होकर "ईश्वर" "जीव" द्विधा विभक्त हो जाते हैं, उस में विद्यावृत्ति माया द्वारा परिच्छिन्न महान् वृहत् खण्ड ईश्वर हैं, अविद्यावृत्ति द्वारा परिच्छिन्न अल्पखण्ड "जीव" है, जिस प्रकार एक महाकाश घट के द्वारा परिच्छिन्न होकर घटाकाश होता है, पुनर्वार वह आकाश सराव के द्वारा परिच्छिन्न होकर "सरावाकाश" होता है, इस रीति से बृहत्व क्षुद्रत्व व्यवहार होता है। यह ही परिच्छिन्न अथवा परिच्छेद बाद है। द्वितीय दृष्टान्त सूर्य्य है—ज्योतिः स्वरूप सूर्य्य का प्रतिविम्ब सरोवर, घटस्थ जल में होता है। उपाधि—आधार की विभिन्नता से सूर्य्य का भेद होता है, उस प्रकार अज—जन्मादि विकारशून्य आत्मा भी विविध मायावृत्ति ग्रस्त होकर भिन्न भिन्न होती है। श्रुति भी ब्रह्म का प्रतिविम्वत्व को कहती है। सरोवरस्थ एवं घटस्थ जल में प्रतिविम्वित सूर्य्य के समान ब्रह्म विद्या में प्रतिविम्वित होकर ईश्वर होता है, अविद्या में प्रतिविम्वित होकर अल्पाकार में जीव होता है, इस का नाम प्रतिविम्वबाद है।

उल्लिखित परिच्छेदबाद एवं प्रतिविम्वबाद को अस्वीकार करने के निमित्त करते हैं—जीव एवं ईश्वर उभय ही सामर्थ्यवान् हैं, सामर्थ्य में उभय का वैलक्षण्य भी है, अतएव जड़ पदार्थ के समान दोनों का विभाग नहीं हो सकता है, एक विभु व्यापक वस्तु में दूसरे का होना भी असम्भव है, इस प्रकार उपाधि—लिङ्ग शरीर है, इस का तारतम्य—धर्मविशेष के द्वारा कृत सुखादि तथा अधर्मविशेष के द्वारा दुःखादि के द्वारा होता है, यह सुख-दुःखादि वैचित्र्यमय—अर्थात् सुख-दुःखादि का अध्यास द्वारा एक वैलक्षण्य का सम्पादक—परिच्छेद प्रतिविम्व रूप व्यवस्था की कल्पना ब्रह्म में करके जीव—ईश्वर का विभाग भी नहीं हो सकता है ॥३६॥

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

भजति "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भित्त्वा बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
"उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ।।"—

इत्यादिषु ब्रह्मणस्तस्य प्रतिविम्वश्रवणात्तद्विभागः स्यात् । विद्यायां प्रतिविम्व ईश्वरः, अविद्यायां प्रतिविम्वस्तु जीवः । यथा सरसि रवेः प्रतिविम्वः, यथा च घटे प्रतिविम्वो महदल्पत्वव्यपदेशं भजते, तद्वत् इत्याह शङ्करः । तदिदं निरसनाय दर्शयति—न चेति, अनया रीत्या तयोर्विभागो न च स्यादित्यन्वयः।।३६

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

आदिना—अपरिच्छिन्नत्व-विम्वत्वयोर्ग्रहः । अत्रैव 'न च' इत्यस्यान्वयः । एतन्मतपोषकं द्वादशस्कन्धवचनं यथा;—"न हि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते । नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्ज्योतिषोर्वातयोरिव ।।" (भा० १२, ४, २९) इति । अत्र स्वामि-टीका,—"ननु सत्यस्याप्यात्मनो जीवब्रह्मरूपनानात्वमस्त्येव ? तत्राह; यद्येवं नानात्वं मन्यते तर्ह्यविद्वान् । कथं तर्हि तयोर्भेदव्यवहारः ? उपाधिकृतः, इत्याह—नानात्वमिति, तत्र छिद्रयोः घटाकाश-महाकाशयोरिवेति परिच्छेदापरिच्छेदे दृष्टान्तः । ज्योतिषोः जलस्थाकाशस्थसूर्य्ययोरिवेत्युपाधिकृतविकारसद्भावे, वातयोः वाह्यशरीरस्थयोः वाय्वोरिवेति क्रियाभेदे दृष्टान्तः ।" श्रुतिश्च—"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भित्त्वा बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" इति । अयमर्थः,—ज्योतिर्म्मयो विवस्वान्—सूर्य्यः एकः—गगने स्थितः सन्नपि अपो भित्त्वा अनुगच्छन्, बहुधा—नानारूपः प्रतीयते । कथं ? उपाधिना—तत्तज्जल-वृत्तित्वादिना, भेदरूपः—भिन्न इव क्रियते । एवं—एवंरूपेण, क्षेत्रेषु—स्थूल-सूक्ष्मदेहेषु अजोऽयमात्मेति । एतेनात्मन ऐक्यं श्रुतिसिद्धं, नानात्वमौपाधिकमिति च । तत्र च मत-द्वयं—यथा घटाद्युपाधिना महाकाश-विभागेनेव घटाकाशः क्रियते; एवं देहेनात्मनो विभागेनेव जीवः पृथगिव क्रियते—इत्येकं मतम् । मतान्तरञ्च

अनुवाद—

सारार्थः—परिच्छेद प्रतिविम्वबाद की पोषकता के निमित्त श्रीमद् भागवतीय द्वादश स्कन्धीय वचन का ग्रहण कुछ व्यक्ति करते हैं,—१२।४।३०, "नहि सत्यस्य नानात्वमविद्वान् यदि मन्यते ।
नानात्वं छिद्रयोर्यद्वज्जोतिषोर्वातयोरिव ।।

इस में श्रीधरस्वामिपाद की टीका,—"ननु सत्यस्याप्यत्मनो जीवब्रह्मरूपनानात्वमस्त्वेव ? तत्राह—यद्येवं नानात्वं मन्यते तर्ह्यविद्वान् । कथं तर्हितयोर्भेदव्यवहारः ? उपाधिकृतः, इत्याह नानात्वमिति । तत्र छिद्रयोः घटाकाशमहाकाशयोरिति परिच्छेदापरिच्छेदे दृष्टान्तः । ज्योतिषोः जलस्थाकाशस्थसूर्य्ययो-रिवेत्युपाधिकृतविकारसद्भावे, वातयोर्वाह्यशरीरस्थयोः वाय्वोरिवेति क्रियाभेदे दृष्टान्तः ।"

यदि कहो कि--आत्मा का जीव ब्रह्मरूप नानात्व है ही ? तज्जन्य कहता हूँ । यदि कोई उस प्रकार नानात्व मानता है, तो वह अनभिज्ञ है । तब भेद व्यवहार क्यों होता है ? उत्तर—भेद व्यवहार सत्य नहीं है । उपाधिकृत है, सदृष्टान्त उसे कहते हैं—जिस प्रकार घटाकाश, महाकाश, परिच्छेद, अपरिच्छेद में दृष्टान्त है । अर्थात् महाकाश के समान ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, घटाकाश के समान जीव परिच्छिन्न है । जिस प्रकार जलस्थ एवं आकाशस्थ ज्योतिः—सूर्य्यादि है । यह उपाधिकृत विकारांश में दृष्टान्त है । जलस्थ प्रतिविम्व जल कम्पन से विकार प्राप्त होता है, सुतरां सविकार है, आकाशस्थ सूर्य्य में उक्त धर्म न होने से वह निर्विकार है । द्वितीय दृष्टान्त—शरीरस्थ वायु एवं वाह्य वायु—यह दृष्टान्त क्रिया भेद से है । शरीरस्थ वायु की क्रूरता सरलता प्रभृति क्रिया होती है, किन्तु वाह्य वायु में उक्त क्रिया नहीं है । श्रुतिभी इसप्रकार है—"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भित्त्वा बहुधैवानुगच्छेत् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" ।

इस प्रकार अन्तःकरणात्मक उपाधि में ब्रह्म का प्रतिविम्व स्वरूप एक सम्बन्ध होने से जीवत्व होता है ।

तत्र यद्यु पाधेरनाविद्यकत्वेन वास्तवत्वं, तर्ह्य विषयस्य तस्य परिच्छेदविषयत्वासम्भवः । निर्धर्म्मकस्य व्यापकस्य निरवयवस्य च प्रतिविम्वत्वायोगोऽपि; उपाधिसम्बन्धाभावात्, विम्व-प्रतिविम्वभेदाभावात्, दृश्यत्वाभावाच्च । उपाधिपरिच्छिन्नाकाशस्थज्योतिरंशस्यैव प्रतिविम्वो

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

कुतो न वाच्य इति चेदनुपपत्तेरेवेत्याह,—यत्र यद्युपाधेरिति, परिच्छेदपक्षं निराकरोति—अनाविद्यकत्वेन, रज्जुभुजङ्गवदज्ञानरचितत्वाभावेन वस्तुभूतत्वे सतीत्यर्थः । अविषयस्येति—"अगृह्यो न हि गृह्यते" इति

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

सूर्य्यस्य जलवृत्तित्वरूपविलक्षणसम्बन्धेन प्रतिविम्वत्वं, गगनवृत्तित्वेन विम्वत्वम् । न च तत्र विम्व-प्रतिविम्वयोर्भेदः पारमार्थिकः; गगनस्थसूर्य्यस्यैव जलवृत्तित्व-स्वीकारात् जले सूर्य्यान्तरकल्पने गौरवान्माना-भावाच्च । न च—जले चक्षुःसंयोगे कथं प्रतिविम्व-प्रत्यक्षं, सूर्य्य चक्षु-संयोगाभावात् ? इति वाच्यं, जलस्य स्वच्छतया तत्र चक्षुषः संयोगे चक्षुरुच्छलितं गगनस्थसूर्य्ये लगति, तेन दोषवशान्मिथ्याजलवृत्ति-त्वमवगाह्य सूर्य्यप्रत्यक्षं जायत इति सिद्धान्तादिति । एवमन्तःकरणरूपोपाधौ ब्रह्मणः प्रतिविम्वलक्षण एकः सम्बन्धः—तेन जीवत्वं, विम्वत्वलक्षणसम्बन्धश्चापरः— तेन परमात्मत्वमिति विलक्षणसम्बन्धद्वयं श्रुतिबलात् कल्पचते । न च—तन्मते ईश्वरपरिगृहीतशरीरेऽपि एतादृशसम्बन्धद्वयस्यावश्यकतया ब्रह्मविष्णु-शिवादीनामपि जीवत्वं स्यात्—इति वाच्यं, प्रतिविम्वत्वलक्षणदेहसम्बन्धं प्रति धर्म्माधर्म्मसम्वलितलिङ्ग-शरीरस्य हेतुतया तदभावादेव शरीरिणोऽपीश्वरस्य जीवत्वाभावात् । ब्रह्मादीनाञ्च स्थूलं सूक्ष्मञ्च शरीरं विलक्षणं, न तु स्वादृष्टपरिगृहीतं किन्तु लोकादृष्टसहकारेण स्वेच्छया तत्तद्गुणमयमाविस्कृतं, तत्र च केवलं विम्ववत् सम्बन्ध इति ते न संसारिण इति संक्षेपः ।।३६।।

एतन्मतद्वयोपरि क्रमेण दोषमाह;—तत्रेति—परिच्छेदपक्षे इत्यर्थः । तर्हि—तदा, अविषयस्य—निर्गुणत्वेन प्रमाणागोचरस्य परिच्छेदविषयत्वासम्भवात् आकाशस्य सादिद्रव्यत्वेन परिणामित्वेन—च उपाधिपरिच्छेदसम्भवः । तथा ब्रह्मणोऽंशभेदरूपवास्तवपरिच्छेदपरिणामित्वापत्तिः, परिच्छिन्नांशस्य मध्यमपरिमाणत्वेनानित्यत्वापत्तिरद्वैतविरोधश्चेति । व्यापकस्येति—जलदर्पणादौ जलदर्पणादिगतवस्तूनां

अनुवाद—

एवं विम्वत्वरूप अपर एक सम्बन्ध होने से उसका परमात्मत्व होता है, श्रुति से ही विलक्षण सम्बन्ध द्वय की कल्पना होती है ।

उल्लिखित मत में ईश्वर के द्वारा परिगृहीत शरीर में भी उक्त सम्बन्ध द्वय की आवश्यकता होती है । उनका कहना है,—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जीव नहीं है । कारण धर्माधर्म सम्बलित लिङ्ग शरीर ही प्रतिविम्वरूप देह सम्बन्ध के प्रति हेतु है, अर्थात् धर्माधर्माचरण से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है, उस से प्रतिविम्व जीव देह होता है । किन्तु ईश्वरीय शरीर के निमित्त उस प्रकार अदृष्ट कारण नहीं है, सुतरां उनके स्थूल सूक्ष्म देह से विलक्षण देह है । किन्तु लोकों के अदृष्ट के साथ निजेच्छासे वे सव उस प्रकार देहाविष्कार करते हैं। उसमें केवल विम्ववत् सम्बन्ध होता है, सुतरां जीवके समान वे संसारी नहीं है।।३६।।

पूर्वोक्त मतद्वय में दोष प्रदर्शन करते हैं :—परिच्छेद पक्षमें उपाधि का अविद्याकल्पितत्व स्वीकार न करके यदि वास्तव कहा जाय तो, अर्थात् रज्जु में सर्प बोध के समान अज्ञान कल्पित न मानकर वस्तुभूतत्व यदि कहा जाय, तो, निर्गुण हेतु प्रमाणागोचर उस ब्रह्म का परिच्छेद विषयत्व की सम्भावना ही नहीं है । एवं ब्रह्म निर्धर्म्मक व्यापक एवं निरवयव है, सुतरां उस का प्रतिविम्व भी नहीं होता है । कारण जिस का कोई धर्म नहीं है, उस की उपाधि की सम्भावना भी नहीं है । जो सर्वव्यापक है, उसका विम्व-प्रतिविम्वरूप भेद कैसे होगा ? जिस का अवयव नहीं है, वह दृष्ट नहीं है, तव प्रतिविम्व कैसे होगा ?

दृश्यते, न त्वाकाशस्य, दृश्यत्वाभावादेव ॥३७॥

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

(वृ० आ० ३, ६, २६) श्रुतेः, सर्व्वास्पृश्यस्य तस्य—ब्रह्मण इत्यर्थः। इदमत्र बोध्यम् ;—न च टङ्कच्छिन्न-पाषाणखण्डवद्वास्तवोपाधिच्छिन्नो ब्रह्मखण्डविशेष ईश्वरो जीवश्च, ब्रह्मणोऽच्छेद्यत्वादखण्डत्वाभ्युपगमाच्च, आदिमत्वापत्त्वेश्चेश्वरजीवयोः, यतः—'एकस्य द्विधा त्रिधा विधानं छेदः' नाप्यच्छिन्न एवोपाधिसंयुक्तो ब्रह्मप्रदेशविशेष एव स सः, उपाधौ चलत्युपाधिसंयुक्तब्रह्मप्रदेशचलनायोगात् प्रतिक्षणमुपाधिसंयुक्तब्रह्म-प्रदेशभेदादनुक्षणमुपहितत्वानुपहित्वापत्तेः । न च कृत्स्नं ब्रह्मै वोपहितं स सः, अनुपहितब्रह्मव्यपदेशासिद्धेः। नापि ब्रह्माधिष्ठानम्, उपाधिरेव स सः, मुक्तावीशजीवाभावापत्तेरिति तुच्छः परिच्छेदवादः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

प्रतिविम्वत्वादर्शनात् सर्व्वव्यपकत्वेन तत्तदुपाधौ विम्ववत्स्थितस्य ब्रह्मणस्तत्र प्रतिविम्ववत् तत्प्रतिविम्वि-तत्वं आरोपिततद्वृत्तित्वं, वास्तव-तद्वृत्तिपदार्थस्यारोपित-तद्वृत्तित्वं वक्तु मशक्यमेवेति। न च-निरुक्तश्रुति-बलात् सम्बन्धद्वयकल्पनेन—एकसम्बन्धेन वास्तवोपाधिवृत्तित्वं, अन्यसम्बन्धेनावास्तवोपाधिवृत्तित्वं ब्रह्मणः कल्पचते इत्यत आह—निरवयवस्येति। न च—स्फटिकादौ जवालौहित्यस्य निरवयवस्य प्रतिविम्वत्व-दर्शनान्निरवयवस्य ब्रह्मणोऽपि प्रतिविम्वत्व-सम्भवः—इति वाच्यं, स्फटिकादौ सन्निहितजवादेरेव प्रतिविम्वितत्व-स्वीकारात्। एतदस्वरसेनैव वा—उपाधिसम्बन्धाभावदिति। ब्रह्मण इत्यादि ब्रह्मणोऽसङ्गत्व-श्रुतिबलादिति। ननु ब्रह्मणोऽसङ्गत्वं वास्तवसम्बन्धशून्यत्वं अवान्तरसम्बन्धश्च स्वीक्रियते, तत्र मूलाविद्याकृतविलक्षणः अवास्तवसम्बन्धमादाय विम्वत्वं, अदृष्टविशेषाधीनावास्तवसम्बन्धविशेषं

अनुवाद—

उपाधि परिच्छिन्न आकाश में जो ज्योतिष्क—चन्द्र सूर्य्यादि है, उसका प्रतिविम्ब होता है। आकाश का प्रतिविम्ब नहीं होता है, आकाश निराकार है ॥३७॥

सारार्थः—प्रतिविम्ब परिच्छेद बाद को अस्वीकार करने का हेतु है, अनुपपत्ति, उस का कथन "तत्र यद्युपाधेः" के द्वारा कहा गया है। उपाधि की वास्तवता को मानलेने से जो दोष होता है, उस का प्रदर्शन क्रमशः—"र्तहि अविषयस्य" वाक्य से करते हैं। श्रुति कहती है—"अगृह्यो न हि गृह्यते" अर्थात् अग्राह्य वस्तु का ग्रहण कभी भी नहीं होसकता है, जिसप्रकार छिन्न प्रस्तर खण्ड उपलब्ध होता है, उस प्रकार ब्रह्म का एक खण्ड ईश्वर एवं जीव है, कहना सम्पूर्ण असङ्गत है, ब्रह्म अच्छेद्य है, अनादि है, दो तीन टूकड़े होने से ब्रह्म आदिमत् ही होगा। यदि अच्छिन्न एक एक अंश जीव एवं ईश्वर है—ऐसा कहा जाय तो, पूर्ववत् असङ्गति होगी, कारण,—उपाधि विषय में "चलति" उपाधियुक्त ब्रह्म प्रदेश का चलन की अनुपयोगिता है। प्रतिक्षण में ब्रह्म—उपहित होगा, अनुपहित होगा। इस से असमाञ्जस्य हो पड़ता है। ब्रह्म का सर्वांश उपहित होकर जीव-ईश्वर होते हैं, इस प्रकार कहना भी असङ्गत होगा, तव तो अनुपहित ब्रह्म पृथक् कहीं पर अवशेष नहीं रहेगा। यदि कहो कि—अधिष्ठान ब्रह्म नहीं, उपाधि ही उक्त जीव ईश्वर भाव से वर्त्तमान है, इस से भी दोष होगा। कारण,—शुद्ध ब्रह्म का अधिष्ठान स्वीकार न करने से मुक्ति अवस्था में भी जीव एवं ईश्वर भाव रह ही जाता है, मायाबादिगण का दृष्टान्त महाकाश है, वह सम्भव कैसे होगा? ब्रह्म—अविषय है, सुतरां निर्गुण है उस की परिच्छेद विषयता की सम्भावना कहाँ है? यदि अंश भेद से कहा जाय तो ब्रह्म परिणामी होगा, उस में जीव ईश्वर को लेकर मध्यम परिमाणता की आपत्ति होगी इस से अनित्यता अवश्यम्भावी है, सुतरां माया कल्पित अद्वैतबाद के सहित विरोध उपस्थित हुआ। इस प्रकार किसी प्रकार से भी परिच्छेद बाद स्वीकार के द्वारा जीवेश्वर विभाग न होने से अद्वैतबाद अति तुच्छ है।

इस के बाद—ग्रन्थकार "निर्धर्म्मकस्य" इत्यादि वाक्य के द्वारा प्रतिविम्वबाद का भी खण्डन किये

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अथ प्रतिविम्वपक्षं निराकरोति—निर्धर्म्मकस्येत्यादिना, निर्धर्म्मकस्योपाधिसम्बन्धाभावात्, व्यापकस्य विम्व-प्रतिविम्वभेदाभावान्निरवयवस्य दृश्यत्वाभावाच्च, ब्रह्मणः प्रतिविम्व ईश्वरो जीवश्च नेत्यर्थः। रूपादिधर्म्मविशिष्टस्य परिच्छिन्नस्य सावयवस्य च सूर्य्यादेस्तद्विदूरे जलाद्युपाधौ प्रतिविम्वो दृष्टः, तद्विलक्षणस्य ब्रह्मणः स न शक्यो वक्तुमित्यर्थः। नन्वाकाशस्य तादृशस्यापि प्रतिविम्वदर्शनाद्ब्रह्मणः स भविष्यतीति चेत्तत्राह—उपाधीति, ग्रहनक्षत्रप्रभामण्डलस्येत्यर्थः। अन्यथा वायु-काल-दिशामपि स दर्शनीयः। यत्तु ध्वनेः प्रतिध्वनिरिव ब्रह्मणः प्रतिविम्वः स्यादित्याह—तन्न चारु, अर्थान्तरत्वादिति प्रतिविम्ववादोऽप्यतितुच्छः ॥३७॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

प्रतिविम्वत्वनियामकः इत्यत आह—दृश्यत्वाभावाच्चेति। जले चक्षुःसंयोगे चक्षुरुच्छलितमाकाशस्थ-ज्योतिषि लग्नं जलवृत्तित्वेनाकाशस्थज्योतिरंशं दर्शयति, वस्तुनोऽदृश्यत्वे चक्षुषोऽसद्वृत्तित्वेन तद्वस्तु-बोधनासम्भवात् लिङ्गदेहस्याप्यदृश्यतया तद्वृत्तितया ब्रह्मणश्चक्षुषा बोधनायोगात् न हि चक्षुरन्तरेण प्रतिविम्वे मानान्तरमस्ति। अदृश्यस्य प्रतिविम्वत्वायोगे दृष्टान्तं दर्शयति—उपाधिपरिच्छिन्नेति। ननु निरुक्तश्रुतिरेव ब्रह्मप्रतिविम्वे मानं मायानियन्तृत्व-मायानियम्यत्वादिविरुद्धधर्म्मनिबन्धनेश्वर-जीवभेदक-साधकन्यायानुगृहीतया बलवत्या—

अनुवाद—

हैं। ब्रह्म—निर्धर्म्मक हैं, उपाधि धर्मशून्य को ही निर्धर्म्मक कहते हैं। ज्योति का एक प्रधान धर्म है रूप, शब्द, स्पर्श भी उस में अप्रधान रूपसे निश्चय ही है, उसका जलोपाधि वशतः प्रतिविम्व स्वकार्य्य है, किन्तु उस प्रकार ब्रह्म में उस की कोई सम्भावना नहीं है।

"व्यापकस्य"—ब्रह्म सर्वव्यापक है, अतः जल-दर्पणादि आधार में भी उनकी सत्ता का अभाव नहीं है, सर्वव्यापकता धर्मसे उस समस्त वस्तु में भी ब्रह्म विम्व के समान ही वर्त्तमान हैं। तब जिज्ञास्य है? प्रतिविम्व के आधार जल दर्पणादि में तद्गत वस्तु का प्रतिविम्व क्या होगा? ब्रह्म जलदर्पणादि में विम्व रूपमें प्रतिनियत ही वर्त्तमान है, उस में पुनर्वार ब्रह्म को प्रतिविम्ववत् विम्व का प्रतिविम्वितत्व को मानने से "आरोपिततद्वृत्तित्व" स्वीकार हुआ है। अर्थात् प्रतिविम्व के आधार में विम्व रहने से उसका प्रतिविम्व होना असम्भव है। यहाँ ब्रह्म व्यापकता धर्म द्वारा जलदर्पणादि में है, सुतरां उनकी उसमें जिस किसी प्रकार प्रतिविम्व रूपसे विद्यमानता—आरोप सिद्ध है। अतएव जो वस्तु वास्तव है, उसकी जिस किसी वस्तुमें वृत्ति क्यों न हो, वह भी वास्तव है, सुतरां उस की विद्यमानता को आरोपसिद्ध कहा नहीं जा सकता है।

"निरवयवस्य"—"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा" इत्यादि श्रुतिके द्वारा एक वस्तुमें सम्बन्ध द्वय की कल्पना की गई है। एक ईश्वर के सम्बन्ध में ब्रह्म की वास्तव उपाधि को मानकर उसका प्रतिविम्वाकार में वृत्तित्व, अपर, जीव के सम्बन्ध में ब्रह्म की अवास्तव उपाधि की कल्पना करके प्रतिविम्वाकार में वृत्तित्व का प्रतिपादन किया है, यह भी कथन योग्य नहीं है। कारण ब्रह्म निराकार है, निराकार वस्तु का वास्तव-अवास्तव किसी प्रकार सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है। यदि कहो—स्फटिकादि स्वच्छ पदार्थ में जवा पुष्प का निराकार लौहित्य का प्रतिविम्व दृष्ट होता है, अतएव निराकार ब्रह्म का प्रतिविम्व क्यों नहीं होगा? इस प्रकार कहना असङ्गत है, उक्त प्रतिविम्व साकार जवापुष्प का है, जवाकुसुम स्फटिक के समीपस्थ होने से उसका प्रतिविम्व पड़ता है, जवा का गुण—रक्तिमा है, वह प्रतिफलित होता है स्फटिक में। तज्जन्य ग्रन्थकार ने हेतु विन्यास किया है, "उपाधि सम्बन्धाभावात्" श्रुति ब्रह्म को "असङ्ग" कहती है। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृहदारण्यक-४-३-१५) सुतरां ब्रह्म का उपाधि सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकसीति' (मण्डुक० ३, १) इत्याति श्रुत्या। "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वताश्व० ४, ५) इत्यादि श्रुत्या, "एवं ह वै स पाप्मनाविनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं,अत्र तस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" (प्रश्न० ५, ५) इत्यादिश्रुतया च विरोधात् 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्' इत्यादिश्रुतेरर्थान्तरपरत्वात्, तथाहि—अजोऽयमात्मा स्वगतचित्कणजीवाख्यांशवृन्दद्वारा क्षेत्रेषु बहुरूपः प्रतीयते, तेषां जीवानामपि चेतनत्वेनात्मत्वेन प्रतीतेरात्मन एव नानात्वप्रवादः—इतिश्रुतिसिद्धमात्मैकत्वं सङ्गच्छते। श्रुतौ 'ब्रह्मलोकम्' इत्यस्य ब्रह्मैव लोकम्—आलोचनीयमित्यर्थः। तथाहि माध्वभाष्यधृतपद्मपुराणवचनं ;—

"चेतनस्तु द्विधा प्रोक्ता जीव आत्मेति च प्रभो। जीवा ब्रह्मादयः प्रोक्ता आत्मैकस्तु जनार्द्दनः॥
इतरेष्वात्मशब्दस्तु सोपचारो विधीयते" इति।

सोपचारः—चेतनत्वलक्षणसादृश्येन लाक्षणिकः "आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः" इत्युक्तव्यापकत्वलक्षणयोगस्य जीवेष्वसम्भवात्, तेषां सूक्ष्मत्वेन श्रुतिसिद्धत्वात्। तथा हि श्रुतिः—

"यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवात्मानो व्युच्चरन्ति" (बृह, २,१,२०) इति।

"केशाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च। भागो जीवः" इति च,

जले तत्स्वभावेन सूर्य्याद्याकारेण परिणतसूर्य्यांशप्रभाविशेषस्य प्रतिविम्बत्वमते निरुक्तश्रुतेर्यथाश्रुतार्थतासम्भवोऽपि ॥३७॥

अनुवाद—

प्रतिपक्ष का कहना है—ब्रह्म तो असङ्ग है, किन्तु असङ्ग का अर्थ है—वास्तव सम्बन्ध शून्यत्व। ब्रह्म का प्रतिविम्ब में अवास्तव सम्बन्ध स्वीकार करने में आपत्ति क्या है? अर्थात् मूलाविद्याकृत विलक्षण ब्रह्म का अवास्तव सम्बन्ध मानकर विम्बत्व एवं अदृष्टविशेषाधीन अवास्तव सम्बन्धविशेष ही प्रतिविम्ब का नियामक है, यह मानेंगे? इस कथन का निरास करते हैं, "दृश्यत्वाभावात्" जो दृश्य नहीं है, उस का प्रतिविम्ब जल दर्पणादि में कैसे सम्भव होगा? चन्द्र सूर्य्यादि के प्रतिविम्ब में वस्तु प्रत्यक्ष है, जल में चक्षु संयुक्त होने से ही चक्षु उच्छलित होकर आकाशस्थ ज्योतिः पदार्थ में संयुक्त होता है, उस के बाद चक्षु जलवृत्ति रूप में आकाशस्थ ज्योतिः अंश को दर्शाते हैं। यहाँ ब्रह्म अदृश्य है, अतः दृष्टान्त विरुद्ध है, जोतिष्क पदार्थ चक्षुग्राह्य है, चक्षु की शक्ति असद्वस्तु ग्रहण करने की है, सुतरां चक्षु ब्रह्म का दर्शन कैसे कर सकता है, लिङ्ग शरीर भी अदृश्य है। सुतरां चक्षु लिङ्गदेह में वर्त्तनशील उपहित ब्रह्म को कैसे ग्रहण करेगा? चक्षु को छोड़कर प्रतिविम्ब ग्रहण की व्यवस्था नहीं हो सकती है। प्रतिविम्बत्व मानने पर ब्रह्म दृश्य ही होगा। रूपादि धर्मविशिष्ट परिच्छिन्न सावयव सूर्य्यादि जोतिष्क पदार्थ का प्रतिविम्ब दूरवर्त्ती सरोवर में दृष्ट होता है। किन्तु सूर्य्यादि का विपरीत धर्मविशिष्ट ब्रह्म का प्रतिविम्ब किसी प्रकार से नहीं हो सकता है। यदि कहो कि—आकाश निरवयव है, उस का जब प्रतिविम्ब होता है, तब ब्रह्म का प्रतिविम्ब क्यों नहीं होगा? इस का निरास करते हैं,—"उपाधिपरिच्छिन्नाकाशस्थ ज्योति" आकाश का प्रतिविम्ब नहीं होता है, आकाश में जो साकार ग्रहादि है, उस का प्रतिविम्ब है, आकाश का प्रतिविम्ब होने से वायु, काल, दिक् प्रभृति वस्तु का भी प्रतिविम्ब होना चाहिये? अतएव निरुपाधि निराकार सर्वव्यापी ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिविम्ब परिच्छेदवाद अतीव तुच्छ है।

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्"—इत्यादि श्रुति प्रतिविम्बवाद का प्रमाण है ऐसा कहना सर्वथा असङ्गत है। कारण श्रुति ईश्वर को माया का नियन्ता जीव को माया नियम्य मानकर उभय में भेद दिखाती है। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकसीति" (मण्डुक—३-१)

अनुवाद—

"अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।" (श्वेताश्वतर ४,५)

"दैवमपश्येनाविनिर्मुक्त स मामभिरुन्नयते ब्रह्मलोकं, अत्र तस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।" (प्रश्न—५, ५)

प्रथम श्रुति का तात्पर्य्य है—परमात्मा जीवात्मा,—एक ही वृक्ष में विराजित हैं, किन्तु जीवात्मा कर्मफल भोगी है, परमात्मा—कर्मफल भोग नहीं करते हैं। द्वितीय श्रुति का अर्थ—परमात्मा-ब्रह्म, मायातीत है, जीव मायाबद्ध है। तृतीय श्रुति का अर्थ—देह में अन्तर्य्यामी रूप में वर्त्तमान ब्रह्म, जीवघन से भी परवस्तु है, उक्त बलवत् श्रुतिसमूह से ज्ञात होता है कि—जीव, ब्रह्म में विलक्षण भेद है। "यथा ह्ययमात्मा विवस्वान्" प्रतिविम्व प्रतिपादक श्रुति का समाधान बलवती श्रुति मर्य्यादा के अनुकूल करना आवश्यक है। सुतरां अज,—आत्मा ही स्वगत चित्कण—जीव नामक अंशसमूह के द्वारा नाना क्षेत्र में अनेक रूप से प्रतीत है, समस्त जीव ही चेतन है, अतः वह आत्मा है, आत्मा का नानात्व कथन भी जीव का आत्ममूलक ही है, श्रुति में जीवात्मा परमात्मा का जो ऐक्य कथित है, वह आत्मनांश से ही है। आत्मधर्म जीव में है, अतः जीव भी आत्मा है, जीव का ही नानात्व है, उक्त नानात्व के साथ परमात्मा के आत्मत्वांश में ऐक्य है, अतः उन में भी नानात्व है, श्रीमन्मध्वाचार्य धृत पद्मपुराणीय वचन—

"चेतनस्तु द्विधा प्रोक्तो जीव आत्मेति च प्रभो ! जीवा ब्रह्मादयः प्रोक्ता आत्मैकस्तु जनार्दनः ॥

इतरेष्वात्मशब्दस्तु सोपचारो विधीयते ।

जीव-आत्मा उभय ही चेतन है। जीव शब्द से ब्रह्मादि,—और आत्मा शब्द से जनार्दन, हरि व्यतीत अन्यत्र आत्म शब्द सोपचार अर्थात् चेतनता के सादृश्य से लाक्षणिक है, व्यापकता लक्षणधर्म जिस में है, उस में आत्म शब्द की मुख्यावृत्ति है, "आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः"।

किन्तु जीव में उक्त व्यापकत्व धर्म होने की सम्भावना नहीं है, कारण समस्त श्रुतियों में जीव का स्वरूप सूक्ष्म ही लिखित है, "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमात्मानो व्युच्चरन्ति" "केशाग्र-शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः ॥" (पञ्चदशी, चित्रदीप ८१)

विशाल अग्नि से जिस प्रकार स्फुलिङ्ग उत्थित होकर इतस्ततः प्रधावित होता है, तद्रूप परिपूर्णरूप तेजोमय विग्रह भगवान् से क्षुद्र क्षुद्र अनन्त जीवात्मा प्रकाशित होती रहती हैं, केशाग्र को शतभाग से विभक्त करने से जिस प्रकार सूक्ष्म सूक्ष्म भाग होते हैं, तद्रूप जीव अति सूक्ष्म पदार्थ है, श्रीभगवान् ने भी कहा हैं,—"सूक्ष्माणामप्यहं जीवः" इस प्रमाणों से जीव की सूक्ष्मता एवं उस की भगवदंशता भी स्थापित हुई। सूर्य्यांश की प्रभा विशेष ही यदि सूक्ष्म रूप में परिणत होकर जल में निपतित होता है, एवं उस को प्रतिविम्व भी कहा जाता है, तव उक्त मत में उक्त श्रुति का अर्थान्तर न करके यथाश्रुत अर्थ भी हो सकता है, किन्तु मायाबादी का कल्पित मत को ग्रहण कर अन्यान्य बलवत् श्रुति के सहित विरुद्धार्थ करना युक्ति सङ्गत नहीं है, जीव ईश्वर में पारस्परिक भेदभाव अनादि सिद्ध, एवं सर्वशास्त्र प्रसिद्ध है, जीव भगवान् का चित्कण है, सूर्य्य की किरणावली, अग्नि का स्फुलिङ्ग ही इस का उपमास्थल है। मूल—सूर्य्य अथवा अग्नि से किरण अथवा स्फुलिङ्ग निर्गत होता है, इस अंश में अर्थात् चिदांश में जीव भगवात् में अभेदत्त्व होने से भी स्वरूपगत मन के भेद विद्यमान है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार स्वयं ही विस्तृत रूप से कहेंगे। श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति—"सन्नचासी—चित्कण जीव किरणकण सम, षड़ैश्वर्य्यपूर्ण कृष्ण हय सूर्य्योपम।

जीव ईश्वर तत्त्व कभु नहे सम। ज्वलदग्निराशि यैछे स्फुलिङ्गेर कण।"

"ह्लादिन्या सम्विदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाविद्यासम्वृतो जीवसंक्लेशनिकराकरः।"(विष्णुस्वामी)

"येइ मूढ़ कहे—जीव ईश्वरेर सम, सेइत पाषण्डी हय दण्डे तारे यम।" (चै० च० म० १८)

"यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः। समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्।"

(श्रीहरिभक्ति वि० १।७३) ॥३७॥

तथा वास्तवपरिच्छेदादौ सति सामानाधिकरण्यज्ञानमात्रेण न तत्त्यागश्च भवेत्। तत्पदार्थप्रभावस्तत्र कारणमिति चेदस्माकमेव मतसम्मतम् ॥३८॥

उपाधेराविद्यकत्वे तु तत्र तत्परिच्छिन्नत्वादेरप्यघटमानत्वादाविद्यकत्वमेवेति घटाकाशादिषु

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

'ब्रह्मैवाहम्' इति ज्ञानमात्रेण तद्रूपावस्थितिः स्यादिति यदभिमतं, तन् खलूपाधेर्वास्तवत्वपक्षे न सम्भवतीत्याह;—तथा वास्तवेति, आदिना प्रतिविम्वो ग्राह्यः। न खलु निगड़ितः कश्चिद्दीनः 'राजैवाहम्' इति ज्ञानमात्राद्राजा भवन् दृष्ट इति भावः। ननु ब्रह्मानुसन्धिसामर्थ्याद्भवेदिति चेत्तत्राह,—तत्पदार्थेति। तथा च त्व(त)न्मतक्षतिरिति ॥३८॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

वास्तवपरिच्छेदपक्षे दूषणान्तरमवास्तवापरिच्छेदादौ सतीति। सामानाधिकरण्यज्ञानमात्रेण इति—"तत्त्वमसि" इति श्रुत्या तत्पदार्थपरमेश्वर-त्वम्पदार्थजीवयोरैकचग्रहमात्रेणेत्यर्थः। तत्त्यागः—वास्तव-परिच्छेदनाशः, परिच्छेदकारणस्य वास्तवोपाधिसम्बन्धस्य ब्रह्ममात्रसाक्षात्कारेऽपि नाशासम्भवात् ब्रह्मणि उपाधेरारोपितत्व एव तत्साक्षात्कारेण तन्नाशो भवेदिति भावः। तत्पदार्थप्रभाव इति—श्रुतिघटक-तत्पदार्थपरमेश्वरस्य प्रभावः;—स्वस्मिन् जीवैकचसाक्षात्कारः, तत्र—वास्तवोपाधिसम्बन्धनाशद्वारा परिच्छेदकनाशे, कारणं—श्रुतिसिद्धमिति भावः। अस्माकमेवेति;—श्रुतौ तत्पदेन परमेश्वर-तटस्थांश-लक्षणया तदंशत्वमित्यभेदबोधः। 'स्थूलसूक्ष्मदेहसम्बन्धनाशे जीवानां मुक्तिहेतुः' इति श्रुतिसिद्धमस्माकं मतमेव भवतामपि सम्मतमापद्येतेत्यर्थः ॥३८॥

अनुवाद—

उपाधि का वास्तवत्व में दोष—वास्तव परिच्छेद पक्ष में अपर एक दोष दर्शाते हैं, यद्यपि उपाधि की वास्तवता को मान लिया जाता है, तथापि "त्वम्पदार्थ"—जीव का ऐक्य ग्रहण मात्र से ही वास्तव परिच्छेद-प्रतिविम्व का (त्याग) नाश नहीं होता है, अर्थात् परिच्छेदादि का कारण उपाधि सम्बन्ध वास्तव है, ब्रह्म साक्षात्कार से भी उस का नाश हो नहीं सकता है। उक्त उपाधि सम्बन्ध अवास्तव होकर ब्रह्म में आरोपित होता है, तव नाश होने की सम्भावना होती। यदि श्रुतिसिद्ध तत्पदार्थ परमेश्वर का प्रभाव अर्थात् अपने में ऐक्य दर्शन ही वास्तव उपाधि सम्बन्ध नाश के द्वारा परिच्छेदादि नाश के प्रति कारण हो तो हमारे मत भी तुम्हारे सम्मत ही होगा ॥३८॥

सारार्थः—**अस्माकमेव,—इस वाक्य का तात्पर्य्य,—"तत्त्वमसि" वाक्य में जो तत्पद है, उस की परमेश्वर के तटस्थ अंश में लक्षणा मानकर अंशत्व पुरस्कार से जीव के सहित परमेश्वर का अभेद बोध होता है, अर्थात् "तत् तस्य, तटस्थांशः त्वं असि" जिस प्रकार "गङ्गायां घोषः" इस वाक्यस्थ गङ्गा पद के द्वारा तीर लक्षित होकर "गङ्गातीर में घोष पल्ली है", इस प्रकार अर्थ सङ्गति होती है। किन्तु यहाँ पर "ईश्वर ही तुम हो" इस वाक्य की सङ्गति नहीं होती है, कारण—निगड़ बद्ध दरिद्र व्यक्ति कभी भी मैं 'राजा' हूँ, इस वात को मन में करके राजा नहीं हो सकता है। सुतरां उक्त "तत्" को अव्यय मान कर "तस्य" अर्थ करना होगा। उक्त तत् पद से अंश का बोध होगा, अर्थात् तुम जीव, ब्रह्म का तटस्थ अंशस्वरूप हो। वेदादि समस्त शास्त्र का ही मत है,—जीव का स्थूल सूक्ष्म देह के सहित सम्बन्ध विच्छिन्न होने से ही उस की मुक्ति होती है, वह भी परमेश्वर साक्षात्कार से ही सम्भव है। यह मत ही यदि विपक्ष बादियों का हो तव उस के विरुद्ध में कुछ भी कहना नहीं है, कारण वह तो हमारे अनुकूल है। परमेश्वर साक्षात्कार की शक्ति को मानकर भी ब्रह्म को निर्धर्म्मक-निर्विशेष प्रभृति कहते हैं, यह ही उन के मत की हानि है ॥३८॥**

उपाधि का अवास्तव पक्ष में दोष,—उपाधि की अवास्तवता के पक्ष में परिच्छेद-प्रतिविम्व बाद

वास्तवोपाधिमयतद्दर्शनया न तेषामवास्तवस्वप्नदृष्टान्तोपजीविनां सिद्धान्तः सिध्यति, घटमानाघटमानयोः सङ्गतेः कर्त्तुमशक्यत्वात् । ततश्च तेषां तत्तत् सर्वमविद्याविलसितमेवेति स्वरूपमप्राप्तेन तेन तेन (च) तत्तद्व्यवस्थापयितुमशक्यम् ॥३९॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अथोपाधेराविद्यकत्वपक्षे परिच्छेदादिवादद्वयं निराकरोति—उपाधेरिति, आविद्यकत्वे—रज्जुभुजङ्गादिवन्मिथ्यात्वे सतीत्यर्थः। तत्रोपाधिपरिच्छिन्नत्व तत्प्रतिविम्बित्वयोरप्यनुपपद्यमानत्वान्मिथ्यात्वमेवेति हेतोः, घटाकाशादिषु घटपरिच्छिन्नाकाशे घटाम्बुप्रतिविम्बाकाशे च वास्तवोपाधिमय-तदुभयदृष्टान्तदर्शनया तेषां चिन्मात्राद्वैतिनामेकजीववादपरिनिष्ठत्वादवास्तवस्वप्नदृष्टान्तोपजीविनां सिद्धान्तो न सिध्यति। उपाधेर्मिथ्यात्वे तेन परिच्छेदः प्रतिविम्बश्च ब्रह्मणो मिथ्यैव स्यात्, अतो मिथ्योपाधिदृष्टान्तत्वेन सत्यघट-घटाम्बुनोः प्रदर्शनमसमञ्जसमेव। घटघटाम्बुदृष्टान्तप्रदर्शनं—घटमानं, विद्याऽविद्यावृत्तिरूपदार्ष्टान्तिक-प्रदर्शनं त्वघटमानम्। तयोः सङ्गतिः सादृश्यविलक्षणा कर्त्तुमशक्यैव, सादृश्याभावात्। ततश्चेति,—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अघटमानत्वात्—वास्तविकत्वासम्भवात्, उपाधिमयेति—वास्तवोपाधिकृतेत्यर्थः। तद्दर्शनया—परिच्छेददृष्टान्तेन। यद्यपि तन्मते घटादेराकाशस्य तत्परिच्छेदस्य चावास्तवत्वात् तद्दृष्टान्ततासम्भवः, तथापि मिथ्याभूतानामपि ब्रह्मातिरिक्तानां द्विविधं सत्त्वं, केषाञ्चिद्व्यवहारिकं घटादिदेहादीनां, केषाञ्चिच्च प्रातिभासिकं यथा रज्जुसर्पादेरिति। तथा चाकाशस्य सावयवत्वेन विकारित्वेन च व्यवहारिकस्य तत्परिच्छेदस्योपाधिकृतस्य घटमानत्वं, ब्रह्मणश्च निरवयवत्वेन निर्विकारत्वेन तदुपाधेराविद्यकत्वेन च तत्परिच्छेदकस्य व्यवहारिकस्याघटमानत्वमिति प्रातिभासिकपरिच्छेद एवाङ्गीकार्य्यः इति न घटाकाशस्य दृष्टान्ततासम्भवः, घटाकाशपरिच्छेदस्य तद्वास्तविकत्वमुक्तं तद्व्यवहारिकस्य सत्त्वमेवेति भावः। स्वप्नस्य

अनुवाद—

का खण्डन करते हैं, उपाधि अविद्यामूलक होने से—अर्थात् रज्जु में सर्प बुद्धि के समान मिथ्या होने से ब्रह्म उपाधि के द्वारा परिच्छिन्न एवं उपाधि द्वारा प्रतिविम्बित,—दोनों की वास्तविकता नहीं हो सकती है, वह मिथ्या ही है, सुतरां घट परिच्छिन्न आकाश में घट जल में प्रतिविम्बित आकाश में वास्तव उपाधिकृत परिच्छेद-प्रतिविम्ब दृष्टान्त के द्वारा अद्वैतबादियों के अवास्तव स्वप्न दृष्टान्त सिद्ध नहीं होता है। कारण उन्होंने एक जीवबाद स्थापन में उक्त दृष्टान्त को स्वीकार किया है, उपाधि मिथ्या होने से ब्रह्म का प्रतिविम्व परिच्छेदबाद भी मिथ्या उपाधि दृष्टान्त में सत्य घट एवं जल को दिखाना उचित नहीं है, कारण घट—घट जल के दृष्टान्त प्रदर्शन में घटमान—(घटना के योग्य) विद्या अविद्यारूप दार्ष्टान्तिक प्रदर्शन अघटमान—(अघटनीय) दोनों का सादृश्य न होने से दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक के सहित सङ्गति नहीं होती है। इन सब कारण से मायाबादियों की जीव-ईश्वर परिच्छेद-प्रतिविम्ब कल्पना अविद्या विलसित है, अर्थात् अज्ञान विजृम्भित है, जो रीति स्वरूप को प्राप्त नहीं करती है, अर्थात् जिस का स्वरूप के सहित कोई सम्बन्ध ही नहीं है, उस प्रकार प्रतिविम्ब-परिच्छेद बाद के अवलम्बन से जीव ईश्वर प्रतिपादन कभी भी नहीं हो सकता है ॥३९॥

सारार्थः—अद्वैतबाद-गुरु श्रीमत् शङ्कराचार्य्यपाद के मत में जीव ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, जो भेद दृष्ट होता है, वह उपाधिप्रसूत है, उस का मूल कारण भी उपाधि है, एवं उपाधि ही परिच्छेद-प्रतिविम्बबाद की भित्ति है। उक्त बादद्वय के अवलम्वन से ही जीव ब्रह्म की भेद कल्पना है। जिस समय उक्त उपाधि ज्ञान द्वारा विनष्ट होती है, उस समय जीव ईश्वर का भेद नहीं रहता है, अद्वय ब्रह्म ही रहता है। "ब्रह्माद्वयं शिष्यते" इस विभाग का निदान उपाधि का वास्तवत्व—अथवा अवास्तवत्व है? वास्तव पक्ष में दोष कहा गया है, अवास्तव पक्ष में सम्प्रति दोष दर्शाया है।

इति ब्रह्माविद्ययोः पर्य्यवसाने सति यदेव ब्रह्म चिन्मात्रत्वेनाविद्यायोगस्यात्यन्ताभावास्पदत्वाच्छुद्धं तदेव तद्योगादशुद्धचा जीवः, पुनस्तदेव जीवाविद्याकल्पितमायाश्रयत्वादीश्वर-

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

तत्तत् सर्व्वं—परिच्छेदप्रतिविम्वकल्पनं, अविद्याविलसितं—अज्ञानविजृम्भितमेव, इति—एवमुक्तरीत्या, स्वरूपमप्राप्तेन—असिद्धेन, तेन—परिच्छेदवादेन, तेन—प्रतिविम्ववादेन च तत्तद्व्यवस्थापयितुं—प्रतिपादयितुमशक्यम्। ततश्च हन्तृहतन्यायेन व्यासदृष्टप्रकारकस्तद्विभागो ध्रुवः ।।३९।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

दृष्टान्तता च तन्मते सम्भवः। तथाहि 'देहादि-तत्कृतब्रह्मपरिच्छेदो मिथ्या स्वप्नदेहादिवत्' इत्येवं स्वप्नदृष्टान्तोपजीविनां सिद्धान्तः—व्यवहारिक-ब्रह्मपरिच्छेदो न सिध्यतीत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—अघटमानघटमानयोरिति, सङ्गतेरिति—तुल्यतया सिद्धेरित्यर्थः, ततश्चेति—देहाद्युपाधिकृतब्रह्मपरिच्छेदस्य प्रातिभासिकत्वाच्चेत्यर्थः। अविद्याविलास एव—खपुष्पादिवदारोपविषय एव। स्वरूपमप्राप्तेन—व्यवहारिकसत्त्वमप्राप्तेन, तेन तेनेति—तत्तदुपाधिकृतपरिच्छेदविशिष्टब्रह्मण इत्यर्थः, तत्तदिति—संसारवैचित्र्यमित्यर्थः ।।३९।।

अनुवाद—

वास्तवोपाधिमयतद्दर्शनया,—मायाबादियों का दृष्टान्त घटाकाशादि वास्तव है, उस से अवास्तव स्वप्न दृष्टान्त सिद्ध नहीं होता है। तथापि ब्रह्मातिरिक्त वस्तु समूह मिथ्या होने परभी उसकी सत्ता दो प्रकार है, व्यवहारिक-पारमार्थिक, पार्थिव—घट देहादि की व्यवहारिक सत्ता है, किसी किसी वस्तु की 'प्रातिभासिक सत्ता' है। जिस प्रकार रज्जु में सर्प की सत्ता। आकाश में सावयवत्व विकारित्व धर्म होने से वह व्यवहारिक सत्तावान् है, सुतरां उसका उपाधिकृत परिच्छेद का घटमानत्व होता है, किन्तु ब्रह्म निराकार निर्विकार होने से उस में परिच्छेद का अघटमानत्व है, अर्थात् कारण में परिच्छेद की सम्भावना नहीं है, अतः ब्रह्म का प्रातिभासिक परिच्छेद ही मानना होगा। सुतरां घटाकाश का दृष्टान्त हो नहीं सकता है। घट में जो महाकाश का परिच्छेद है, वह वास्तविक है, उस में व्यवहारिक सत्ता विद्यमान है।

स्वप्न दृष्टान्त से ब्रह्म परिच्छेद को मिथ्या कहने से-उक्त दृष्टान्त ठीक होता है, किन्तु उसमें भी दोष अपरिहार्य्य है। कारण—घटमान-अघटमान की सङ्गति नहीं हो सकती है, सुतरां उक्त सिद्धान्त से ब्रह्म का व्यवहारिक परिच्छेद सिद्ध नहीं होता है। स्वप्न दृष्टान्त के बाद आकाश दृष्टान्त,—क्या सङ्गत होगा? मायाबादियों का आकाश दृष्टान्त से व्यवहारिक सत्ता को मानकर घटमानत्व का स्थापन होता है, अर्थात् उस से आकाश का परिच्छेद घटादि के द्वारा होता है, किन्तु दार्ष्टान्तिक ब्रह्म की व्यवहारिक सत्ता किसी प्रकार से स्वीकृत नहीं है, सुतरां रज्जु सर्पके समान उसमें प्रातिभासिक सत्ता मानना आवश्यक है। तव निर्विकार निराकार ब्रह्म की परिच्छेद विधायक अविद्याकृत उपाधि की व्यवहारिक सत्ता का अघटमानत्व होगा, अर्थात् किसी प्रकार से भी उक्त सत्ता ब्रह्म में घटेगी नहीं।

घटमान-अघटमान,—विरुद्धायमान दोनों की सङ्गति करने के निमित्त दृष्टान्त (आकाश) दार्ष्टान्तिक (ब्रह्म) तुल्य हो जायेगा। दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक का साम्य सर्वांश में न होने से भी आंशिक रूपसे साम्य होना आवश्यक है, किन्तु मायाबादीगण किसी अंश में प्राकृत वस्तुके सहित ब्रह्म का तुल्यभाव नहीं मानते हैं। सुतरां उक्त दृष्टान्त समूह सिद्ध कैसे होंगे, एवं सङ्गति भी कैसे होगी? सम्प्रति दृष्ट होता है कि,—देहादि उपाधिकृत ब्रह्म का परिच्छेद—प्रातिभासिक सत्तावान् है। आकाश कुसुम के समान आरोपसिद्ध है, व्यवहारिक सत्ता के सहित उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सुतरां देहादि उपाधि के द्वारा परिच्छिन्न ब्रह्म की विविध संसार वैचित्री कैसे स्थापित होगी? ।।३९।।

उक्त बाद के सम्बन्ध में पुनर्वार दोषोद्घाटन करते हैं। उल्लिखित रूप में ब्रह्म एवं अविद्या का

स्तदेव च तन्मायाविषयत्वाज्जीव इति विरोधस्तदवस्थ एव स्यात् । तत्र च शुद्धायां चित्यविद्या, तद्विद्याकल्पितोपाधौ तस्यामीश्वराख्यायां विद्य`ेति, तथा विद्यावत्त्वेऽपि मायिकत्वमित्यसमञ्जसा च कल्पना स्यादित्याद्यनुसन्धेयम् ॥४०॥

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

ननु परिच्छेदादिवादद्वयेनास्माकं तात्पर्य्यं, तस्याज्ञबोधनाय कल्पितत्वात्, किन्त्वेकजीववाद एव तदस्ति ।

"स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्व्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत् परितुष्टिमेति ॥" (कैवल्य० १२)—इत्यादि

कैवल्योपनिषदि तस्यैवोपपादितत्वात् । तद्वादश्चेत्थम्; "एकमेवाद्वितीयम्" इत्याद्युक्तश्रुतिभ्योऽद्वितीय-चिन्मात्रो ह्यात्मा । स चात्मन्यविद्यया गुणमयीं मायां तद्वैषम्यजां कार्य्यसंहतिञ्च कल्पयन्नस्मदर्थमेकं युष्मदर्थांश्च बहून् कल्पयति । तत्रास्मदर्थः—स्वस्वरूपः पुरुषः । युष्मदर्थश्च—महदादीनि भूम्यन्तानि जड़ानि, स्वतुल्यानि पुरुषान्तराणि, सर्व्वेश्वराख्यः पुरुषविशेषश्च—इत्येवं त्रिविधः ।

"जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" (नृसिंह० ९) इति श्रुत्यन्तराच्च । गुणयोगादेव कर्त्तृत्वभोक्तृत्वे तत्रात्मन्यध्यस्ते, यथा स्वप्ने कश्चिद्राजधानीं राजानं तत्प्रजाश्च कल्पयति,

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

दूषणान्तरमाह—ब्रह्माविद्ययोरिति । पर्य्यवसाने—विचारेण स्वरूपनिर्णये सतीति,—'विरोधस्तदवस्थ एव' इत्यग्रेणास्यान्वयः । चिन्मात्रत्वेन स्वप्रकाशसुखात्मकत्वेन, अविद्यायोगस्य अविद्याया निरासेन तत्कृतमोहादेः । तद्योगादिति—अविद्यायोगेन परिच्छिन्नत्वात् प्रतिविम्वरूपत्वाद्वा इत्यर्थः । अशुद्धचा

अनुवाद—

स्वरूप निर्णय होने पर विरोध भी उस प्रकार ही रह जाता है । कारण,—स्वप्रकाश सुखात्मक ब्रह्म का अविद्या निरास होने से वह शुद्ध होता है, पुनर्वार वह ही ब्रह्म,—अविद्या के सम्पर्क में आकर परिच्छिन्न प्रतिविम्वरूप होकर अशुद्ध-मुग्ध, अर्थात् राग द्वेषादियुक्त जीव हो जाता है । इस प्रकार एक ही वस्तुमें "मोह-अमोह" अविद्या का सङ्ग-असङ्ग रूप एक महान् विरोध उपस्थित होता है ।

इस में अपर एक विरोध दर्शाते हैं :—

उक्त ब्रह्म ही जव जीव की अविद्या कल्पित माया का आश्रय ग्रहण करता है, तव वह ईश्वर होता है, एवं वह माया का विषय होकर जीव हो जाता है, इसमें विरोध उक्त रूप ही है । अतएव अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य है,—जीवभाव को छोड़कर ईश्वर का मायाश्रयत्वसिद्ध नहीं होता है, ईश्वराधीन मायाकृत मोह व्यतीत जीवभाव भी नहीं होता है, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होता है ।

उक्त शुद्ध चिन्मात्र निरुपाधि ब्रह्ममें अविद्या सम्बन्ध हेतु कल्पित—उपाधियुक्त चिन्मात्र ईश्वर में विद्या की कल्पना, इस प्रकार ईश्वर की विद्यावत्ता अङ्गीकार करके भी ईश्वर को मायिक कहा गया है । इस प्रकार मायाबाद में अनेक प्रकार कल्पना का असामञ्जस्य है, विज्ञ व्यक्तिगण उसका अनुसन्धान करेंगे ॥४०॥

सारार्थः—एकजीवबाद खण्डन—श्रीबलदेवविद्याभूषण महाशयने इस वाक्य की व्याख्या में एकजीव बाद का खण्डन किया है, प्रतिपक्ष यदि कहे कि—परिच्छेद प्रतिविम्व बाद में हमारे तात्पर्य्य नहीं है, कारण,—उक्त बाद द्वय, अज्ञ लोकों को समझाने के निमित्त कहे गये हैं, किन्तु तात्पर्य्य है, एकजीवबाद में, उस को समझाने के निमित्त ही प्रतिविम्व परिच्छेद बाद की कल्पना की गई है । कारण उपनिषद् में एक जीवबाद का ही वर्णन है, वह एक आत्मा ही माया द्वारा मोहित होकर शरीर ग्रहण करता है, और स्त्री, अन्न, पान प्रभृति विचित्र विषयों का उपभोग करता है, वह आत्मा जाग्रत होने से अर्थात् ज्ञान लाभ करने से परमसुख को प्राप्त करता है ।

श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-कृता टीका ।

तन्नियम्यमात्मानञ्च मन्यते, तद्वत् । जाते च ज्ञाने, जागरे च सति, ततोऽन्यन्न किञ्चिदस्तीति चिन्मात्रमेकमात्मवस्त्विति । तमिमं वादं निराकर्त्तुमाह—इति ब्रह्मे ति, इति—एवं पूर्व्वोक्तरीत्या परिच्छेदादिवादद्वयस्य प्रत्याख्याने जाते, ब्रह्म च अविद्या च—इति द्वयोः पर्य्यवसाने सतीत्यर्थः। अत्यन्ताभावास्पदत्वादिति—"अगृह्यो न हि गृह्यते" (बृ० आ० ३, ९, २६) इत्यादि श्रुतेरेवेत्यर्थः। विरोधस्तदवस्थ इति—विरोधत्वादेवाशकचव्यवस्थापयितुमित्यर्थः। तत्र च शुद्धायामिति—"शुद्धे ब्रह्मण्यकस्मादविद्यासम्बन्धस्ततत्सम्बन्धात्तस्य जीवत्वम्। तेन जीवेन कल्पिताया मायाया आश्रयो भूत्वा तद्ब्रह्मै वेश्वरः। तस्येश्वरस्य मायया परिभूतं ब्रह्मै व तज्जीवः।" इत्यादि विप्रलापोऽयमविदुषामेव, न तु विदुषामिति

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

मुग्धतया, रागद्वेषादिमत्त्वेन जीवा इति । तथा च मोहामोहयोः सङ्गासङ्गयोश्च विरोधः। विरोधान्तरमाह पुनरिति,—तथेत्यर्थः। जीवाविद्याकल्पितेति—तथा च जीवभावं विना न मायाश्रयत्वमीश्वरस्य, तथा ईश्वराश्रितमायाकृतमोहं विना न जीवभावः—इत्यन्योन्याश्रय इति भावः। शुद्धायां चितीति—निरुपाधौ ब्रह्मणीत्यर्थः। तस्यामिति—चितीत्यर्थः। तथा चैकस्याविद्या-विद्ययोर्विरोधः स्फुटः—इति दर्शयति,—विद्यावत्त्वेऽपीति ।।४०।।

अनुवाद—

"स एव माया परिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति ।।" (कै० उ० १२)

एकजीवबाद का संक्षेप विवरण यह है—"एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुति से जो अद्वैत चिन्मय-आत्मा गृहीत होता है, वह स्वयं ही त्रिगुणमयी माया को एवं माया के गुणत्रय वैषम्य सम्भूत कार्य्यसमूह की कल्पना करके अस्मद् अर्थ से एक एवं युष्मदर्थ से अनेक की कल्पना करता है। उस के मध्य में अस्मदर्थ—स्वयं पुरुषाख्य स्वरूप है, युष्मदर्थ—अपने से अतिरिक्त महतत्त्वादि पृथिवी पर्य्यन्त जड़वस्तु निचय है। अपना तुल्य, अन्यान्य पुरुष एवं सर्वेश्वर नामक पुरुष विशेष, ये त्रिविध कल्पना करता है, एक आत्मा ही माया के द्वारा उस प्रकार प्रकाशित होता है, अपरापर श्रुति से इस प्रकार विवरण मिलता है।

"जीवेशावाभासेन करोति, माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" (नृसिंहोत्तर० ९)

आत्मा असङ्ग है, किन्तु माया के तीन गुण के सहित योग होने से उसका कर्त्तृत्व भी अध्यस्त होता है। जिस प्रकार स्वप्न में कोई दरिद्र व्यक्ति—राजा, राजधानि एवं प्रजापुञ्ज को देखकर अपने को राजा मान लेता है, स्वप्न टूट जाने पर उस अभिमान नहीं रहता है, तव स्वरूप की स्फुर्त्ति होती है। उस प्रकार जव जीव की आत्मतत्त्व स्फुर्त्ति होती है, तव वह अपर कुछ भी नहीं देखता है, केवल चिन्मात्र एक आतम वस्तु का बोध होता है, जीवात्मा एक है, विषय अनेक है, गुण योग से उक्त विषयों में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व अभिमान अपने में होता है। यह ही एकजीवबाद का सिद्धान्त है।

पूर्वोक्त रीति से प्रतिविम्व परिच्छेदबाद निरस्त हुआ, सम्प्रति ब्रह्म एवं अविद्या अवशेष है, उस पर कहता हूँ। ब्रह्म,—शुद्ध ही है, तव अकस्मात् ही अविद्या का सम्बन्ध हो जाता है, और ब्रह्म—जीव हो जाता है, उक्त जीव कल्पित माया का आश्रय होकर उक्त ब्रह्म पुनर्वार ईश्वर नाम लेकर सामने आता है। ब्रह्म, ईश्वराश्रित माया के द्वारा पराभूत होकर जीव होता है, इस से "यथा पूर्वं तथा परम्" विरोध पूर्ववत् रह जाता है। ब्रह्म—शुद्ध है, अद्वय है, उस में भी अविद्या का सम्बन्ध, ईश्वर में विद्या की कल्पना, पुनर्वार उस का मायिकत्व स्थापन ? यह सव मायाबादियों का अज्ञ का प्रलाप को छोड़कर अपर कुछ नहीं है।

"स एव माया" इस श्रुति का तात्पर्य्य इस प्रकार है,—जीव, ब्रह्मायत्त वृत्तिक है, अर्थात्—जीव ने एक ब्रह्म से ही निज यावतीय इन्द्रिय-अन्तःकरण-बुद्धि प्रभृति की विषय ग्राहिका शक्ति प्राप्त की है, एवं

किञ्च, यद्यत्राभेद एव तात्पर्य्यमभविष्यत्तर्ह्येकमेव ब्रह्माज्ञानेन भिन्नं, ज्ञानेन तु तस्य भेदमयं दुःखं विलीयत इत्यपश्यदित्येवावक्ष्यत् । तथा श्रीभगवल्लीलादीनां वास्तवत्वाभावे सति श्रीशुकहृदय-विरोधश्च जायते ।।४१।।

तस्मात् परिच्छेद-प्रतिविम्वत्वादि—प्रतिपादकशास्त्राण्यपि कथञ्चित्तत्साहश्येन गौण्यैव

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

भावः । मायिकत्वं—प्रतारकत्वमित्यर्थः । "स एव माया" इति श्रुतिस्तु ब्रह्मायत्तवृत्तिकत्व-ब्रह्मव्याप्यत्वाभ्यां ब्रह्मणोऽनतिरिक्तो जीव इत्येव निवेदयन्ती गतार्था, "जीवेशौ" इति श्रुतिस्तु मायाविमोहित-तार्किकादिपरिकल्पितजीवेशपरतया गतार्थेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ।।४०।।

अनुपपत्त्यन्तरमाह;—किञ्चेति । अत्र—श्रीभागवते शास्त्रे । इत्येवेति,—"पूर्णः पुरुषः कश्चिदस्ति, तदाश्रितया मायया जीवो विमोहितोऽनर्थं भजति, तदनर्थोपशमनी च पूर्णस्य तस्य भक्तिः" इत्यपश्यत्—इत्येवं नावक्ष्यदित्यर्थः ।।४१।।

तस्मादिति;—तत्साहश्येन—परिच्छिन्नप्रतिविम्वतुल्यत्वेनेत्यर्थः । "सिंहो देवदत्तः" इत्यत्र यथा

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

यद्यत्रेति, अत्र—श्रीभागवते,—"अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इति वचने । अपश्यदिति—व्यास इत्यादिः, अवक्ष्यदिति—सूत इत्यादि, तथोक्तावेव स्पष्टार्थः स्यादिति भावः । "सूतस्याद्वैतमत-स्वीकारस्तद्गुरु-शुकसम्मतिं विना न" इति विभाव्य दूषणान्तरमाह,—तथेति—अद्वैतवादस्य सूतसम्मतत्वे इत्यर्थः । वास्तवत्वाभावे—अद्वैतभङ्गभिया वास्तवत्वास्वीकारे, शुकहृदयविरोधश्चेति—शुकहृदयग्रन्थे श्रीभगवल्लीलाया वास्तविकत्वेन कथनादिति भावः । तथा च सर्वतोऽतिशयज्ञानस्य शुकस्याद्वैतवाद-स्वीकारेण तन्मतं न समीचीनमिति भावः ।।४१।।

अम्बुवदग्रहणात्" इति पूर्वपक्षवेदान्तसूत्रम् । अस्यार्थः—परमात्म-जीवात्मनोरैक्यं, अग्रहणात्—

अनुवाद—

जीव ब्रह्म का व्याप्य है। ब्रह्म—व्यापक है, अर्थात् ब्रह्म जीव को व्याप्त कर वर्त्तमान रहता है। "जीवेशावाभासेन" इत्यादि श्रुति का तात्पर्य्य इस प्रकार मायामोहित व्यक्तिगण जीव एवं ईश्वर को जिस प्रकार कहते हैं, उस का प्रकाश श्रुतियों ने किया है। किन्तु उक्त वाक्य से जीव एवं ईश्वर का तत्त्व प्रकाश नहीं हुआ है ।।४०।।

पूर्वोक्त परिच्छिन्न प्रतिविम्वबाद में अपर एक अनुपपत्ति है, श्रीमद् भागवतीय "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इस वचन का तात्पर्य्य यदि अभेद में होता तो—एक ब्रह्म ही अज्ञान द्वारा भेदयुक्त होता है, ज्ञान के द्वारा भेदमय दुःख विलीन हो जाता है, श्रीवेदव्यास इस को ही देखे थे। सूत इस को ही कहते, एवं उस प्रकार अभेद अर्थ भी उस से सुस्पष्ट रूप से प्रकाशित होता। किन्तु किसी एक षड़ैश्वर्य्य पुरुष है, उन की आश्रिता माया है, उस से विमोहित जीव अनर्थ भोग करता है, एवं उन पूर्णपुरुष की भक्ति ही अनर्थ विनाशिनी है, इस प्रकार नहीं कहते।

सूत के द्वारा उक्त अद्वैतबाद स्वीकृत होने से, गुरु श्रीशुकदेव के साथ उन का विरोध उपस्थित होगा, इस से श्रीभगवल्लीला को अवास्तव मानना पड़ेगा, तव तो "श्रीशुक हृदय ग्रन्थ के साथ विरोध उपस्थित होगा, कारण उक्त ग्रन्थ में श्रीभगवल्लीला का वास्तवत्व प्रदर्शित हुआ है।" अतएव ज्ञानीगुरु श्रीशुकदेव ही जव अद्वैतबादी नहीं है, तव अद्वैतबादियों का तन्मत पोषक परिच्छेद-प्रतिविम्वबाद, सर्वथा असमीचीन है, यह सुस्पष्ट ही है ।।४१।।

अतएव प्रतिविम्व परिच्छेद प्रतिपादक शास्त्रसमूह गौणीवृत्ति के द्वारा परिच्छिन्न एवं प्रतिविम्व को

वृत्त्या प्रवर्त्तेरन्। "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" (ब्र०सू० ३,२,१९) 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभय-सामञ्जस्यादेवम्" (ब्र०सू० ३,२,२०) इति पूर्व्वोत्तरपक्षमयन्यायाभ्याम् ॥४२॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

गौण्या वृत्त्या सिंहतुल्यत्वं देवदत्तस्योच्यते, न तु सिंहत्वं, तद्वदित्यर्थः। नन्वेवं केन निर्णीतम्? इति चेत्, "सूत्रकृता श्रीव्यासेनैव" इति तत् सूत्रद्वयं दर्शयति। तत्रैकेन तद्वादद्वयमसम्भवान्निरस्यति;—अम्बुवदिति; यथाम्बुना भूखण्डस्य परिच्छेदः, एवमुपाधिना ब्रह्मप्रदेशस्य स स्यात्? न, अम्बुना भूखण्डस्येव उपाधिना ब्रह्मप्रदेशस्य ग्रहणाभावात्। "अगृह्यो न हि गृह्यते" (बृह०, ३, ९, २६) इति हि श्रुतिः। अतो न तथात्वं, ब्रह्मण उपाधिपरिच्छिन्नत्वं न इत्यर्थः। यद्वा, अम्बुनि यथा रवेः प्रतिविम्वः परिच्छिन्नस्य गृह्यते, एवमुपाधौ ब्रह्मणः प्रतिविम्वो व्यापकस्य न गृह्यते; अतो न तथात्वं—तस्य प्रतिविम्वो न इत्यर्थः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

भेदस्याग्रहणात् अभेदस्य श्रवणादिति यावत्, "सर्व्वं एकीभवन्ति" (प्रश्न० ४, २) इति श्रुतेः, "स ऐक्षत" "बहु स्याम्" इत्यादि श्रुतेश्च। तथा चैकमेव ब्रह्म तत्तदुपाधिभेदेन भिन्नमिव, तत्तदुपाधिविगमे पुनरैक्यं अम्बुवत्, एकस्माज्जलादुद्धृतं जलं पुनस्तत्रैव जले निहितमेकीभवतीति—तद्वदिति। अत्र सिद्धान्तसूत्रम् "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" इति। जलादुद्धृतं जलं अवयवविभागेन पूर्वजलनाशेन जलान्तरं उत्पन्नं, न तु तयोरैक्यं तदाधारभूतजलस्य ह्रासात्। पुनस्तत्र निक्षिप्तं तज्जलं मिलितमुभाभ्यां जलान्तरमुत्पन्नं, वृद्धिदर्शनात्। तदाह,—"वृद्धिह्रासभाक्त्वम्" इति। वृद्धिह्रासभाक्त्वं यतो भवति, अतो मिलितजलयोर्भेदः परमार्थः।

अनुवाद—

कथञ्चित् आंशिक सादृश्य मानकर ब्रह्म निरुपण में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् "सिंहो देवदत्तः" कहने से जिस प्रकार शब्द की गौणी वृत्ति के द्वारा देवदत्त सिंह तुल्यत्व का बोध होता है, किन्तु उस का सिंहत्व है, ऐसा बोध कभी भी नहीं होगा, उस प्रकार यहाँ भी गौणी वृत्ति स्वीकार के द्वारा ही परिच्छिन्न-प्रतिविम्वबाद का अर्थ जानना होगा। "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" वेदान्त में यह पूर्वपक्ष सूत्र है, एवं वृद्धिह्रास-भाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" इस उत्तर पक्ष सूत्र की गौण वृत्ति के द्वारा ही उक्त बादद्वय की प्रवृत्ति प्रदर्शित हुई है ॥४२॥

सारार्थः—उद्धृत सूत्रद्वय की विद्याभूषण सम्मत व्याख्या—ग्रन्थकार ने निज सिद्धान्त स्थापन हेतु श्रीवेदव्यासकृत सूत्रद्वय को उठाया है, उस के पूर्व में—"अम्बुवदग्रहणात् तु न तथात्वम्" सूत्र का अर्थ—"जिस प्रकार किसी जलाशयगत जल के द्वारा उस के आयत्तीकृत भूमि खण्ड का परिच्छेद होता है, उस प्रकार ब्रह्म प्रदेश का परिच्छेद है, ऐसा कह नहीं सकते। "अम्बुवदग्रहणात्" जिस प्रकार जल द्वारा भूमि खण्ड का परिच्छेद अवलोकन कर रहे हो, उस प्रकार ब्रह्म प्रदेश का ग्रहण सम्भव नहीं है। श्रुति कहती है—"अगृह्यो नहि गृह्यते" ग्रहण के अविषय को कभी भी ग्रहण नहीं किया जाता है। अतएव "न तथात्वम्" ब्रह्म का परिच्छिन्नत्व उपाधि से नहीं हो सकता है। अथवा जल में जिस प्रकार सूर्य्य का प्रतिविम्व—परिच्छिन्न वस्तु होने से होता है, उस प्रकार उपाधि में ब्रह्म का प्रतिविम्व नहीं हो सकता है। ब्रह्म व्यापक है, अतएव "न तथात्वम्" ब्रह्म का प्रतिविम्व नहीं हो सकता है।

द्वितीय "वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" सूत्रार्थ—यदि कहो—"परिच्छेद एवं प्रतिविम्वबाद विधायक शास्त्र की सङ्गति कैसे होगी? कहते हैं—बादद्वय का प्रवर्त्तन मुख्यवृत्ति से ब्रह्म में नहीं होगा, किन्तु "वृद्धिह्रासभाक्त्वम्" वृद्धि ह्रास गुणांश ग्रहण करके ही होता है। जिस प्रकार बृहत् एवं अल्प भूखण्ड एवं सूर्य्य उस का प्रतिविम्व, यह सब वृद्धिह्रासयुक्त है, अर्थात् वृद्धि ह्रासयुक्त है। अर्थात् बृहत् भूखण्ड एवं सूर्य्य का महत्त्व, अल्प भूखण्ड एवं प्रतिविम्व का क्षुद्रत्व, उस प्रकार परमेश्वर एवं

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

तर्हि शास्त्रद्वयं कथं सङ्गच्छते ? तत्राह;—वृद्धीति द्वितीयेन। तद्द्वयं न मुख्यवृत्त्या प्रवर्त्तते, किन्तु वृद्धिह्रासभाक्त्वं गुणांशमादायैव, यथा महदल्पौ भूखण्डौ, यथा च रवितत्प्रतिविम्बौ वृद्धिह्रासभाजौ, तथा परेशजीवौ स्याताम्। कुतः ? अन्तर्भावात्, एतस्मिन्नंशे शास्त्रतात्पर्य्यपूर्त्तेः। एवं सत्युभयोः—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः, सामञ्जस्यात्—सङ्गतेरित्यर्थः। पूर्वन्यायेन परिच्छेदादिवादद्वयस्य खण्डनम्, उत्तरन्यायेन तु गौणवृत्त्या तस्य व्यवस्थापनमिति। "ब्रह्मणः खण्डः प्रतिविम्बो वा जीव एव' इति सूत्रकृतां मतम्, "ईशोऽपि ब्रह्मणः खण्डः प्रतिविम्बो वा" इति मायिनामीशविमुखानां मतमिति बोद्धव्यम् ॥४२॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ननु कथं तदा मिलितजलयोरेकत्वप्रतीतिः ? इत्यत आह—"अन्तर्भावात्" एकस्मिन् जलेऽपरजलस्यान्तर्भावात् विलक्षणसम्बन्धादुभयसामञ्जस्यात् तयोर्भेदस्य तयोरैक्यप्रतीतेश्च, इति द्वयोरुपपत्तिरित्यर्थः। तथा चाभेदप्रतीतिर्न पारमार्थिकी, परिमाणभेदेन द्रव्यभेदस्य सर्वसिद्धत्वात्। एवं जीवात्म-परमात्मनोरपि भेदः पारमार्थिकः, प्रागुक्तविरुद्धधर्म्माध्यासात्। अभेदप्रतीतिस्तु—अन्तर्भावात् उपाधिविगमे विलक्षणसम्बन्धापायात्। तथा च श्रुतिः—"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति" (कठ० ४, १५) इति।

स्कान्दे च—"उदके तूदकं सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत्। न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रदृश्यते ॥
एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना। प्राप्नोति नासौ भवति स्वातन्त्र्यादिविशेषणात् ॥" इति।

तादात्म्यं—मिश्रतां। नासौ भवतीति—न परमात्मा भवति। स्वातन्त्र्यादीति,—आदिना—निर्विकारत्वादिपरिग्रहस्तेन तयोर्मिलने पदार्थान्तरतापत्तिरपीति ॥४२॥

अनुवाद—

जीव—गुणांश के तारतम्य से अर्थात् सर्वज्ञता एवं अल्पज्ञतादि गुण के तारतम्य से वृद्धि ह्रासयुक्त होते रहते हैं। कहाँ ? "अन्तर्भावात्" उस प्रकार तारतम्यांश में ही प्रतिविम्व-परिच्छेदबाद प्रतिपादक शास्त्र का तात्पर्य्य है। "एवं" इस प्रकार अर्थ होने से "उभय सामञ्जस्यात्" दृष्टान्त भूखण्ड सूर्य्यादि एवं दार्ष्टान्तिक ब्रह्म इस की सङ्गति होती है, इस प्रकार पूर्व न्याय 'सूत्र' द्वारा परिच्छेद-प्रतिविम्वबाद का खण्डन एवं उत्तर न्याय से गौणवृत्ति के द्वारा उक्त बादद्वय की व्यवस्था करके समन्वय किया गया है। ब्रह्मसूत्र में कथित सिद्धान्त से जानना होगा की—"जीव ब्रह्म का खण्ड अथवा प्रतिविम्व नहीं है, वह मत वेदव्यास का नहीं है, मायाबादी ईश्वर विमुख व्यक्तियों का कल्पित मत है।

टीकाकार गोस्वामि भट्टाचार्यकृत सूत्रद्वय की व्याख्या—"अम्वुवदग्रहणात्" यह पूर्वपक्षरूप वेदान्त सूत्र है, पूर्वपक्ष इस प्रकार है,—परमात्मा एवं जीवात्म का ऐक्य अर्थात् अभेद भाव ही स्वीकार्य्य है, कारण—सर्वं एकीभवन्ति" "स ऐक्षत बहुस्याम्" श्रुति ही उस का प्रमाण है। ब्रह्म एक है, आकाश जलादि उपाधि भेद से अनेक रूप से प्रकाशित होते है, उस उस उपाधि का नाश होने से पुनर्वार ऐक्य होता है। इस का दृष्टान्त,—"अम्वुवत्" जिस प्रकार किसी स्थान से जल लेकर पुनर्वार उस में रख देने से वह मिल कर एक हो जाता है, इस प्रकार उपाधि का नाश होने से जीवात्मा परमात्मा के सहित अभिन्न हो जाता है।

उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर सूत्रद्वय से देते हैं—"वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" जल से किञ्चित् जल उठा लेने से उद्धृत जल का अवयव विभक्त हो गया, सुतरां "न तथात्वम्" पूर्व जल के सहित ऐक्य नहीं रहा, कारण, जल उठा लेने से पूर्व जल में न्यूनता हुई, उस में जल देने से उस की वृद्धि हुई। सूत्रकार इस को करते हैं, जव वृद्धि ह्रास दृष्ट होता है, तव सम्मिलित उभय जल का भेद पारमार्थिक है, एक प्रकार क्यों दिखता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—अन्तर्भावात् एक जल में अपर जल का अन्तर्भाव होने से ऐक्य प्रतीति होती है, किन्तु पूर्वोक्त विलक्षण सम्बन्ध होने से "उभयसामञ्जस्यात्" उभय पदार्थ की सामञ्जस्य रक्षा के निमित्त दोनों में भेद की प्रतीति होती है। इस प्रकार उभय पदार्थ में आपात दृष्टि

अनुवाद—

से भेदाभेद की प्रतीति होती है, किन्त अभेद भाव—पारमार्थिक नहीं है। कारण परिमाण भेद से द्रव्य भेद सर्वत्र प्रसिद्ध है, अर्थात् जब उद्धृत जलांश से जल की न्यूनता, निक्षिप्त होने से आधारस्थ जल की वृद्धि स्वाभाविक है, सुतरां पूर्वापक्षा परिमाण की वृद्धि होने से वृद्धयंश से उस की भेद प्रतीत क्यों नहीं होगी ? इस प्रकार पूर्वोक्त विरुद्धधर्माध्यास से जीवात्मा परमात्मा में भेद पारमार्थिक ही है। तब जीव जब परमात्मा के सहित मिलित होता है, तब परमात्मा का साक्षात्कार होता है। उस समय मायाकृत स्वरूपास्फूर्ति—अस्वरूपावेश प्रभृति विलक्षण सम्बन्धसमूह विनष्ट होने से परमात्मा के सहित जीव की अभेद प्रतीति होती है, किन्तु वह वास्तविक नहीं है, श्रुति कहती है—"शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति" (कठ० ४, १५) स्कन्दपुराण में उक्त श्रुति का अर्थ परिस्फुट है—

"उदके तूदकं सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत्। न चैतदेव भवति यतो वृद्धिः प्रदृश्यते ॥
एवमेव हि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना। प्राप्नोति नासौ भवति स्वतन्त्र्यादिविशेषणात् ॥"

जल में जल मिश्रित होने से मिश्रित जल पूर्वस्थित जल के सहित अभेद होता है, कारण उस की वृद्धि होती है, इस प्रकार जीव भी साधन से परमात्म तादात्म्य (मिश्रणत्व) प्राप्त करके भी वह परमात्म नहीं होता है, कारण—स्वतन्त्र निर्विकार प्रभृति विशेषण से जीव के सहित उन का भेद स्वाभाविक है, सुतरां जीवात्मा परमात्मा के मिलन से भी जीव को अन्य पदार्थ प्रतिपन्न किया जाता है।

उक्त सूत्रद्वय की व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—"अम्बुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिः। अम्बु-दर्पणादिषु यथा सूर्य्यमुखादयो गृह्यन्ते न तथा पृथिव्यादिषु स्थानेषु परमात्मा गृह्यते। अम्वादिषु हि सूर्योदयो भ्रान्त्या तत्रस्था इव गृह्यते, न परमार्थतस्तत्रस्थाः। इह तु "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" "योऽप्सु तिष्ठन्" "य आत्मनि तिष्ठन् ॥ (बृ० दा० ५।७।३, ४, २२) इत्येवमादिना परमार्थत एव परमात्मा पृथिव्यादिषु स्थितो गृह्यते। अतः सूर्य्यादेरम्बुदर्पणादिप्रयुक्तदोषाननुसङ्गस्तत्र तत्र स्थित्यभावादेव। अतो न तथात्वं—दार्ष्टान्तिकस्य न दृष्टान्ततुल्यत्वमित्यर्थः।"

संशय यह है कि—रवि जल में स्थित न होने से भी भ्रान्त जन उसे जल स्थित मानता है, जलादि का दोष सूर्य्य में नहीं है। किन्तु परमात्मा के सम्बन्ध में वैसी कथा नहीं है। पक्षान्तर में "जो पृथिवी में है, जो जल में है, आत्मा में है, इत्यादि श्रुतिनिचय के द्वारा आत्मा का अवस्थान सर्वत्र सूचित होता है, उस प्रकार सूर्य्य सर्वत्र अवस्थित न होने से जलादिगत दोष उनमें नहीं आता है। अतएव दृष्टान्त के सहित परमात्मा की तुल्यता नहीं हो सकती है।

उक्त द्वितीय सूत्र की व्याख्या—"पृथिव्यादिस्थानान्तर्भावात् स्थानिनः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतो गुणतश्च पृथिव्यादिस्थानगत-वृद्धिह्रासादिदोषभाक्त्वमात्रं सूर्य्यादिदृष्टान्तेन निवर्त्यते। कथमिदमवगम्यते ? उभय-सामञ्जस्यादेवम्—उभयदृष्टान्तसामञ्जस्यादेवमिति निश्चीयते। "आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथक् भवेत्" "जलाधारेष्विवांशुमान्" [याज्ञवल्कच० प्रायश्चित्त० १४४] इति दोषवत्स्वनेकेषु वस्तुषु वस्तुतो-ऽवस्थितस्याकाशस्य, वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतश्चोभयस्य दृष्टान्तस्य उपादानं हि परमात्मनः पृथिव्यादि-गतदोषभाक्त्वनिवर्त्तनमात्रे प्रतिपाद्ये समञ्जसं भवति। घटकरकादिषु यथा वृद्धिह्रासभाक्षु पृथक् पृथक् संयुज्यमानमप्याकाशं वृद्धिह्रासादिदोषै र्न स्पृश्यते; यथा च जलाधारेषु विषमेषु दृश्यमानः अंशुमान् तद्गतवृद्धिह्रासादिभि र्न स्पृश्यते; तथायं परमात्मा पृथिव्यादिषु नानाकारेष्वचेतनेषु चेतनेषु च स्थितस्तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैरसंस्पृष्टः सर्वत्र वर्त्तमानोऽप्येक एवास्पृष्टदोषगन्धः कल्याणगुणाकर एव। एतदुक्तं भवति—यथा जलादिषु वस्तुतोऽवस्थितस्यांशुमतो हेत्वभावाज्जलादिदोषानभिष्वङ्गः, तथा पृथिव्यादिष्ववस्थितस्यापि परमात्मनो दोषप्रत्यनीकाकारतया दोषहेत्वभावान्न सम्बन्धः इति।" (श्रीभाष्यम्)

पूर्वोक्त आशङ्का परिहारार्थ कहते हैं—"ना" इस प्रकार आशङ्का नहीं हो सकती है, कारण परमात्मा

अनुवाद—

पृथिवी के मध्य में अवस्थित होने पर भी पृथिव्यादिगत वृद्धि-ह्रास सम्बन्ध ही उक्त दृष्टान्त के द्वारा निवारित हुआ। आकाशादि-सूर्य्यादि दृष्टान्तद्वय का सामञ्जस्य होने से बोध होता है कि—सूर्य्यादि जिस प्रकार जलादि में न रहकर तद्गत दोष से युक्त नहीं होते हैं, उस प्रकार परमात्मा सर्वत्र अवस्थित होकर भी तद्गत दोष से लिप्त नहीं होते हैं। आकाश जिस प्रकार सर्वत्र युक्त होकर भी तद्गत दोष से दुष्ट नहीं होता है, उस प्रकार आत्मा भी सर्वत्र अवस्थित होकर तद्गत वृद्धि-ह्रास दोष से युक्त नहीं होता है। इस प्रकार परमात्मा का विषयसंस्पर्शजनित दोष निवारणार्थ ही प्रतिविम्व-परिच्छेद दृष्टान्त है, उक्त अंश से ही शास्त्र वाक्य की सामञ्जस्य रक्षा होती है। किन्तु जीवेश्वर की काल्पनिक अविद्या विद्या के सम्बन्धांश के निमित्त उक्त बाद की अवतारणा नहीं हुई है। अन्यथा तत्त्वांश में अनेक दोष उपस्थित होगा।

उल्लिखित प्रथम सूत्र का श्रीगोविन्द भाष्य—"तु अवधारणे षष्ठ्यन्तात् सप्तम्यन्ताद्वा वतिः। अम्वुवद्विप्रकृष्टस्योपाधेरग्रहणान्न तथात्वम्। परमात्मनो विभुत्वेन तद्विदूरपदार्थासिद्धे रुपमेयकोटेरुपमान-कोटितुल्यत्वं नेत्यर्थः। विम्व-विदूरे जलाद्युपाधौ परिच्छिन्नस्य सूर्य्यादेराभासो गृह्यते, नैवं परमात्मनः; तस्यापरिच्छेदात्। अतो न तथात्वमिति वा परमात्मनः प्रतिविम्वो जीवो न भवति। 'अलोहितच्छायम्' इति श्रुतेः। किन्तु तद्वच्चेतन एव सः। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इति श्रुतेः। इत्थञ्चाकाश-दृष्टान्तोऽपि निरस्तः। तद्गतपरिच्छिन्नज्योतिरंशस्यैव तत्तया प्रतीतिरवैदुषी। इतरथा दिगादेरपि तदापत्तिः। न चात्र शब्दोऽपि दृष्टान्तः, वैधर्म्मर्च्यात्। तस्माद्विष्णोः प्रतिविम्वो नेति।"

तु शब्द—अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है, "अम्वुवत्" यहाँ वत् प्रत्यय का प्रयोग षष्ठी अथवा सप्तमी अर्थ में हुआ है, दूरवर्त्ती सूर्य्य एवं उस का आभास का आश्रयभूत जल के सहित परमात्मा एवं उस की उपाधि की समता न होने से जीव को चिदाभास कहा नहीं जा सकता। अविद्या परमात्मा का शक्तिविशेष है। सूर्य्य से जल दूरवर्त्ती है, उस प्रकार परमात्मा से अविद्या दूरवर्त्तिती नहीं है, सुतरां जीव परमात्म का आभास नहीं हो सकता है, परमात्मा—विभु हैं, उन से दूर में कोई वस्तु है, उस की प्रसिद्धि नहीं है। अतएव उपमान उपमेय का परस्पर सादृश्य नहीं होता है, परमात्मा अपरिच्छिन्न हैं, उन का आभास,—सम्भव नहीं है, सुतरां जीव कभी भी परमात्मा का प्रतिविम्व नहीं हो सकता है। श्रुति में उक्त है,—परमात्मा अलोहित एवं अच्छाय है, जिन की छाया नहीं है, उन का प्रतिविम्व असम्भव है। किन्तु जीव परमात्मा के समान ही चेतन वस्तु है। श्रुति कहती है—नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां" इस से आकाश दृष्टान्त निरस्त हुआ। आकाशस्थ परिच्छिन्न ज्योतिष्क पदार्थ का प्रतिविम्व दृष्ट होता है, अज्ञ लोक उसे आकाश का प्रतिविम्व मानते हैं, यदि आकाश का प्रतिविम्व हो, तव तो दिक् काल का भी प्रतिविम्व मानना आवश्यक होगा। अरूप शब्द की प्रतिध्वनि होती है, अतः अरूप ब्रह्म का प्रतिविम्व स्वीकार्य नहीं है, कारण,—परमात्मा एवं शब्द में पारस्परिक वैधर्म्म सुप्रसिद्ध है। प्रतिविम्व साधन में प्रवृत्त होकर प्रतिध्वनि का उदाहरण उपस्थित करने से दृष्टान्त वैषम्य हो जाता है। अतएव परमात्मा श्रीविष्णु का प्रतिविम्व हो नहीं सकता है।

द्वितीय सूत्र का गोविन्द भाष्य—"प्रतिविम्वशास्त्रेण मुख्य वृत्त्या नायं दृष्टान्तः प्रयुज्यते, किन्तु गौण-वृत्त्यैव वृद्धिह्रासभाक्त्वम्। साधर्म्मर्च्यांशमाश्रित्य उपलक्षणमेतत्। कुतः? अन्तर्भावात्। एतस्मिन्नेवांशे शास्त्र-तात्पर्य्यपरिसमाप्तेरित्यर्थः। एवं सत्युभयसामञ्जस्यात्। उपमान उपमेययोः सङ्गतेरित्यर्थः। अयं भाव:—पूर्वसूत्रे प्रतिविम्वभावस्य मुख्यस्य निरासात्, किञ्चित् साधर्म्मर्च्यमादाय प्रकृते तद्भावः प्रकीर्त्यते। तच्चेत्थं बोध्यम्—सूर्य्यो हि वृद्धिभाक् जलाद्युपाधिधर्मैरसम्पृक्तः स्वतन्त्रश्च, तत् प्रतिविम्वाः सूर्य्यकाः तद्ध्रासभाजो जलाद्युपाधिधर्मयोगिनः परतन्त्राश्च भवन्त्येवं परमात्मा विभुः, प्रकृतिधर्मैरसम्पृक्तः स्वतन्त्रश्च, तदंशकजीवास्त्वणवः। प्रकृतिधर्मयोगिनः परतन्त्राश्चेति। तस्मादियमुपमा तद्भिन्नत्व-तदधीनत्व,

तत एवाभेदशास्त्राण्युभयोश्चिद्रूपत्वेन जीवसमूहस्य दुर्घटघटनापटीयस्या स्वाभाविकतदचिन्त्य-शक्त्या स्वभावत एव तद्रश्मिपरमाणुगणस्थानीयत्वात्तद्व्यतिरेकेणाव्यतिरेकेण च विरोधं

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

तत इति—परिच्छेदादिशास्त्रद्वयस्य तत्साहश्यार्थकत्वेन नीतत्वादेव हेतोः "त्वं वा ग्रहमस्मि भगवो देव ! अहं वै त्वमसि तत्त्वमसि" इत्यादीन्यभेदशास्त्राणि तदेतद्व्याससमाधिसिद्धान्तयोजनाय मुहुरप्यग्रे योजनीयानीति सम्बन्धः। केन हेतुना ? इत्याह—उभयोः—ईश-जीवयोश्चिद्रूपत्वेन हेतुना। यथा गौर-श्यामयोस्तरुणकुमारयोर्व्वा विप्रयोर्विप्रत्वेनैकचम्। ततश्च जात्यैवाभेदो, न तु व्यक्त्योरित्यर्थः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तत एव—गौण्या लक्षणया प्रवर्त्तितत्वादेव, अभेदशास्त्राणि—योजनीयानीत्यन्वयः। 'साहश्ये लक्षणा गौणी, इति तां प्रदर्शयति,—उभयोः—ईश-जीवयोः 'चेतनत्वेन' इत्यस्य 'जीवसमूहस्य तदेकत्वेऽपि' इत्यनेनान्वयः। 'चेतनत्वेन' इत्यभेदे तृतीया। तथा च चेतनत्वरूपैकधर्म्मत्वमेव ईश्वरजीवयोरेकत्वमित्यर्थः। यद्यपि तयोर्नैकं चेतनं, ईश्वरस्य नित्यसर्वविषयमेकं चैतन्यं, जीवानाञ्चानित्यमसर्वविषयकं नानाविधं,

अनुवाद—

तत्साहश्यैरेव धर्मैः सिद्धा। न तूपाधिप्रतिफलितरूपाभासत्वेन धर्मेणेति। अतएव 'निरूपाधिप्रतिविम्वो जीवः' इत्याह पैङ्गीश्रुति :—

"सोपाधिरनुपाधिश्च प्रतिविम्वो द्विधेष्यते। जीव ईशस्यानुपाधिरिन्द्रचापो यथा रवेः॥"

सम्प्रति प्रतिविम्व प्रतिपादक शास्त्र सङ्गति को कहते हैं—प्रतिविम्व शास्त्र में मुख्यवृत्ति को मानकर उक्त दृष्टान्त का उत्थापन नहीं हुआ है, उस का प्रयोग,—गौणवृत्ति से हुआ है। पूर्व सूत्र में विम्व-प्रतिविम्व का मुख्य सादृश्य परित्यक्त होने पर भी वृद्धि ह्रासादिरूप साधर्म्मचाश्रय से गौण सादृश्य माना गया है। इस अंश में ही शास्त्र तात्पर्य्य की परिसमाप्ति हुई है। इस से उपमान उपमेय की सङ्गति होती है, सूर्य्य बृहद्वस्तु है, जल प्रभृति उपाधि धर्म में वह संयुक्त नहीं होता है। कारण वह स्वतन्त्र है, किन्तु प्रतिविम्वित वस्तुसमूह क्षुद्रवस्तु हैं, वह जलादि उपाधि धर्म में संयुक्त होता है। वह पराधीन है। इस प्रकार परमात्मा विभु है, प्रकृति धर्म से वह असम्पृक्त एवं स्वतन्त्र है, जीवगण उन के अंश हैं, अणु प्रकृति धर्मयुक्त परतन्त्र हैं, अतः तद्भिन्नत्व, तदधीनत्व, तत्सादृश्य प्रभृति धर्म के द्वारा सादृश्य सिद्ध होता है। अतएव पैङ्गी श्रुति जीव को निरुपाधि प्रतिविम्व कहती है। प्रतिविम्व विध है,—सोपाधि एवं निरुपाधि। इन्द्रधनु—सूर्य्य का निरुपाधि प्रतिविम्व है। उस प्रकार जीव भी ईश्वर का निरुपाधि प्रतिविम्व है, यहाँ जीव,—ईश्वर का प्रतिविम्वस्वरूप अंश है। परमात्मा का अंश भी प्रतिविम्वांशक स्वरूपांशक भेद से द्विविध है। जीव परमात्मा का प्रतिविम्वात्मक अंश है, कारण उस में परमात्मा की स्वल्प साम्यता है। मत्स्य कूर्म वराह में स्वरूपांशक है, यहाँ भगवान् स्वरूप का अधिक साम्य है।

"द्विरूपावंशकौ तस्य परमस्य हरेर्विभोः। प्रतिविम्वांशकश्चाथ स्वरूपांशक एव च॥

प्रतिविम्वांशक जीवाः प्रादुर्भूताः परे स्मृताः। प्रतिविम्वे स्वल्पसाम्य स्वरूपाणीतराणि च॥ (वराहे)

उल्लिखित ब्रह्मसूत्र, भाष्यसमूह, श्रुति पुराणादि की समालोचना से बोध होता है कि—प्रतिविम्व परिच्छेदबादादि जीवेश्वर के तत्त्व प्रतिपादक मूलक नहीं है, किन्तु गौण वृत्ति से सादृश्य बोधक है॥४२॥

अचिन्त्य भेदाभेद। परिच्छेद-प्रतिविम्व प्रतिपादक शास्त्र, गौणी लक्षणा स्वीकार से साहशार्थ में प्रवर्त्तित हुआ है, अतएव जीव ब्रह्म का अभेद उपदेशक शास्त्रसमूह का व्यास समाधिलब्ध सिद्धान्त के सहित योजना करने के अभिप्राय से दर्शाया जायेगा। सम्प्रति साहश्य में गौणी लक्षणा को दिखाते हैं। ईश्वर एवं जीव का 'चेतन' अंश में एकत्व—अभेदत्व है। कारण है—दुर्घटघटनापटीयसी भगवान् की स्वाभाविकी अचिन्त्य शक्ति, जीवसमूह स्वभावतः ही रश्मि एवं परमाणुगण स्थानीय है, अर्थात् रश्मि

परिहृत्याग्रे मुहुरपि तदेतद्व्यासमाधिलब्धसिद्धान्तयोजनाय योचनीयानि ।।४३।।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

तथा जीवसमूहस्य दुर्घटघटनापटीयस्या तदचिन्त्यशक्त्या स्वभावत एव तद्रश्मिपरमाणुगणस्थानीयत्वा-त्तद्व्यतिरेकेण, अव्यतिरेकेण च हेतुना विरोधं परिहृत्येति । परेशस्य खलु स्वरूपानुबन्धिनी पराख्या शक्तिरुष्णतेव रवेरस्ति—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति मन्त्रवर्णात्, "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ताः" इति स्मरणाच्च । सा हि तदितरान्निखिलान्नियमयति । यस्मात् तदन्ये सर्वेऽर्थाः स्व-स्वभावमत्यजन्तो वर्त्तन्ते । प्रकृतिः कालः कर्म्म च स्वान्तःस्थितमपीश्वरं स्प्रष्टुं न शक्नोति, किन्तु

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

तथापि तदुभयोरेकं चैतन्याश्रयत्वमङ्गीकृत्य समाधेयम् । स्वभावत एव कारणं विना नित्यदैव तद्रश्मि-परमाणु-गणस्थानीयत्वात् तस्येश्वरस्य रश्मिपरमाणुगणतुल्यधर्म्मत्वात् रश्मितुल्यता च, प्रकाशमयत्वेन निरवयवस्य ब्रह्मणस्तेजस्वितानुपपत्त्या न वास्तवरश्मिता तेषाम् । ननु निरवयवत्वे ब्रह्मणः कथं जीवाश्रयत्वम् ? इत्यत आह—स्वाभाविकतदचिन्त्यशक्तयेति । तथा च—यथैकस्य सूर्य्यस्य तेजोमयस्य वहिर्निगच्छन्तो रश्मिगणाः सूर्य्यमण्डले पुनः प्रविशन्तोऽपि न दृश्यन्ते, सूर्य्यमण्डलाद्भिन्ना अभेदेनोपचर्य्यन्ते, तथाऽदृष्टादिवशाद् ब्रह्मणः सकाशान्निःसरन्तो देहसङ्गेन संसारिणः कदाचिद्विद्योत्पत्त्या देहसङ्गनिर्म्मुक्ता ब्रह्मणि पुनः प्रविशन्तयो ब्रह्मतो भिन्ना अपि अभेदेनोपचर्य्यन्त इत्यर्थः। ननु ब्रह्मतो यदि जीवा निःसरन्ति,

अनुवाद—

परमाणु तुल्यधर्मक है । सुतरां "व्यतिरेक" एवं "अव्यतिरेक" यह द्वैविध्य भाव ही ब्रह्म के सहित जीव का है, इस प्रकार उक्त अचिन्त्य शक्ति ही जीव ब्रह्म का तादृश भेदाभेद भाव का विरोध परिहार करती रहती है ।।४३।।

सारार्थः—जीवेश्वर के सादृश्य में लक्षणा गौणी,—जीव एवं ईश्वर उभय ही चिद्रूप—चेतन हैं, तज्जन्य अर्थात् जीव एवं ईश्वर के चेतनांश सादृश्य से ही उभय का एकत्व है । यद्यपि उन दोनों का चैतन्य एक प्रकार नहीं है । कारण—ईश्वर का चैतन्य नित्य, सर्वविषय निष्ठ, एक है । जीव का चैतन्य,—नित्य है, किन्तु सर्व विषय निष्ठ नहीं है, एक समय एक वस्तु का तत्त्व ही उस से गृहीत होता है । अथच अनेकविध है, तथापि उभय का चैतन्य धर्म के माध्यम से एकत्व धर्म को ग्रहण कर समाधान करना होगा । जिस प्रकार गौरवर्ण ब्राह्मण कुमार के सहित श्यामवर्ण ब्राह्मण कुमार का जातिगत भेद न होने पर भी व्यक्तिगत भेद है । अतः—ब्रह्म,—बृहत्, सर्वज्ञ, स्वाधीन, एवं अवाध ज्ञान सम्पन्न है । जीव,—अणु, अल्पज्ञ, पराधीन एवं प्रतिहतज्ञानवान् है । इस प्रकार उभय का भेद अनेक अंश में है, किन्तु—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देव ते अहं वै त्वमसि तत्त्वमसि" इत्यादि अभेद-प्रतिपादक शास्त्र समूह का समन्वयार्थ केवल चेतनांश का सादृश्य ब्रह्म के सहित जीव का अभेदत्व को गौण रूप से माना है । "गङ्गा में गोपपल्ली" कहने से गङ्गा प्रवाह में गोपपल्ली का अवस्थान असम्भव है, तज्जन्य गङ्गापद की लक्षणा गङ्गातीर में होती है, उस जीव ब्रह्म में अनेक भेद होने पर भी चेतनांश के सादृश्य से लक्षणा है ।

जीव नित्य ही ब्रह्म के रश्मि-परमाणुगणस्थानीय है, यह उत्पन्नशील नहीं है, स्वाभाविक है, तव संशय हो सकता है कि—मायावादीगण ब्रह्म को निराकार मानते हैं, उन का जीवाश्रयत्व कैसे सम्भव होगा ? कहते हैं—"स्वाभाविकतदचिन्त्यशक्त्या" यह शक्ति परब्रह्म की स्वभावसिद्धा है, यह दुर्घट कार्यकारिणी है, उक्त कार्य का समाधान कैसे होता है, इस को जानने का अधिकार जीव का नहीं है, अतः उसे अचिन्त्य शक्ति कहते हैं । जिस प्रकार सूर्य्य की उष्णता, उस प्रकार ईश्वर की स्वरूपानुबन्धिनी पराख्या शक्ति है । शास्त्र में उक्त है,—"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

ततो विभ्यदेव स्वस्वभावे तिष्ठति। जीवगणश्च तत्सजातीयोऽपि न तेन संपर्चितुं शक्नोति किन्तु तमाश्रयन्नेव वृत्तिं लभते, मुख्यप्राणमिव श्रोत्रादिरिन्द्रियगण इति। तथा च "यद्वृत्तिर्यदधीना स तद्रूपः" इत्यभेदशास्त्रस्यापि भेदशास्त्रेण सार्द्धमविरोधोऽयं श्रीव्याससमाधिलब्धसिद्धान्तसव्यपेक्ष इति। तथा चात्रेश-जीवयोः स्वरूपाभेदो नास्तीति सिद्धम् ।।४३।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तदा किं ब्रह्म परिच्छिन्नम्? इत्यत आह—तद्व्यतिरेकेणेति। यद्यपि तद्व्यतिरेकस्थलमप्रसिद्धं, तथापि जीवानां देहसम्बन्धदशायामपि ब्रह्मसम्बन्धित्वादित्यत्र तात्पर्य्यम्। यद्वा, तस्य—ब्रह्मणः, व्यतिरेकेण—व्यतिरिक्तदेहसम्बन्धकृतभेदेन, अव्यतिरेकेण—देहसम्बन्धाभावे तदैकचप्रायेण, विरोधं परिहृत्य—भेदाभेदबोधकश्रुति-स्मृति-न्यायादिविरोधं परिहृत्येत्यर्थः। तथाच क्वचिच्चेतनत्वेनैकचविवक्षया, क्वचिच्च धर्म्मधर्म्मिणोरभेद-विवक्षयाऽभेदवचनानि व्याख्येयानीति भावः ।।४३।।

अनुवाद—

"विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता" इत्यादि स्थल में पराशक्ति का कीर्त्तन हुआ है।

जीव एवं ब्रह्म उभय ही चित्पदार्थ होने पर भी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से ही जीव ब्रह्म के रश्मि परमाणु स्थानीय है, सुतरां ब्रह्म भिन्न उस की पृथक् सत्ता नहीं है। जैसे एक तेजोमय सूर्य्य से अनन्त रश्मि निर्गत होती रहती हैं, यथासमय प्रविष्ट भी होती हैं, सूर्य्यमण्डल में रश्मिजाल प्रविष्ट होकर पृथक् अनुभूत होकर भी अभेद उपचरित होता है। उस प्रकार अदृष्ट हेतु जीवगण ब्रह्म से निःसृत होकर भी संसारी होते हैं, पश्चात् ज्ञान प्राप्त होने से देह सङ्ग से निर्म्मुक्त होकर पुनर्वार ब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं, उस समय जीव ब्रह्म से भिन्न रूप से प्रतीत होने से भी अभेद रूप से उपचरित होता है।

जीवगण ब्रह्म से निर्गत होते रहते हैं, तब क्या ब्रह्म परिच्छिन्न है? उत्तर में कहते हैं—"तद्व्यतिरेकेणाव्यतिरेकेण च" जीव ब्रह्म से निर्गत होकर तद्व्यतिरिक्त (ब्रह्म व्यतिरिक्त) देह के सहित सम्बन्ध होने से तज्जन्य उस का भेद सुस्पष्ट होता है, अनन्तर ज्ञानोदय से देह सम्बन्ध नाश होता है, तब "अव्यतिरेकेण" ब्रह्म के सहित उसका प्राय ऐक्य बोध होता है, इस प्रकार भेदाभेद बोधक श्रुति स्मृति न्यायादि का विरोध का परिहार दुर्घटघटनाकारिणी पटीयसी माया से ही सम्भव है। वस्तुतः जीव ब्रह्म का भेद स्वाभाविक है, शास्त्र में जो अभेद वर्णित है वह अभेद चेतनांश, एवं धर्म धर्म्मी की अभेद विवक्षा से है।

वेदान्त जगत् में असमोर्द्ध अवदान है—श्रीचैतन्य सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्त्तित "अचिन्त्यभेदाभेदवाद" यह मत स्वकपोल कल्पित नहीं है। अद्वैत गुरु श्रीपाद शङ्कराचार्य ने भी इस को स्वीकार किया है। "चैतन्याश्चावशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्णम्। अतो भेदाभेदागमाभ्यामंशत्वावगमः। कुतश्चांशत्वावगमः? "मन्त्रवर्णाच्च" (ब्र० सूत्र० २, ३, ४४) मन्त्रवर्णश्चेतमर्थमवगमयति—"तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति। अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि निर्दिशति, 'अहिंसन् सर्वभूतान्यत्र तीर्थेभ्यः' इति प्रयोगात्। अंशः पादौ भाग इत्यनर्थान्तरम्। तस्मादप्यंशत्वागमः।।"

चेतनांश में जीव ब्रह्म का वैशिष्ट्य न होने पर भी, जिस प्रकार अग्नि एवं अग्निस्फुलिङ्ग की उष्णतांश में भेद प्रतीत होता है, इस प्रकार भेदाभेद बोध होने से अंश की अवगति होती है। भेद एवं अभेद के द्वारा कैसे जीव का अंशत्व बोध होता है? "मन्त्रवर्णात्" पुरुष सूक्त के "तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः" इत्यादि मन्त्र में "भूत" शब्द के द्वारा स्थावरजङ्गमात्मक जीवसमूह निर्दिष्ट हुए हैं। "अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः" यहाँ भूत शब्द से भी उस का बोध हुआ है। "अंश" "पाद" "भाग" शब्द भी अर्थान्तर का प्रकाशक नहीं है। सुतरां मन्त्र में पाद शब्द का 'अंश' अर्थ मानने से "जीव" ब्रह्म का

तदेवं मायाश्रयत्व-मायामोहितत्वाभ्यां स्थिते द्वयोर्भेदे तद्भजनस्यैवाभिधेयत्वमायातम् ॥४४॥

अतः श्रीभगवत एव सर्वहितोपदेष्टृत्वात्, सर्वदुःखहरत्वात्, रश्मीनां सूर्य्यवत् सर्वेषां परमस्वरूपत्वात्, सर्वाधिकगुणशालित्वात्, परमप्रेमयोगत्वमिति प्रयोजनञ्च स्थापितम् ॥४५

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका ।

तदेवमिति स्फुटार्थम् । तद्भजनस्य—मायानिवारकस्येत्यर्थः ॥४४॥

मायामोह-निवारकत्वाद्यस्य भजनमभिधेयं, स भगवानेव भजतां प्रेमयोग्य इत्यर्थादागतमित्याह ;—अत इति । अतः—मायामोहनिवारकभजनत्वाद्भगवत एव परमप्रेमयोग्यत्वमिति सम्बन्धः । जीवात्मा प्रेमयोग्यः, परमात्मा भगवांस्तु परमप्रेमयोग्य इत्यर्थः । कुतः ? इत्यपेक्षायां हेतुचतुष्टयमाह—सर्वेति ।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

तदेवं निरुक्ततत्प्रकारेण, तयोर्भेदे इति—सिद्धे सतीति शेषः । अभिधेयत्वमिति श्रीभागवते इत्यादिः ॥४४॥

सूर्य्यवत्—सूर्य्यस्येव, सर्वेषां—जीवानां, परमस्वरूपत्वादिति—अत्रैव सूर्य्यदृष्टान्तः, परमत्वात् स्वरूपत्वाच्चेत्यर्थः । परमत्वञ्च—निरतिशयसुखमयत्वं आत्मनः स्वतः प्रेमास्पदत्वं ततोऽप्यधिकप्रेमास्पदत्व-सूचकमिदमिति बोध्यम् । प्रयोजनमिति—भगवत्प्राप्तिरूपमित्यर्थः । चकारात् तत्प्रेमापि तत्प्रयोजनम् । यद्वा ; इति—भगवतः प्रेमयोग्यत्वात् तत्सूचनेन प्रागुक्तं प्रेमाख्यप्रयोजनं सुष्ठुत्वेन स्थापितमित्यर्थः ॥४५॥

अनुवाद—

अंश है, यह स्वाभाविक अनुमेय है । इस प्रकार श्रीभाष्य श्रीगोविन्द भाष्य प्रभृति में भी उक्त मन्त्र का 'पाद' शब्द का "अंश", 'भूत' शब्द का "जीव" अर्थ मानकर ब्रह्म का अंश जीव है, समर्थित हुआ है । एवं उक्त समस्त भाष्य ही "अपि च स्मर्य्यते" इस ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में श्रीमद्भगवद्गीता के "ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातनः" इस भगवद्वाक्य को उल्लेख कर जीव को भगवदंश माना गया है, अतः श्रीगोविन्दभाष्य कहते हैं,—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति भगवता इह सनातनोक्त्या जीवस्योपाधिकत्वं निरस्तम्" तस्मात् तत्सम्बन्धापेक्षी जीव स्तदंश इति ॥"

उल्लिखित श्रीभगवद्गीता के श्रीभगवद् वाक्य में जीवनामधेय वस्तु मेरा अंश है, किन्तु वह सनातन, नित्य है, इस से जीव का औपाधिकत्व निषिद्ध हुआ है । यदि वह उपाधि हो होता, तव श्रीभगवान् 'जीवभूतः सनातनः' नहीं कहते । सुतरां श्रीभगवान् के निकट नित्य ही जीवरूप सम्बन्धमें जीव चिरपरिचित है । जीव ईश्वर का सजातीय होने से भी उन के सहित अभेद सम्पर्क स्थापन में जीव असमर्थ है । केवल श्रोत्र प्रभृति जिस प्रकार मुख्य प्राण को अवलम्बन कर निज निज कार्य में व्यापृत होते हैं, उस प्रकार जीव भी ईश्वर को आश्रय कर निज निज वृत्ति को प्राप्त करता है, सुतरां जीव ईश्वर में स्वरूपगत किसी प्रकार अभेद नहीं है, यह ही श्रीवेदव्यास के समाधि लब्ध सिद्धान्त है ॥४३॥

पूर्वोक्त शास्त्र एवं श्रीव्यास समाधि के अनुसार ईश्वर—माया का आश्रय है, जीव—माया द्वारा मोहित है । एतदुभय विपरीत धर्म हेतु जीव ईश्वर में नित्य भेद विद्यमान होने से ही परमेश्वर का भजन ही माया निवारक है । सुतरां श्रीभागवत में श्रीभगवद् भजन की अभिधेयता सुसिद्ध है ॥४४॥

इतःप्राक् श्रीभगवद् भजन,—मायामोहनिवारक है, अतः यह अभिधेय नाम से स्थापित हुआ है । उक्त श्रीभगवान् ही भक्त का प्रेमपात्र है, इस का बोध स्पष्टत ही होता है, कहते हैं—भगवद्भजन मायामोह निवारक है, अतएव आप परम प्रेमयोग्य हैं, कारण—श्रीभगवान् सव के परम हितोपदेष्टा, सर्वदुःखहरण कर्त्ता, जिस प्रकार सूर्य्य उस की किरणावली का परम स्वरूप हैं, उस प्रकार भगवान् समस्त जीवों का परम स्वरूप हैं । एवं श्रीभगवान् ही समस्त जीवों से अधिक गुणशाली हैं । इस प्रकार परमानन्दमय भगवान् श्रीकृष्ण ही परम प्रेम पात्र निर्णीत होने से उन के प्रेम को ही सुदृढ़ता के सहित प्रयोजन रूप से स्थापन क्रिया गया है ॥४५॥

तत्राभिधेयञ्च तादृशत्वेन दृष्टवानपि, यतस्तत्प्रवृत्त्यर्थं श्रीभागवताख्यामिमां सात्वतसंहितां प्रवर्त्तितवानित्याह,—अनर्थेति। भक्तियोगः—श्रवणकीर्त्तनादिलक्षणः साधनभक्तिः; न तु

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

रश्मीनामित्यादि—सूर्य्यो यथा रश्मीनां स्वरूपं न, किन्तु परमस्वरूपमेव भवति एवं जीवानां भगवान्—इति स्वरूपैक्यं निरस्तम्। अन्तर्यामिब्राह्मणात् सौवालब्राह्मणाच्च 'जीवात्मानः परात्मनः शरीराणि भवन्ति, स तु तेषां शरीरी' इति भेदः प्रस्फुटो ज्ञातः। अतः सर्वाधिकेति ॥४५॥

तत्राभीति, तादृशत्वेन मायानिवारकत्वेन। दृष्टवानपि श्रीव्यासः। अनुष्ठानं—कृतिसाध्यम्। तत्प्रसादेति

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

तत्र—समाधौ, अभिधेयं—भक्तियोगं, तादृशत्वेन—परमप्रेमास्पदभगवत्प्राप्तिहेतुत्व-पुरस्कारेण। यतस्तत्प्रवृत्त्यर्थं—भजनरूपाभिधेयप्रवृत्त्यर्थं प्रवर्त्तितवान्, अतो दृष्टवानपीत्यर्थः। श्लोकस्य 'चक्रे' इत्यस्य विवरणं—प्रवर्त्तितवानिति। आहेति—सूत इति शेषः। अनुष्ठानं—साधनक्रिया, तत्प्रसादसापेक्षं—

अनुवाद—

सारार्थः—"परमस्वरूपत्वात्" तात्पर्य्य यह है कि—सूर्य्य रश्मिस्वरूप नहीं है, कारण,—रश्मि की अपेक्षा सूर्य्य में अनेकांश में पार्थक्य है। सुतरां सूर्य्य रश्मि का परम स्वरूप है, उस प्रकार श्रीभगवान् जीवों के परम स्वरूप हैं। किन्तु स्वरूप नहीं है। इससे जीव ईश्वर उभय स्वरूप का ऐक्य निरस्त हुआ।

यहाँ प्रेम शब्द के पूर्व में ग्रन्थकार परम शब्द का उपन्यास किए हैं। उस से श्रीभगवान् का निरतिशय सुखमयत्व सूचित हुआ है, अर्थात् आत्मा स्वत ही प्रेमास्पद है, और परमात्मा, तदपेक्षा भी अधिक प्रेमास्पद है। अतः तदपेक्षा परमात्मा का अधिक प्रेमास्पदत्व सूचित हुआ है। इस सन्दर्भ में श्रीशुकदेव का कथन इस प्रकार है,—

"तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामेव देहिनाम्। तदर्थमेव सकलं जगच्चैतत् चराचरम् ॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्। जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥"
(भा० १०, १४, ४४, ४५)

महाराज! देह जीर्ण हो गया है, तथापि जीवित रहने की जो इच्छा होती है, इस का कारण—प्रत्येक जीव का निज निज आत्मा ही प्रियतम है, शरीर प्रियतम नहीं है, उस आत्म प्रीति के आनुकूल्य से देह, पुत्र, कलत्र, गृह, वसन-भूषण प्रभृति प्रिय होते हैं, किन्तु परीक्षित्! श्रीयशोदानन्दन श्रीकृष्ण को तुम परमप्रेमास्पद जानना, आत्माराम एवं उन के प्रियजनवर्ग का भी आत्माधिक निरुपाधि परमप्रेमास्पद श्रीकृष्ण ही हैं। अतः व्रजवासिगण,—निज निज पुत्र की अपेक्षा भी श्रीकृष्ण को प्रीति करते हैं। गोवत्स हरण लीला इस का प्रकृष्ट दृष्टान्त है, आज उन श्रीकृष्ण सर्वात्म परमस्वरूप होकर भी निज परम कारुणिकत्व प्रभृति गुणों का परिचय प्रदान हेतु देही के समान प्रतीयमान हो रहे हैं।

श्रीभगवदवतार असंख्य विद्यमान होने पर भी श्रीकृष्ण को ही परम प्रेमास्पद करने का उद्देश्य है—श्रीनारायणादि जितनी श्रीमूर्त्ति हैं, सब ही श्रीकृष्ण के ही अंश कलादि रूप में हैं। श्रीकृष्ण ही सर्वावतारी मूल स्वरूप हैं। आनन्द खनि ह्लादिनी शक्ति का आप ही परमाश्रय हैं, सुतरां उन में ही आनन्दातिशय्य का चमत्कारित्व विशेष रूप से प्रकाशित है, तज्जन्य निखिलकलाविदग्ध कोटिकन्दर्प—लावण्यमय साक्षात् मन्मथ—मन्मथ श्रीकृष्ण निज प्रियभक्तगण के समुज्ज्वल उज्ज्वल प्रेमवासित अन्तःकरण में क्षीर में सितोपला के समान परम प्रेमास्पद स्वभाव से निज अनिर्वचनीय माधुरी के द्वारा अधिक रूप से प्रकाशित होते हैं। एतज्जन्य ही इस स्थान में ग्रन्थकार—"श्रीभगवत एव...... परमप्रेमयोग्यत्वमिति प्रयोजनञ्च स्थापितम्" इस वाक्य के द्वारा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण प्राप्ति ही प्रयोजन है, यह निर्णय किए हैं, एवं "च" कार को उल्लेख करके प्रेम को भी प्रयोजन रूप से निर्देश किये हैं ॥४५॥

साधनभक्ति की प्रयोजनीयता। महर्षि श्रीवेदव्यास, समाधि अवस्था में भक्तियोग को माया

प्रेमलक्षणः। अनुष्ठानं ह्युपदेशापेक्षं, प्रेम तु तत्प्रसादापेक्षमिति तथापि तस्य तत्प्रसाद-हेतोस्तत्प्रेमफलगर्भत्वात् साक्षादेवानर्थोपशमनत्वं, न त्वन्यसापेक्षत्वेन, "यत् कर्म्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्" इत्यादौ, (भा० ११, २०, ३२)

"सर्व्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गम्" (भा० ११, २०, ३३) इत्यादेः ज्ञानादेस्तु **भक्तिसापेक्षत्वमेव,** "श्रेयःसृतिं भक्तिम्" (भा० १०, १४, ४) **इत्यादेः। अथवा; अनर्थस्य—संसारव्यसनस्य तावत् साक्षात् अव्यवधानेनोपशमनं, सम्मोहादिद्वयस्य तु प्रेमाख्यस्वीयफल-द्वारेत्यर्थः। अतः पूर्ववदेवात्राभिधेयं दर्शितम् ॥४६॥**

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

भगवदनुग्रहेत्यर्थः। तस्य—श्रवणादिलक्षणस्य। अन्यसापेक्षत्वेन—कर्म्मादिपरिकरत्वेन। ज्ञानादेस्त्विति—ज्ञानमत्र "यस्य ब्रह्म" इत्युक्तब्रह्मविषयकम्। सम्मोहादीत्यादिपदादात्मनो जड़देहादिरूपतामननं ग्राह्यम्। अत इति। अत्र—अनर्थेति वाक्ये ॥४६॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

साधनाधीनभगवदनुग्रहसापेक्षम्। ननु साधनभक्तेर्न साक्षादनर्थोपशमनत्वम्, इति कथं 'अनर्थोपशमं' इत्युक्तम्? इत्यत आह,—तथापीति,—भजनस्य भगवत्प्रसादव्यवधानेनानर्थोपशमत्वेऽपि। तस्य—भजनस्य, तत्प्रसादहेतोः—भगवत्प्रसादहेतोः, प्रेमफलगर्भत्वात्—प्रेमफलतात्पर्य्यकत्वात्; तथा च

अनुवाद—

निवारक एवं परमप्रेमास्पद भगवत्प्राप्ति के हेतुरूपसे देखे थे। कारण जीवगण की भगवद्भजनरूप अभिधेय में प्रवृत्ति उत्पन्न कराने के निमित्त श्रीमद् भागवताख्य सात्त्वतसंहिता का प्रचार किये थे। "अनर्थोपशमं" श्लोक से श्रीसूत महाशय ने कहा है। उक्त श्लोक में जो "भक्तियोग" शब्द है, उक्त भक्ति शब्द से श्रवण कीर्त्तनादि लक्षण साधन-भक्ति को जानना होगा, प्रेमभक्ति नहीं। कारण—अनुष्ठान साधन क्रिया में उपदेश की अपेक्षा है, शास्त्र एवं सद्गुरु के उपदेश व्यतीत जीव की प्रवृत्ति साधन में नहीं होती है। किन्तु प्रेम—साधनाधीन, भगवत्-अनुग्रहापेक्षी, अर्थात् श्रवण-कीर्त्तनादिरूप साधन-भक्ति द्वारा श्रीभगवान् प्रसन्न होकर भक्त को प्रेम प्रदान करते हैं। इस से भक्ति का साक्षात् अनर्थोपशमकत्व नहीं है, इस प्रकार सन्देह नहीं हो सकता है। भक्ति,—भगवदनुग्रह के माध्यम से अनर्थ अविद्या की निवृत्ति करती है, किन्तु भक्ति ही भगवत् प्रसन्नता का कारण है, एवं भगवत् प्रेममय फल में ही उस का तात्पर्य्य है, अर्थात् प्रेमोत्पन्न करना ही भक्ति का कार्य है, सुतरां साक्षात् रूपसे ही भक्ति माया निवर्त्तक है, कर्मादि की अपेक्षा इसमें नहीं है। श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे,—"यज्ञ, कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म, अथवा अन्यान्य तीर्थयात्रा एवं व्रतादि के द्वारा जो कुछ लाभ होता है, एवं स्वर्ग, मुक्ति, वैकुण्ठ धाम प्रभृति जो कुछ भी है, उस में यदि भक्त की इच्छा होती है, तो भक्त उसे प्राप्त कर सकता है। भक्तियोग स्वरूपावबोधक ज्ञान एवं काम्यकर्म की अपेक्षा नहीं रखता है, ज्ञानादि निज फललाभ के निमित्त भक्ति की अपेक्षा करते हैं। श्रीब्रह्मा ने कहा है,—जो जन ज्ञानकर्मादिलभ्य फल का प्रापक भक्ति को छोड़कर केवल ब्रह्म विषयक शुष्क ज्ञानलाभ के निमित्त परिश्रम करता है, वह स्थूल तुषावघाती के समान केवल क्लेश लाभ ही करता है, साक्षात् साधन सहायक की अपेक्षा नहीं करता है, यदि करता तो उसे साधन कहा नहीं जा सकता, इस सन्देह को दूर करने के निमित्त पक्षान्तर के द्वारा कहते हैं। भक्ति संसार दुःख की निवृत्ति करती है, उस में किसी का माध्यम नहीं है, साक्षात् रूप से ही वह अनर्थोपशम करती है, अर्थात् प्रेम नामक स्वीय भक्ति फल के द्वारा जीव का मोह देहाभिमान विनष्ट कर देती है। अतएव "अनर्थोपशमं" इस वाक्य से पूर्ववत् अभिधेय का प्रदर्शन हुआ है ॥४६॥

अथ पूर्व्ववदेव प्रयोजनञ्च स्पष्टयितुं, पूर्वोक्तस्य पूर्णपुरुषस्य च श्रीकृष्णस्वरूपत्वं व्यञ्जयितुं, ग्रन्थफलनिर्द्देशद्वारा तत्र तदनुभवान्तरं प्रतिपादयन्नाह,—यस्यामिति। भक्तिः—प्रेमा, श्रवणरूपया साधनभक्त्या साध्यत्वात्। उत्पद्यते—आविर्भवति। तस्यानुषङ्गिकं गुणमाह शोकेति, अत्रैषां संस्कारोऽपि नश्यतीति भावः।

श्रीमद्‍बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अथेति ;—प्रयोजनं भगवत्प्रेमलक्षणम्। तत्रेति,—तत्र समाधौ श्रीव्यासस्यान्यमनुभवमित्यर्थः। आविर्भवतीति—प्रेम्नः परासारांशत्वेनोत्पत्त्यसम्भवादित्यर्थः। तस्येति—प्रेम्नः। अत्र—प्रम्नि सति।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिरिति भावः। अनर्थोपशमत्वं मायोपशमत्वम्। स तु—प्रसादलभ्यप्रेमा। अस्य—भजनस्य सापेक्षत्वेनेति। तथाच भजनं विना नानर्थशमनं, प्रसादः प्रेमा च द्वारमेवेति भावः। प्रेमा च स्वतःसिद्ध एव, साध्यता च तस्य प्राकट्यमात्रम्—इति निरपेक्षकत्वकथनं तस्येति। तत्र हेतुमाह—'यत् कर्म्मभिः' इत्यादि। तथा च—"सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा" इत्यनेन भक्तेर्ज्ञानादि-निरपेक्षेण सर्वफलजनकत्वोक्त्याऽनर्थोपशमनत्वमिति भावः। 'ज्ञानादिकं भक्तिं विना निरर्थकम् इति नारदः' इत्याह—ज्ञानादेस्त्विति। ननु 'साक्षात्साधनत्वं द्वारानपेक्षम्—इति सिद्धान्तः इत्यत आह,—अथवेति, मोहादिद्वयस्य तु—इत्यस्य 'उपशमम्' इत्यनुषङ्गेणान्वयात् 'तु'कारेण साक्षाद्व्यवच्छेदः, 'मोहादि' इति 'आदि' पदेन देहाभिमानपरिग्रहः॥४६॥

प्रीतिः प्रेमा, श्रीकृष्णविशेषणपरमपुरुषपदस्य पूर्वोक्तपूर्णपुरुषपरत्वं वर्णनीयत्वेन समाधिलब्धपूर्ण-पुरुषोपक्रमेण व्यक्तीकृतग्रन्थस्याभिधेयभजनसम्बन्धित्वेन श्रीकृष्णस्य कथनात् सुखगम्यमेवेति। ननु

अनुवाद—

सारार्थः—"न त्वन्यसापेक्षत्वेन" इस प्रकार पाठ स्थल में "स त्वस्य सापेक्षत्वेन" पाठ है। इस पाठ का अर्थ इस प्रकार है,—भक्ति साक्षात् रूप से ही अनर्थ नाश करती है, कारण—भक्ति भगवत् प्रसाद हेतु है, एवं प्रेम फलोत्पादन में ही उस का तात्पर्य्य है, अर्थात् भक्ति भगवत् प्रसाद को सञ्चारित करती है, उस से भगवत् प्रेमफल लाभ होता है। प्रेम होने से ही अनादि कालज मायाकृत दुःख से जीव परित्राण प्राप्त करता है, किन्तु भगवत् प्रसाद लभ्य प्रेम, भक्ति की अपेक्षा से ही अनर्थ निवृत्ति करती है। अर्थात् भजन व्यतीत अनर्थ निवृत्ति नहीं होती है। भगवत् प्रसाद एवं प्रेम द्वार मात्र है, प्रेम—साधन भक्ति का साध्य होने से भी साधन-भक्ति वासित निर्म्मल अन्तःकरण में प्रेम सूर्य्य का प्राकट्य होता है। इस प्राकट्यांश में ही साध्यता है, वास्तविक प्रेम स्वतःसिद्ध है। "नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदिसाध्यता" (रसामृत पू० २।२) इस से प्रेम को निरपेक्ष कहा गया है। श्रीमद्भागवतीय "यत्कर्मभिः" श्लोक के द्वारा ग्रन्थकार हेतु निर्देश किये हैं, "सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तोलभतेऽञ्जसा" इस वाक्य से स्वरूपावबोध रूप ज्ञानादि की अपेक्षा न करके ही सर्वफल प्रदान करती है, माया निवर्त्तन भी हो जाता है। भक्ति व्यतीत ज्ञानयोग निरर्थक है, सुतरां केवल ज्ञानादि का आदर नहीं है, इस का प्रकाश "श्रेयः सृतिं" भागवतीय पद्योल्लेख से ग्रन्थकार ने किया है। अतः "ज्ञानादेस्तु" कहा गया है॥४६॥

अनन्तर पूर्वोक्त "अनर्थोपशमं" इत्यादि श्लोक के समान प्रयोजन तत्त्व श्रीभगवत् प्रेम को समझाने के निमित्त एवं पूर्वोक्त "अपश्यत् पुरुषंपूर्णं" यह पूर्ण पुरुष ही श्रीकृष्ण है, इस को प्रकाश करने के उद्देश्य से श्रीमद् भागवत ग्रन्थ का फल निर्देश के द्वारा समाधि में श्रीव्यासदेव का अन्य एक अनुभव को प्रतिपन्न करने के निमित्त श्रीसूतदेव कहते हैं। "यस्यां वै श्रूयमाणायां" इत्यादि। उक्त श्लोक में "भक्ति" शब्द से "प्रेम" को जानना होगा। कारण—श्रीमद् भागवत श्रवणरूप साधन से 'भक्ति' उत्पन्न होती है, अर्थात्

"प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्" इति (भा० ५,५,६) श्रीऋषभदेववाक्यात्। **परमपुरुषे पूर्वोक्तपूर्णपुरुषे। किमाकारे? इत्यपेक्षायामाह, कृष्णे—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यादि शास्त्रसहस्रभावितान्तःकरणानां परम्परया तत्प्रसिद्धिमध्यपातिनाञ्चासंख्यलोकानां तन्नामश्रवणमात्रेण यः प्रथमप्रतीतिविषयः स्यात्, तथा तन्नाम्नः प्रथमाक्षरमात्रं मन्त्राय कल्पयमानं यस्याभिमुख्याय स्यात्—तदाकारे इत्यर्थः। आहुश्च नामकौमुदीकाराः;—**

"कृष्णशब्दस्य तमालश्यामलत्विषि यशोदायाः स्तनन्धये परब्रह्मणि रूढ़िः" इति ॥४७॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

"कृष्णस्तु भगवान्" इति—श्रीसूतादीनां श्रीजयदेवादीनाञ्चासंख्यलोकानामित्यर्थः। 'तन्नाम' इति, 'तन्नाम्नः' इति चोभयत्र कृष्णेति नाम बोध्यम्। रूढ़िरिति,—प्रकृतिप्रत्ययसम्बन्धं विनैव यशोदासुते प्रसिद्धिर्मण्डपशब्दस्येव गृहविशेषे इत्यर्थः ॥४७॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

कृष्णपदार्थ एव कः? इत्याकाङ्क्षायामाह,—कृष्णस्त्वित्यादि, यन्नाममात्रेणेत्यर्थः। प्रथमप्रतीतिविषयः स्यादिति—औत्सर्गिकप्रतीतिविषयो भवतीत्यर्थः। आभिमुख्याय—आभिमुखीकरणाय। तदाकार इति—स आकारः—स्वाभाविकशरीरविशेषविशिष्ट-ब्रह्मकृष्णपदार्थ इत्यर्थः। यशोदा-स्तनन्धये—यशोदास्तन-पानकर्त्तरि, रूढ़िः—मुख्यावृत्तिः प्रसिद्धा, वृष्णिवंशावतीर्णमुपक्रम्य "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्युक्तत्वाद् वासुदेवेति नामान्तरमस्यैवेति भावः। यशोदास्तनन्धय इति—शरीरपरिचयाय, न तु तद्घटितं कृष्णपद-प्रवृत्तिनिमित्तं, किशोरमूर्त्तौ यशोदा-स्तनपानाभावात् यशोदाविशेषेणापरिचयाच्च। स्वयं भगवता कृष्णेन

अनुवाद—

"श्रूयमाण" पद से लक्षित श्रवणात्मिका साधन-भक्ति, उस से सञ्जात "भक्ति" शब्द से प्रेम व्यतीत क्या कहा जा सकता है? "उत्पद्यते" इस क्रिया का अर्थ आविर्भाव है, कारण, प्रेम नित्यसिद्ध है, उस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। "शोकमोहभयापहा" इस विशेषण से प्रेम का आनुसङ्गिक गुण कहा गया है। प्रेम के द्वारा केवल शोक मोह भय नाश ही नहीं होता है, इस का संस्कार 'वीज' पर्य्यन्त नष्ट होता है। कारण—श्रीऋषभदेव के वाक्य से वह प्रमाणित होता है, जब तक मुझ वासुदेव में जीव की प्रीति नहीं होती है, तावत् पर्य्यन्त पुनः पुनः स्थूल देह प्राप्ति का वीज स्वरूप लिङ्ग शरीर रह ही जाता है। सुतरां प्रेम लाभ होने से शोक मोह भय समूह का वीजरूप लिङ्ग शरीर नहीं रहता है। यहाँ का "परमपुरुष" शब्द पूर्वोक्त परमपुरुष का ही वाचक है। यह परमपुरुष कैसा है? कहते हैं,—"कृष्णे" अर्थात् "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यादि रूप सहस्र सहस्र शास्त्रानुशीलन से भावित चित्त श्रीसूत प्रभृति महात्मागण एवं परम्परारूप से प्रसिद्ध असंख्य महानुभव जनगण का श्रीकृष्णनाम श्रवण से जिन की प्रथम प्रतीति होती है, एवं उक्त "कृष्ण" नामाक्षर मन्त्र में प्रयुक्त होता है, उक्त अक्षर ही आभिमुख्य करने के निमित्त, अर्थात् भक्त—कृष्ण नाम का प्रथम जप करते रहने से कौन मुझ को आह्वान करता है, इस प्रकार मानकर भक्त के अभिमुखीन होते हैं। इस प्रकार स्वभाविक शरीर विशेषवान् परब्रह्म स्वरूप कृष्ण में, इस सम्बन्ध में नाम कौमुदीकार कहते हैं—तमालतरु सदृश श्यामलकान्ति श्रीयशोदास्तनदानकर्त्ता नराकृति परब्रह्म ही श्रीकृष्ण शब्द का वाच्य है ॥४७॥

सारार्थः—संस्कार—वीज, अर्थात् जिस से पुनर्वार शोक-मोह-भयादि की उत्पत्ति होती है। भक्ति शोकादि नाश करके निवृत्त नहीं होती है, संस्कार पर्य्यन्त नष्ट कर देती है, जिस से पुनर्वार शोकादि का उद्गम नहीं होता है, भक्तिरसामृतसिन्धु में उक्त है,—

"क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा। सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥
क्लेशास्तु पापं तद्वीजमविद्या चेति तत्त्रिधा। अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धञ्चेति तत्त्रिधा॥"

अथ तस्यैव प्रयोजनस्य ब्रह्मानन्दानुभवादपि परमत्वमनुभूतवान् । यतस्तादृशं शुकमपि तदानन्दवैशिष्ट्यलम्भनाय तामध्यापयामासेत्याह,—स संहितामिति । कृत्वानुक्रम्य चेति—

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका ।

अथेति ;—ब्रह्मानन्दात्—यस्य ब्रह्मे त्युक्तवस्तुसुखादपि । परमत्वं—उत्कृष्टत्वमनुभूतवान् श्रीव्यासः । तादृशं—तदानन्दानुभविनमपि । तदानन्देति—कृष्णप्रेमानन्दप्रापणायेत्यर्थः । अत एवेति । यदत्रेति ;

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

यस्याः स्तनपानं कृतं, तत्त्वेनोक्तौ परस्पराश्रयात् । न च यशोदाख्यत्वेनैव यशोदानिवेश इदानीन्तनयशोदा-तनयवारणाय नवतमालेति विशेषणमिति वाच्यम्, कृष्णपदेन यशोदास्तनपातृत्वेनानुपस्थितेः, 'पपौ यस्याः स्तनंहरिः' इत्यादौ कृष्णपर्य्यायहरिपदेन तथोपस्थितौ 'पपौ यस्याः स्तनम्' इत्यनेन पौनरुक्त्यापत्तेः, "कृषिर्भुवाचकं शब्दो णश्च निर्वृ तिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म भुवि जातं न संशयः" इत्यादि शास्त्र-लिङ्गव्युत्पत्त्या विरोधापत्तेश्चेति बोध्यम् ॥४७॥

अनुवाद—

भक्ति,—जीव के क्लेश समूह को नष्ट कर देती है, शुभ फलदान करती है, मोक्ष वासना का क्षय कर देती है । भक्ति निविड़ आनन्दमय स्वरूप में भक्त हृदय में उदित होकर कृष्ण साक्षात्कार करा देती है । उक्त क्लेश—पाप, पाप का बीज एवं अविद्या भेद से तीन प्रकार है, पाप भी प्रारब्ध अप्रारब्ध भेद से दो प्रकार है, जिस का भोग हो रहा है, वह पाप प्रारब्ध है, जिस का भोग काल आरम्भ नहीं हुआ है, अथच फल प्रदान के हेतु उन्मुख है, उसे अप्रारब्ध कहते हैं । तीन प्रकार भेद करने का तात्पर्य्य—अविद्या मूल कारण है, उस से अहङ्कार, बीज—संस्कार होता है, उस से पाप की उत्पत्ति होती है । श्रीभगवद्भक्ति उस समस्त को विनष्ट करती है ।

रूढ़ि :—प्रकृति—प्रत्ययार्थमनपेक्ष्य शाब्दबोधजनकः शब्दः—रूढ़ः, रूढ़शब्दनिष्ठशक्तिः—रूढ़िः । 'लब्धात्मिका सती रूढ़िर्भवेद्योगापहारिणी। कल्पनीया तु लभते नात्मानं योगबाधतः॥'(कुमारिलभट्टकारिका)

प्रकृति प्रत्ययगत अर्थ की अपेक्षा न करके शब्द बोध का जनक जो शब्दशक्ति, उसे रूढ़ि कहते हैं, अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय व्यतीत स्वीय आकृति नहीं होती है, अथच प्रकृति-प्रत्ययार्थ का आदर न करके स्वयं स्वतन्त्र अर्थ का प्रकाश करता है । दृष्टान्त—"मण्डपादि" इस वाक्य में 'मण्डपा' प्रकृति के उत्तर 'ड' प्रत्यय से "मण्डप" शब्द निष्पन्न हुआ । इस का प्रकृति-प्रत्ययगत अर्थ मण्ड—माड़ पानकारी, किन्तु उस प्रकार अर्थ न होकर गृह विशेष का बोध हुआ । इस ज्ञान का कारण,—रूढ़ि नाम्नी शब्दशक्ति है । इस को "मुख्या" शक्ति कहते हैं । इस की बाधा कभी भी नहीं होती है । प्रस्तुत स्थल में कृष्ण शब्द, 'कृष्' धातु के उत्तर 'ण' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न होने पर भी उस अर्थ का प्रकाश न करके श्रीयशोदा तनय में ही कृष्ण शब्द की मुख्यावृत्ति प्रदर्शित हुई है । शब्दोच्चारण मात्र से ही जिस वस्तु का बोध होता है, जानना होगा कि उस में उस शब्द की मुख्यावृत्ति है । कृष्ण शब्दोच्चारण से आबाल-वृद्ध-वनिता का बोध होता है,—तमालश्यामल कान्ति ललित त्रिभङ्ग द्विभुज श्रीयशोदानन्दन । सुतरां विद्वदनुभव अथवा साक्षादनुभव के निकट बहुल प्रमाण उत्थापन करना पिष्टपेषणमात्र है ।

अत्र "यशोदायाः स्तनन्धयः" शब्द के द्वारा श्रीकृष्ण शरीर का परिचय दिया गया है, अर्थात् देवकी नन्दन भी द्विभुज तमालश्यामल कान्ति से ही प्राय मथुरा द्वारकादिमें निवास करते हैं । सुतरां उनसे पृथक् रूप से परिचय प्रदान हेतु "यशोदास्तनन्धय" दिया गया है । किन्तु कृष्ण शब्द के प्रवृत्ति निमित्त से नहीं, कारण श्रीकृष्ण की किशोरमूर्त्ति में श्रीयशोदा का स्तनपान का अवसर नहीं है । (भट्टाचार्य टीका) ॥४७॥

निर्विशेष ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की श्रेष्ठता—अनन्तर श्रीवेदव्यास उस प्रयोजनात्मक प्रेम को निर्विशेष ब्रह्मानन्दानुभव की अपेक्षा भी उत्कृष्ट माने थे, एवं उक्त निर्णय से ही ब्रह्मानुभवी श्रीशुकदेव को

प्रथमतः स्वयं संक्षेपेण कृत्वा, पश्चात्तु श्रीनारदोपदेशादनुक्रमेण विवृत्येत्यर्थः। अतएव श्रीमद्भागवतं भारतानन्तरं यदत्र श्रूयते, यच्चान्यत्राष्टादशपुराणानन्तरं भारतमिति, तद्द्वयमपि समाहितं स्यात्। ब्रह्मानन्दानुभवनिमग्नत्वात् निवृत्तिनिरतं—सर्वतो निवृत्तौ निरतं, तत्राव्यभिचारिणमपीत्यर्थः ॥४८॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

अत्र—श्रीभागवते। अन्यत्र मात्स्यादौ ;—

"अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। चक्रे भारतमाख्यानं वेदार्थैरुपबृंहितम्"—

इत्यनेनेत्यर्थः। अत्रेति—निवृत्तावित्यर्थः ॥४८॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अनुभूतवानिति—सूत इति शेषः। तादृशं—ब्रह्मानन्दानुभवशालिनम्। अतएवेति—आदौ संक्षेपेण कृतस्य भागवतस्यानन्तरं विवृत्य कृतत्वादेव। अत्र—श्रीभागवते, अन्यत्र,—"अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः। भारताख्यानमखिलं चक्रे वेदोपबृंहितम्" इति वचने। समाहितम्—अविरुद्धं, तथाच—

अनुवाद—

भी इस प्रकार कृष्ण प्रेमानन्दास्वादन कराने के निमित्त श्रीमद् भागवत संहिता का अध्ययन कराये थे। श्रीसूत ने इस विषय को ही "संहिता" इस श्लोक से वर्णन किया है। श्रीव्यासदेव प्रथम संक्षेप से श्रीमद् भागवत का प्रकाश किए। भारत प्रणयन के पश्चात् देवर्षि नारद के उपदेश से विषयानुक्रम से उस का विस्तार किए थे। इस प्रकार अर्थ करने से श्रीमद् भागवत में वर्णित—भारत के बाद श्रीमद् भागवत, एवं मत्स्य पुराणोक्त अष्टादशपुराण वर्णन के पश्चात् भारत का वर्णन, उभय वाक्य का समाधान होता है। श्रीशुकदेव ब्रह्मानन्द में निमग्न रहते थे, तदितर निखिल विषयों से निवृत्त थे। अर्थात् निवृत्ति मार्ग में इस प्रकार परिनिष्ठित थे कि—कभी भी ब्रह्मेतर वस्तु में आसक्ति उन की नहीं होती थी ॥४८॥

श्रीमद् भागवत आविर्भाव का समय—मत्स्यपुराण के वर्णनानुसार श्रीमद्भागवत का आविर्भाव प्रसङ्ग में विरोध उपस्थित होता है। श्रीमद् भागवतस्थ व्यास चित्त की अप्रसन्नता का कारण निर्देशक "भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थः प्रदर्शितः" इस वाक्य से बोध होता है कि—भारत प्रणयन के पश्चात् भी व्यास को शान्ति नहीं मिली। "कृतवान् भारतं यस्त्वं सर्वार्थं परिबृंहितम्" तथापि शोचसि—आत्मानं" इत्यादि नारद वाक्य से भी प्रकाश हुआ है। अनन्तर देवर्षि नारद, भगवद् गुणवर्णन प्रधान शास्त्र प्रकाशन हेतु अनुमति प्रदान करने से व्यासदेव विस्तारपूर्वक श्रीमद् भागवत प्रकाश किए थे। और निज तनय श्रीशुकदेव को पढ़ाये थे। "स संहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्य चात्मजन्" इस से प्रतिपन्न होता है। मत्स्य पुराण का संवाद से "अष्टादशपुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः भारताख्यानमखिलं चक्रे वेदोपबृंहितम्" वेदव्यास अष्टादश पुराण वर्णन के पश्चात् भारत प्रणयन किए थे। श्रीजीवगोस्वामीपाद ने उभय विरोधि वाक्य का समाधान किया। प्रथम व्यासदेव अष्टादश पुराण का प्रणयन किये थे, उस में श्रीमद् भागवत अति संक्षेप से किए थे। पश्चात् देवर्षि के उपदेश क्रम से श्रीभगवान् के रूपगुण लीला का वर्णन विस्तार रूप से किये। यहाँ ज्ञातव्य है कि—श्रीकृष्णान्तर्धान के पश्चात् क्रमश कलि की वृद्धि हुई। उस समय वेदव्यास शोचे थे, आधुनिक लोक दुर्मेधा, अल्पायु है, वेद विभाग एवं महाभारत प्रणयन से वेदार्थ का प्रकाश से वर्णाश्रम धर्म का वर्णन हुआ है। तथापि मानव,—अपना मङ्गल समझ नहीं पाया, उच्छृङ्खलता अधार्मिकता उस से बढ़ती गई है। एतज्जन्य उनका चित्त अत्यन्त अप्रसन्न था, अनन्तर श्रीदेवर्षि के आदेश से श्रीभागवत प्रकाश करके सफल मनोरथ हुए, जीव मात्र के मङ्गल निमित्त श्रीमद्भागवत ही एकमात्र ग्रन्थ है। श्रीसूतने कहा भी है—

तमेतं श्रीवेद-व्यासस्य समाधि-जातानुभवं श्रीशौनक-प्रश्नोत्तरत्वेन विशदयन् सर्वात्मारामानुभवेन सहेतुकं संवादयति, आत्मारामाश्चेति । निर्ग्रन्थाः विधिनिषेधातीताः, निर्गताहङ्कार-ग्रन्थयो वा । अहैतुकीं—फलानुसन्धिरहिताम् । अत्र सर्वाक्षेपपरिहारार्थमाह ;—इत्थम्भूतः आत्मारामाणामप्याकर्षणस्वभावो गुणो यस्य स इति । तमेवार्थं श्रीशुकस्याप्यनुभवेन संवादयति, हरेर्गुणेति । श्रीव्यासदेवाद् यत्किञ्चित् श्रुतेन गुणेन पूर्वमाक्षिप्ता मतिर्यस्य सः, पश्चादध्यगात् महद्विस्तीर्णमपि । ततश्च तत्संकथासौहार्द्देन नित्यं विष्णुजनाः प्रिया यस्य तथाभूतो वा, तेषां प्रियो वा स्वयमवदित्यर्थः ।

अयं भावः ;—ब्रह्मवैवर्त्तानुसारेण पूर्वं तावदयं गर्भमारभ्य श्रीकृष्णस्य स्वैरितया माया-निवारकत्वं ज्ञातवान् । ततः स्वनियोजनया श्रीव्यासदेवेनानीतस्य तस्यान्तर्दर्शनात्तन्निवारणे सति, कृतार्थम्मन्यतया स्वयमेकान्तमेव गतवान् । तत्र श्रीवेदव्यासस्तु तं वशीकर्त्तुं तदनन्य-साधनं श्रीभागवतमेव ज्ञात्वा, तद्गुणातिशयप्रकाशमयांस्तदीयपद्यविशेषान् कथञ्चित्

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

समाधिदृष्टस्यार्थस्य सर्वतत्त्वज्ञ-सम्मतत्वमाह,—तमित्यादिना । निर्गताहङ्कारेति, महतत्त्वाज्जातोऽय-महङ्कारः, न तु स्वरूपानुमन्दिनीति बोध्यं, द्वितीये सन्दर्भे एवमेव निर्णेष्यमाणत्वात् । तदीयपद्यविशेषानिति

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

भागवतं पूर्वं संक्षेपेण कृतं, भारतानन्तरं विस्तरतः—इति भावः । केचित्तु—अनुक्रम्य अनुक्रमेण कृत्वेति व्याख्यानं—अष्टादशपुराणानि कृत्वा भारताख्यानं अखिलं—पूर्णं चक्रे इति निरुक्तवचनार्थः, "मन्ये तद्दर्शनं खिलम्" इत्यत्र खिलशब्दस्योणार्थकत्वादिति भारतानन्तरमेवाष्टादश पुराणानीत्याहुः ।।४८।।

तं—ब्रह्मानन्दादप्यधिकतया कृष्णविषयकं, एवं—शुकमध्यापयामासेति वचनसूचितं, सर्वात्मारामानु-

अनुवाद—

"कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह । कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः ।।"

सुतरां श्रीकृष्ण के अप्रकट के अव्यवहित काल में उन के प्रतिनिधि स्वरूप श्रीमद्भागवत सूर्य्य व्यासरूप उदयाचल को निमित्त करके अज्ञानान्ध कलिहत जीवगण को कृतार्थ करने के निमित्त जगदाकाश में समुदित हुए ।।४८।।

व्यास-समाधिदृष्ट समस्त तत्त्व ही तत्त्वज्ञ सम्मत है—श्रीशुकदेव के अध्ययन विषय होने से श्रीमद्भागवत ब्रह्मानन्द से भी उत्कृष्टतम है । श्रीव्यासदेव की समाधि से अनुभूत श्रीकृष्ण विषयक तत्त्व निचय इस में वर्णित है । श्रीशौनक ऋषि के प्रश्न से इसका विस्तार हुआ है । श्रीहरिभजन आत्मारामके भी काम्य है, "आत्मारामाश्च मुनयः" श्लोक से ज्ञापित हुआ है । श्रीकृष्ण का उत्कर्ष ब्रह्म स्वरूप से असमोर्द्ध रूप से है । उक्त श्लोक में निर्ग्रन्थ शब्द का अर्थ—विधि निषेधातीत, अहङ्कार शून्य । अहैतुकी शब्द का अर्थ—फलानुसन्धान रहिता आत्मारामगण कृष्णभक्ति क्यों करेंगे ? उत्तर—श्रीहरि का गुण ही उस प्रकार है, जिस से आत्मारामगण आकृष्ट होकर सेवा करते हैं । "हरेर्गुणाक्षिप्तमतिः" से सूचित हुआ है । प्रथम श्रीव्यासदेव से श्रीहरिगुण वाचक शब्द सुनकर द्रवितचित्त शुकदेव हुए थे, पश्चात् श्रीमद्भागवत का अध्ययन किये थे । अनन्तर श्रीहरि कथा में रुचि अतिशय होने से विष्णु जनगण उन के प्रिय हुए थे । अर्थात् शुकदेव भगवत कथा आलाप के निमित्त निरन्तर विष्णुजन के समीप में रहते थे । पारस्परिक प्रीति इस से हुई थी ।

श्रावयित्वा, तेन तमाक्षिप्तमतिं कृत्वा, तदेव पूर्णं तमध्यापयामासेति श्रीभागवतमहिमातिशय प्रोक्तः। तदेवं दर्शितं—वक्तुः श्रीशुकस्य वेदव्यासस्य च समानहृदयम्। तस्माद्वक्तुर्हृदयानुरूपमेव सर्वत्र तात्पर्य्यं पर्य्यालोचनीयं, नान्यथा। यद्यत्तदन्यथा पर्य्यालोचनं, तत्र तत्र कुपथगामितैवेति निष्टङ्कितम् १।७ श्रीसूतः ॥४९॥

अथ क्रमेण विस्तरतस्तथैव तात्पर्य्यं निर्णेतुं सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनेषु षड्भि, सन्दर्भैर्निर्णेष्यमाणेषु प्रथमं यस्य वाच्यवाचकतासम्बन्धीदं शास्त्रं,तदेव—"धर्म्मः प्रोज्झितकैतवः" इत्यादिपद्ये सामान्याकारतस्तावदाह;—"वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु" (भा० १, १, २) इति॥

टीका च,—"अत्र श्रीमति सुन्दरे भागवते वास्तवं परमार्थभूतं वस्तु वेद्यं, न तु वैशेषिकादिवद्द्रव्यगुणादिरूपम्" इत्येषा १।१ श्रीवेदव्यासः ॥५०॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका।

पूतनाधात्रीगतिदान-पाण्डवसारथ्य-प्रतीहारत्वादिप्रदर्शकान् कतिचित् श्लोकानित्यर्थः। ब्रह्मवैवर्त्ते शुको योनिजातः,भारते त्वयोनिजातः कथ्यते,दारग्रहणं कन्यासन्ततिश्चेति। तदेतत् सर्वं कल्पभेदेन सङ्गमनीयम्॥४९ संक्षेपेणोक्तं सम्बन्धादिकं विस्तरेण दर्शयितुमुपक्रमते अथेत्यादि। तथैवेति—श्रीशुकादिहृदयानुसारेणेत्यर्थः।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

भवेन—तादृशानुभवमूलकहरिभजनेन, सहेतुकं—कृष्णोत्कर्षरूपतद्धेतुबोधकं वचनं, संवादयति—ज्ञापयति। आक्षिप्ता—शिथिला। निष्टङ्कितं—ज्ञापितं,—'तस्मात्, इत्यनेनास्यान्वयः। श्रीसूत इति—सम्वादयतीति प्राक्तनेनान्वयः ॥४९॥

सम्बन्धः—वाच्यवाचकतालक्षणः, तत्र वाच्यतासम्वन्धि—अभिधेयं; तच्च द्विविधं—वास्तवतत्त्वं वस्तुतत्त्वञ्च, वाचकतासम्वन्धि शास्त्रमिति विशेषतः सूतप्रोक्तं, सामान्यतो व्यासेनोक्तमित्याह—अथेति।

अनुवाद—

ब्रह्म वैवर्त्तपुराण के अनुसार श्रीशुक मातृगर्भ में ही जान गए थे कि—माया नियन्ता श्रीकृष्ण हैं, श्रीशुक के नियोग से श्रीव्यास द्वारका से कृष्ण को ले आये थे। श्रीकृष्ण के जमानत पर भूमिष्ठ हुए थे। भूमिष्ठ होकर बन गमन करने पर वेदव्यास उन को वशीभूत करने के निमित्त श्रीकृष्ण लीलावाचक श्रीमद् भागवत श्लोक का प्रयोग किए थे, इस से शुक का आकर्षण हुआ, और आपने श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया था।

इस से ग्रन्थ कर्त्ता व्यास, एवं ग्रन्थ वक्ता श्रीशुकदेव समान हृदय के थे–प्रदर्शित हुआ। सुतरां ग्रन्थ वक्ता के हृदय के अनुरूप ही सर्वत्र ग्रन्थ की तात्पर्य्य आलोचना आवश्यक है। इस की अन्यथा कभी भी नहीं होनी चाहिये। अन्यथा कुपथगामिता ही होगी। इस वाक्य को श्रीसूत श्रीशौनकादि ऋषि को कहे थे ॥४९॥

सम्बन्ध द्विविध, वाच्य एवं वाचकता रूप, अभिधेय को वाच्यता सम्बन्धि कहा जाता है। उक्त वाच्यता सम्बन्धि द्विविध है—वास्तव तत्त्व, एवं उन का भजन। शास्त्र को वाचकता सम्बन्ध कहते हैं। यह सब विषय का प्रकाश श्रीसूत से विशेष रूपसे हुआ है, उक्त तत्त्व का निर्देश श्रीव्यासदेव सामान्याकार से किए थे। इस को कहते है—अनन्तर श्रीशुकदेव के हृदयानुरूप तात्पर्य्य समूह को विस्तार करने के अभिप्राय से षट्सन्दर्भ के द्वारा सम्बन्ध अभिधेय, प्रयोजन का निर्णय करेंगे। जिस तत्त्वका वाच्यवाचकता सम्बन्धि शास्त्र है, अर्थात् अद्वय तत्त्व की वाच्यता स्वीकार करने से ही इस शास्त्र की वाचकता है। उस वास्तव तत्त्व को "धर्मप्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः" "वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु" श्लोक से श्रीव्यासदेव ने कहा है।

अथ किंरूपं तद्वस्तुतत्त्वमित्यत्राह ;—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्" (भा० १, २, ११) इति ॥

ज्ञानं—चिदेकरूपम् । अद्वयत्वञ्चास्य स्वयंसिद्धतादृशातादृशतत्त्वान्तराभावात्, स्वशक्त्यैक-सहायत्वात्, परमाश्रयं तं विना तासामसिद्धत्वाच्च । 'तत्त्वम्' इति परमपुरुषार्थताद्योतनया परमसुखरूपत्वं तस्य बोध्यते । अतएव तस्य नित्यत्वञ्च दर्शितम् ॥१।२ श्रीसूतः ॥५१॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

सामान्यत इति—अनिर्दिष्टस्वरूपगुणविभूतिकथनायेत्यर्थः । वैशेषिकादिवदिति—कणादगौतमोक्तशास्त्र-वदित्यर्थः ॥५०॥

स्वरूपनिर्द्देशपूर्वकं तत्त्वं वक्तुमवतारयति—अथ किमिति, स्वयंसिद्धेति—आत्मनैव सिद्धं खलु स्वयं-सिद्धमुच्यते । "स्वयंदासास्तपस्विनः" इत्यत्र तपस्विदास्यमात्मना तपस्विनैव सिद्धं प्रतीयते, तद्वत् । तादृशश्च—परेशवस्त्वेव, न तु तादृशमपि जीवचैतन्यं, न त्वतादृशं प्रकृतिकाललक्षणं जड़वस्तु ; तदभावाद-द्वयत्वम् । तयोः स्वयंसिद्धत्वाभावः कुतः ? इत्यत्राह,—परमाश्रयं तं विनेति । स्वशक्त्यैकसहायेऽप्यद्वयपदं

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

तथैव निरुक्तौ तत्प्रकारेणैव, निर्णेतुं ज्ञापयितुं, अस्य 'निर्णष्यमाणेषु' इत्यनेनान्वयः । यस्य वाच्यवाचकता-सम्बन्धीति—यन्निष्ठवाच्यतानिरूपितवाचकतासम्बन्धीत्यर्थः । आहेति श्रीवेदव्यास इति परेणान्वयः ॥५०॥

चिदेकरूपमिति—चिता ज्ञानेन एकरूपं—स्व-स्वरूपभूतज्ञानवदित्यर्थः । तदुक्तं—"गुणैः स्वरूपभूतैस्तु गुण्यसौ हरिरीश्वरः" इति । अद्वयत्वञ्च—अद्वयपदवाच्यत्वञ्च, स्वतःसिद्ध तादृशतत्त्वान्तराभावादिति—तथा च तादृशतत्त्वनिष्ठभेदाप्रतियोगित्वमेवाद्वयत्वमिति भावः । ननु प्रकृत्यादिशक्तीनामपि तत्त्वता श्रूयते इति कथमद्वयत्वम् ? इत्यत आह,—स्वशक्त्यैकसहायत्वादिति—स्वाश्रितशक्तिरूपत्वात् प्रकृत्यादीनामपि तत्स्वरूपत्वात् प्रकृतेर्वहिरङ्गत्वेऽपि तस्यानित्यतया धर्म्मतया च ब्रह्मणैकर्च्चमिति भावः । ननु प्रकृतेः कथं

अनुवाद—

उस की टीका में श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं—इस सुन्दर श्रीमद्भागवत में ज्ञातव्य विषय परमार्थ वस्तु है, किन्तु अपरापर ऋषि वर्णित द्रव्यगुणादि नहीं हैं । परमार्थ विचार विषयक श्रीमद्भागवत है, अतएव इस के अध्ययन से परमार्थ विषयक ज्ञान ही होता है । इस उक्ति श्रीवेदव्यास की है ॥५०॥

ग्रन्थ प्रतिपाद्य वस्तु—उक्त पद्य में परमार्थभूत वस्तु ही तत्त्व है, कहा गया है । वह तत्त्व क्या है ? कहते हैं—तत्त्वबादिगण जिस तत्त्व को अद्वय ज्ञान कहते हैं, उस ज्ञान को इस स्थल में चिदेकरूप जानना होगा । अर्थात् ज्ञान के सहित एकरूप—निज स्वरूपभूत ज्ञानयुक्त है, इस प्रकार जानना होगा । उस वास्तव तत्त्व जिस प्रकार स्वतःसिद्ध ज्ञानवान् है, उस प्रकार अन्य वस्तु नहीं है । वह ही एकमात्र उन के शक्तिवर्ग का परमाश्रय है, एवं तद्व्यतीत शक्तिवर्ग की असिद्धि है । यह सब हेतु के द्वारा उन को "अद्वय" इस विशेषण से विशिष्ट किया गया है । "तत्त्व" शब्द से वास्तव पदार्थ को "परमपुरुषार्थ" कहा गया है, तज्जन्य आप निरतिशय स्वाभाविक सुखयुक्त हैं, यह भी प्रकाशित हुआ । सुतरां इस से उन की नित्यता भी प्रदर्शित हुई है । यह उक्ति श्रीसूत की है ॥५१॥

सारार्थः—उक्त वास्तव तत्त्व स्व-स्वरूपभूत ज्ञानशाली क्यों है ? उत्तर में शास्त्र कहते हैं—"गुणैः स्वरूपभूतैस्तु गुण्यसौ हरिरीश्वरः ।" वह स्वरूपभूत गुण से ही गुणवान् है, सुतरां गुण,—स्वरूपसे अतिरिक्त नहीं है । अतः उक्त दोष नहीं होगा । स्वयं सिद्ध—जो वस्तु स्वतःसिद्ध है, उसे स्वयंसिद्ध कहते हैं । जैसे "स्वयं दासास्तपस्विनः" जीव तादृश चैतन्य होने से भी उन के समान स्वयंसिद्ध नहीं है । प्रकृति काल प्रभृति जड़ वस्तु है, स्वयंसिद्ध नहीं है, सुतरां आप ही अद्वय पदवाच्य हैं ।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

प्रयुज्यते,—"धनुर्द्वितीयः पाण्डुः" इति। ननु वेदान्ते "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति, विज्ञानानन्दस्वरूपं ब्रह्म पठ्यते, इह ज्ञानमिति कथं? तत्राह,—तत्त्वमिति। इदमत्र तत्त्वमित्युक्ते सारे वस्तुनि तत्त्वशब्दो नीयते। सारञ्च सुखमेव, सर्वेषामुपायानां तदर्थत्वात्, तथा च सुखरूपत्वमपि तस्यागतम्। ननु ज्ञानं सुखञ्चानित्यं दृष्टं? तत्राह;—अतएवेति स्वयंसिद्धत्वेन व्याख्यानान्नित्यं तदित्यर्थः। "सदकारणं यत्तन्नित्यम्" इति हि तीर्थकाराः। एवञ्च तादृशब्रह्मसम्बन्धीदं शास्त्रमित्युक्तम् ॥५१॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

धर्म्मत्वम्? इत्यत आह,—परमाश्रयं तं विनेति, असिद्धत्वात्—अचेतनत्वेन कार्य्याक्षमत्वादिति भावः। तत्त्वमितीति—तत्पदप्रतिपाद्यं जगत्कर्त्तृरूपं वास्तवं वस्तुतत्त्वपदार्थः, वास्तवत्वं नित्यसत्त्वम् आत्मपद-बोध्यमपि तदेव। तस्य परमप्रेमास्पदत्वमाह श्रुतिः,—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (वृ० आ० २, ४, ५) इत्युपक्रम्य "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" (वृ० आ० २, ४, ५) इत्यादिका। न चात्रोपक्रमे आत्मपदं जीवपरमिति वाच्यं, आत्मपदेनात्मत्वेन बोधनात् परमप्रेमास्पदपरमात्मांशजीवात्मनोऽपि प्रेमास्पदत्वेन बोधनात्। तदभिप्रायेणैव दशमे—"ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत्" इति परीक्षित् प्रश्नोत्तरतया शुकदेव आह,—"सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः" इत्युक्त्वा—"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" इत्युक्तं, संसारिणां परमात्मानुभव-विरहेणैव तथाप्रियतानानुभवात्। तथा प्रियताबीजञ्च परमानन्दमयत्वेनेत्यभिप्रायं दर्शयति,—परम-पुरुषार्थद्योतनायेति। परमसुखत्वं— निरतिशयस्वाभाविकसुखवत्त्वं, तस्य—ज्ञानस्य स्वाभाविकज्ञानवतः। एवञ्च ब्रह्मगतज्ञान-सुखयोः ब्रह्मस्वरूपतया तयोरैक्यप्रवादः। अतएव—ब्रह्मणो ज्ञानैकरूपतया कथनादेव, तस्य—ज्ञानस्य सुखस्य च नित्यत्वम्। न च तज्ज्ञानसुखयोरैक्यं वास्तवं 'जानामि' इत्यनुव्यवसायसिद्ध-ज्ञानस्य आत्मधर्म्मस्य 'अहं सुखी' इत्यनुभवसिद्धात्मधर्म्मसुखस्य च मिथो वैलक्षण्यावगमात्। न चात्मधर्मत्वं तयोरारोपितं, मानाभावात्। एवञ्च स्वाभाविकज्ञानसुखवत्स्वरूपत्वं तत्त्वस्य सिद्धम्। निरुक्तज्ञाने ज्ञानपदस्य निरुक्तसुखे सुखपदस्य शक्तेः सुप्रसिद्धतया—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति (तैत्ति० २, १, १) "आनन्दं ब्रह्म" इति (सर्व्वोप० ३) श्रुतावपि तादृशज्ञानसुखयोर्ज्ञानानन्दपदाभ्यां बोधनात् तयोरात्म-धर्म्मत्वानुभवादीश्वरेऽपि तयोर्धर्म्मत्वमेव—"यः सर्वज्ञः" इत्यादिश्रुतौ—

अनुवाद—

प्रकृति प्रभृति को तत्त्व कहते हैं? उत्तर—"स्वशक्त्यैक सहायत्वात्" अर्थात् ब्रह्म का स्वाश्रित शक्ति रूपत्व है, प्रकृति आदि की ब्रह्मरूपता है। प्रकृति वहिरङ्गा एवं अनित्या है, महाप्रलय में वह ब्रह्ममें लीन होती है। प्रकृति को धर्म क्यों कहते हैं? उत्तर—"परमाश्रयं तं विना असिद्धत्वात्" प्रकृति अचेतन है, उस की क्षमता कार्य करने की नहीं है, ब्रह्माश्रित होकर जगत् कार्य करती है, अतः उसका धर्मत्व है। ब्रह्म—स्वशक्त्यैक सहाय होकर भी अद्वय क्यों? कहते हैं—"धनुर्द्वितीय पाण्डुः" धनु की स्वयंसिद्ध शक्ति नहीं है, वह पाण्डु आश्रित है। उस प्रकार सहाय न होने से पाण्डु भी अद्वितीय है। यहाँ धनु के समान प्रकृति जड़ अनित्या है। उस का आश्रय से ब्रह्म में अद्वयत्व की हानि नहीं होती है।

वेदान्त—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—" ब्रह्म को विज्ञानानन्द कहते हैं, यहाँ केवल ज्ञान ही कहा गया है। कहते हैं—"तत्त्वमिति। तत्त्व शब्द से सार वस्तु को जानना होगा। उक्त सार—सुखरूप है। तत्त्व शब्द का तात्पर्य सुख है, शास्त्र—आत्म पदार्थ को परम प्रेमास्पद कहते हैं, सुखमय पदार्थ ही परम प्रेमास्पद है। आत्मा परम सुखमय है, तज्जन्य परम प्रेमास्पद, उन का सम्बन्ध होने से तदितर जीव भी सुखमय है। श्रुति कहती है—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। आत्मा वा द्रष्टव्यः श्रोतव्यः।"

ननु नीलपीताद्याकारं क्षणिकमेव ज्ञानं दृष्टं, तत् पुनरद्वयं नित्यं ज्ञानं कथं लक्ष्यते, यन्निष्ठमिदं शास्त्रम् ? इत्यत्राह;—"सर्ववेदान्तसारं यद्ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्! वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठम्" **(भा० १२, १३, १२) इति ॥**

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" **(तैत्ति० २, १, १) इति यस्य स्वरूपमुक्तम्,** "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" **(छान्दो० ६, १, ३) इति** "यद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातं" "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" **(छान्दो०६,२,१) इत्यादिना निखिलजगदेककारणता,** "तदैक्षत बहु स्याम्" **(छान्दो० ६, २, ३) इत्यनेन सत्य-सङ्कल्पता च यस्य प्रतिपादिता, तेन ब्रह्मणा स्वरूपशक्तिभ्यां सर्ववृहत्तमेन सार्द्धम्, अनेन**

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

आर्थिकं नित्यत्वं स्थिरं कुर्व्वन् शास्त्रस्य विशिष्टब्रह्मसम्बन्धित्वमाह;—ननु नीलेत्यादिना। अनेन—जीवेनेत्यादि। तदीयोक्तौ—परदेवतावाकचे। तदात्मांशविशेषत्वेन—तद्विभिन्नांशत्वेन, न तु मत्स्यादिवत् स्वांशत्वेनेत्यर्थः। जीवात्मनो यदेकत्वमिति,—जीवस्य चिद्रूपत्वेन जात्या यद्ब्रह्मसमानाकारत्वं, तदेव

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च" इति भगवद्वचने च बोधितमिति। ब्रह्मपद-ज्ञानपदानन्दपदानां सामानाधिकरण्यानुपपत्त्या ज्ञानपदानन्दपदयोः स्वाभाविकज्ञानवत्-स्वाभाविकानन्दवत्परत्वावगमात्। **तत्त्वपदयोरिवेति** 'ब्रह्मणो हि' इत्यत्र ब्रह्मपदं धर्म्मपरं, तेन ज्ञानस्येत्यर्थः। नीलकण्ठकृतटीकायां 'ब्रह्मपदमत्र वेदपरम्' इति व्याख्यातम्। केचित्तु—"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" (गीता० १४,३) इति वचने ब्रह्मपदश्रवणात् "ब्रह्मणो हि" इत्यत्र ब्रह्मपदं प्रकृतिपरं सर्वत्र श्रुतौ श्रीभागवते च ब्रह्म-कृष्णपदार्थयोरैकचावगमात्—इत्याहुः ॥५१॥

इत्याहेति—'श्रीसूतः' इति पूर्व्वेणान्वयः। 'इत्यत आह'—इति तदर्थः। 'तन्निष्ठम्' इत्यन्तमस्य कर्मत्वेनान्वितम्। सर्ववेदान्तसारं—सर्ववेदान्तेषु मुख्यत्वेनाभिहितं, ब्रह्मणा सहात्मनो जीवस्य यदेकत्वं—तल्लक्षणं साधकतमं यस्य तत्—ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं, अद्वितीयं—ब्रह्मनिष्ठाभावाप्रतियोगि, तन्निष्ठमिति—तत्परमिदं शास्त्रमित्यर्थः। तथा च—ब्रह्मनिष्ठत्वमेवाद्वयत्वं, न तु ज्ञाननिष्ठमिति प्राग्व्याख्यातार्थ एव सूताभिप्रेत इति भावः। सूतोक्तवचनं विशेषेण व्याकरोति,—सत्यमित्यादि। येन—अचिन्त्यशक्त्या,

अनुवाद—

परमात्मा परमानन्दमय है, अतः निरुपाधि परम प्रेमास्पद है। इस अभिप्राय से कहा—"परम-पुरुषार्थद्योतनया।"

साधारण ज्ञान एवं सुख—अनित्य होने पर भी जो ज्ञान सुख परमात्मनिष्ठ है, वह नित्य है, परमात्मा स्वयंसिद्ध होने से ही वैसा है। ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानसुख भी नित्य है। ब्रह्म के सहित ज्ञानसुख का ऐक्य होने से अर्थात् ब्रह्म एवं ज्ञान सुख एक वस्तु है, यह सिद्धान्त अयथार्थ है। "जानामि" कहने से मैं जान रहा हूँ। इस से ज्ञान ज्ञाता का पृथक् बोध होता है। अहं सुखी स्थल में भी उस प्रकार बोध होता है। यह आरोप सिद्ध नहीं है, किन्तु अद्वय तत्त्व स्वाभाविक ज्ञानसुखशाली है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" स्थल में भी ज्ञान सुख का आत्मधर्मत्व है। ब्रह्म ज्ञानयुक्त एवं सुखयुक्त है। इस प्रकार अद्वय ज्ञानवान् परमेश्वर तत्त्व निरूपण में ही इस शास्त्र की प्रवृत्ति है ॥५१॥

क्षणिक ज्ञान का निरास। संशय हो सकता कि—नील पीतादि आकार में क्षणिक रूप ज्ञान दृष्ट होता है, सुतरां तादृश ज्ञान अद्वय एवं नित्यरूप से कैसे परिलक्षित होगा ? उक्त ज्ञान शास्त्र प्रतिपाद्य भी कैसे होगा ? समाधान हेतु कहते हैं,—जो सर्व वेदान्त सार है, अर्थात् समस्त वेदान्त में मुख्य रूप से अभिहित है, तद्रूप ब्रह्म के सहित जीव का एकत्वलक्षण ज्ञान ही अद्वितीय वस्तु है एवं उक्त अद्वितीय वस्तु

जीवेनात्मना इति तदीयोक्ताविदन्तानिर्द्देशेन ततो भिन्नत्वेऽप्यात्मतानिर्द्देशेन तदात्मांश-विशेषत्वेन लब्धस्य बादरायणसमाधिदृष्टयुक्तेरत्यभिन्नतारहितस्य जीवात्मनो यदेकत्व, 'तत्त्वमसि' (छान्दो० ६,८,७) इत्यादौ ज्ञाता तदंशभूतचिद्रूपत्वेन समानाकारता, तदेव लक्षणं

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका।

तस्य ब्रह्मणा सहैक्यमिति व्यक्तिभेदः प्रस्फुटः। एवमेव यथेत्यादिदृष्टान्तेनापि दर्शितः। तदेतदिति,—उपनिषदः "सोऽकामयत बहु स्याम्" इत्याद्याः। निरंशत्वोपदेशिकेति,—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ब्रह्मणा श्रुतेन शब्दतः साक्षादश्रुतमपि सर्वं जगत् तात्पर्य्यवृत्त्या श्रुतं भवतीति "येन" इत्यादि श्रुतेरर्थः। अत्र दृष्टान्तश्रुतिर्यथा,—"सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातम्" (छान्दो० ६, १, ४) इत्यादिरूपा। अत्र तद्दृष्टान्तेन जगदुपादानत्वं लभ्यते, उपादानधर्मस्यैव कार्य्ये दृश्यते, न तु कारणधर्मस्येति। न च—ब्रह्मणश्चेतनस्य निरवयवस्य निर्विकारस्य कथमचेतनजगदाकारेण परिणामः? इति वाच्यं, तादृशस्यापि ब्रह्मणो जगदुपादान-प्रकृत्याख्यशक्त्याऽभेदस्यापि तादृशश्रुत्या ज्ञापनात् शक्ति-शक्तिमतोरभेदात्। न च—तादृशशक्तेः परिणामितयाऽनित्यत्वादचेतनत्वाच्च तस्या न ब्रह्मणा सहैक्यमिति वाच्यं, यथैकस्मिन् शरीरे करचरणादि-तत्तदवयवभेदः—पारमार्थिकः, तथा मिथोविलक्षणसम्बन्धकरचरणाद्यवयवसमुदायाभेदोऽपि; समुदायस्य प्रत्येकाऽनतिरेकात्। एवं प्रत्येकावयवे शरीरभेदो वर्त्तते, न तु समुदाये इति प्रतियोगिता-वच्छेदकानुयोगितावच्छेदकभेदेनाभेदभेदयोरेकत्र सत्त्वात्, तथा चेतनाचेतनत्वाभ्यां मिथो ब्रह्म-तच्छक्त्यो-र्भेदेऽपि धर्म-धर्मिभावापन्नयोस्तयोरैक्यमव्यभिचारिसम्बन्धादिति। प्रकृतेर्नित्यत्वमपि,—"पुरुष एष प्रकृतिरेष आत्मैष ब्रह्मैष नाक आलोको योऽसौ हरिरादिरनादिरनन्तोऽन्तः परमः पराद्विश्वरूपः" इति माध्वभाष्यधृतश्रुत्या ब्रह्मणः प्रकृतिरूपताबोधनात् "परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबल-क्रिया च" (श्वेताश्व० ६, ८) इति श्रुतेश्च। तत्र स्वाभाविकत्वं—स्वरूपभूतत्वं। यद्वा; ब्रह्मणो जगदुपादान-प्रकृतिर्भिन्नैव, अभेदप्रत्ययस्त्वौपचारिकः। तथा च माध्वभाष्यधृतवचनम्,—

"अविकारो हि भगवान् प्रकृतिं तु विकारिणीं। अनुप्रविश्य गोविन्दः प्रकृतिश्चाभिधीयते" इति।

अनुवाद—

निष्ठ ही यह श्रीमद् भागवत शास्त्र है। श्रुति में उक्त है,—सत्य, ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म, अचिन्त्यशक्ति ब्रह्म श्रुत होने से शब्द के द्वारा साक्षात् अश्रुत होने पर भी समस्त जगत् तात्पर्य्य वृत्ति द्वारा श्रुत होते हैं। जिन को अवगत होने से समस्त ज्ञात होते हैं, हे सौम्य! जो सृष्टि के पूर्व में सद्रूप में वर्त्तमान थे, इत्यादि श्रुति निचय के द्वारा जिन में परिदृश्यमान निखिल जगत् की कारणता प्रतिपादित हुई है। उक्त सद्वस्तु ने देखा, "मैं अनेक हो जाऊँगा" इत्यादि श्रुति से भी जिन की सत्य संकल्पता, अप्रतिरुद्ध ज्ञानवत्ता साधित हुई है। उस स्वरूप, ज्ञानसुखादि एवं शक्ति, जगदुपादान मायादि शक्ति के द्वारा सर्वबृहत्तम अर्थात् समस्त वस्तु से उत्तम—ब्रह्म है। यह ही स्थापित हुआ है। जीव तत्त्व की पर्य्यालोचना से दृष्ट होता है कि—"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणानि" यहाँ "इदम्" शब्द का निर्देश होने से जीव ब्रह्म से भिन्न है"—प्रकाश हुआ है। उक्त श्रुति में "आत्मा" शब्द का प्रयोग से जीव ब्रह्म का अंश है, प्रतिपादित हुआ है। इस से बादरायण श्रीव्यासदेव द्वारा समाधि दृष्ट युक्ति के अनुसार जीव—ब्रह्म से अतिशय अभेद रहित है, प्रकाश हुआ है। कारण,—धर्म धर्मी रूप से जीव ब्रह्म में जो अभेद है, उस का भी समाधान भेद में ही साधित हुआ। तज्जन्य भक्तियोग रूप समाधि दर्शन प्रसङ्ग को कहा गया है। समाधि में जीव, माया को पृथक् रूप से दर्शन किया है। फलतः जीव,—भगवत दास है, सेव्य सेवक भाव जीव का स्वाभाविक धर्म है, श्वेताश्वतर उपनिषद में भी "ब्रह्मदासा" पद से जीव को "ब्रह्मदास" कहा

प्रथमतो ज्ञाने साधकतमं यस्य ; तथाभूतं यत् सर्ववेदान्तसारमद्वितीयं वस्तु, तन्निष्ठं—तदेकविषयमिदं श्रीभागवतमितिप्राक्तनपद्यस्थेनानुषङ्गः। यथा जन्मप्रभृति कश्चिद्गृहगुहावरुद्धः सूर्य्यं विविदिषुः कथञ्चिद्गवाक्षपतितं, सूर्य्यांशुकणं दर्शयित्वा केनचिदुपदिश्यते 'एष सः' इति, एतत्तदंशज्योतिःसमानाकारतया तन्महाज्योतिर्मण्डलमनुसन्धीयतामित्यर्थस्तद्वत्। जीवस्य तथा तदंशत्वञ्च तच्छक्तिविशेषसिद्धत्वेनैव परमात्मसन्दर्भे स्थापयिष्यामः।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

"सत्यं ज्ञानमनन्तं," (तैत्ति० २, १) "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।" (श्वेता० ६,१६) इत्याद्या श्रुतिस्तु—केवलतन्निष्ठा विशेष्यमात्रपरेत्यर्थः। अनभिव्यक्तसंस्थानगुणकं ब्रह्म वदतीति यावत्॥५२॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

"अथैष आत्मा प्रकृतिमनुप्रविश्यात्मानं बहुधा चकार तस्मात् प्रकृतिरिति व्याचक्षते" इति माध्वभाष्यधृतभाल्लवेयश्रुतिश्चेति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रत्यभिविशन्ति ; तद्ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तैत्ति० ३,१,१) इति श्रुतौ यद्ब्रह्मनिलयश्रवणं—तद्विश्वलयाश्रयप्रकृतिलयाभिप्रायेण। "अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देव एकीभवति" इति श्रुतेः।

"एकोऽविभक्तः परमः पुरुषो विष्णुरुच्यते। प्रकृतिः पुरुषः कालस्त्रय एते विभागतः॥
चतुर्थश्च महान् प्रोक्तः पञ्चमोऽहङ्कृतिस्तथा। तद्विभागेन जायन्ते आकाशाद्याः पृथक् पृथक्॥
यो विभागी विकारः सः सोऽविकारी हरिः परः। अविभागात् परानन्दो नित्यो नित्यगुणात्मकः॥"

इति माध्वभाष्यधृतवृहन्संहितावचनाच्च। एवञ्च—"येनाश्रुतं श्रुतं भवति" (छान्दो० ६, १, ३) इति प्रतिज्ञातश्रुति-तद्दृष्टान्तश्रुतिभ्यां साक्षादनिर्द्देश्यपरब्रह्मोपासनायामुपास्यतावच्छेदकरूपजिज्ञासायां तादृशरूपप्रदर्शनम्। तथाहि "मायी विश्वं सृजते" इत्यादिश्रुतिसहकारेण निरुक्तप्रतिज्ञाश्रुत्या जगदुपादानत्वेन ब्रह्मबोधने साक्षात्तद्बाधात् 'शिखी विनष्टः' इत्यादिवत्विशेषणीभूतमायायां जगदुपादानत्वं बोध्यते। तेन जगदुपादानमायाश्रयत्वेन ब्रह्मोपास्यं, सर्वाधारत्वेन ज्ञानसुखमयत्वेन सर्वनिमित्तकारणत्वेन ब्रह्मैव नित्यमुपादेयं, मायाया अचेतनत्वेनासुखत्वेन तत्कार्य्यस्य जगतस्तथाभूतत्वेनानित्यत्वेन चानुपादेयत्वञ्च आयातमिति। "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" इत्यनेन ब्रह्मणो निमित्तता, प्रकृतेश्चोपादानता-

अनुवाद—

गया है, तत्त्वमसि श्रुति से जो अभेद प्रतीत होता है, वह चिदंश की दृष्टि से ही है। ब्रह्म का चिदंश जीव है, इस अंशभूत चिद्रूपत्व के सहित समानाकारता को लेकर ही ऐक्य स्थापित हुआ है। उक्त भाव ही प्रथमतः ज्ञान में साधकतम अर्थात् ज्ञापक होता है, तादृश सर्व वेदान्त सारभूत जो अद्वितीय वस्तु है, उस वस्तु निष्ठ ही श्रीमद्भागवत शास्त्र एवं उक्त तत्त्व ही रस शास्त्र का मूल विषय है। इस प्रकार पूर्व कथित "धर्मप्रोज्झित" इस पद्य के सहित इस का सम्बन्ध है। सुतरां यह ज्ञान नील पीतादि के समान क्षणिक नहीं है।

कोइ व्यक्ति आजन्म गृह गुहामें अवरुद्ध अथच सूर्य्य को देखना चाहता है, तव गवाक्ष द्वारा जो किरण गृह मध्य में पतित होता है, उसे दिखाकर यह सूर्य्य है। यह ही उन की अंशज्योतिः है। इस के समान आकृतियुक्त उस महाज्योतिर्मण्डल का अनुसन्धान करो। यह कहकर कोई व्यक्ति उसे उपदेश करता है। यहाँपर भी 'तत्त्वमसि' वाक्य से उस प्रकार अर्थ को जानना होगा। अर्थात् तुम अपने को चिद्रूप अंश मान लो, ब्रह्म तुम्हारे समान चिद्रूप होने पर भी अतिबृहत् है, इस प्रकार दार्ष्टान्तिक में वाक्य की योजना करनी होगी। जीव जो इस प्रकार से ब्रह्म का अंश है, उस का संघटन योगमायादि अचिन्त्य शक्ति से ही होता है। परमातमसन्दर्भ में इस का प्रतिपादन होगा।

तदेतज्जीवादिलक्षणांशविशिष्टतयैवोपनिषदस्तस्य सांशत्वमपि क्वचिदुपदिशन्ति । निरंशत्वोपदेशिका श्रुतिस्तु केवलतन्निष्ठा । अत्र 'कैवल्यैकप्रयोजनम्' इति चतुर्थपादश्च कैवल्यपदस्य शुद्धत्वमात्रवचनत्वेन, शुद्धत्वस्य च शुद्धभक्तित्वेन पर्य्यवसानेन प्रीतिसन्दर्भे व्याख्यास्यते १२।१३ श्रीसूतः ॥५२॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

बोधनात् "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ०आ० २,५,१९) इति श्रुतेश्च "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छान्दो० ३, १४, १) इत्यादिश्रुतिरपि ब्रह्माधिष्ठितत्वेन चोपपद्यते । सदेवेति,—इदं—जगत्, अग्रे सदेवासीत्—सद्रूपे लीनमासीत् इत्यर्थः । तेन जगत्कारणतापि लक्ष्यते, उपादानकारण एव कार्य्यलयश्रवणात् । आदिपदेन—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तैत्ति० ३,१,१) इत्यादि श्रुतिपरिग्रहः । सत्यसङ्कल्पतेति अप्रतिरुद्धज्ञानवत्त्वेत्यर्थः । यस्येति—यत्पदद्योतितः परामृश्य तदर्थं विवृणोति—तेन ब्रह्मणेति । स्वरूपं—ज्ञानसुखादि । शक्तिः—जगदुपादानमायादि ताभ्यां सर्ववृहत्तमेन सर्वत उत्तमेन, सार्द्धमित्यस्य यदेकत्वमिति परेणान्वयः । अनेन जीवेनात्मनेत्यादि तदीयोक्तौ—"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" (छान्दो० ६, ३, २) इत्यादिश्रुतिवचने, इदन्तानिर्द्देशेन—'अनेन' इति 'इदं' पदेनापरोक्षत्वनिर्द्देशेन, ततो भिन्नत्वेऽपि—परोक्षब्रह्मसकाशाद्भिन्नत्वसिद्धावपि, आत्मतानिर्द्देशेन—'आत्मना' इत्यात्मपदेन चेतनत्वनिर्द्देशेन, इदश्चात्मांशविशेषत्वे हेतुः । तदात्मांशविशेषत्वेन—ब्रह्मांशविशेषत्वेन अनुप्रविश्य "नामरूपे व्याकरवाणि" इति वाक्यं समभिव्याहृतात्मपदेन, कर्त्तृभूतब्रह्मण एवात्मीयत्वरूपांशत्वबोधनादिति भावः । लब्धस्येति—'जीवेन' इति श्रुतिपदेनेत्यादिः 'जीवात्मनः' इति परेणास्यान्वयः । ब्रह्म-जीवयोर्भेदं प्रागुक्तयुक्तिमपि स्मारयति—बादरायणेति, अत्यभिन्नतेति धर्म-धर्मिभावतया, भेदोऽप्यतिशब्देन सूचितः । तदेकत्वमिति—ब्रह्मनिष्ठैकत्वस्य जीवात्मनि बाधितत्वात् । तद्वाक्यैकवाक्यैकतया—इत्यादौ एकपदस्य समानाकारकता-परत्वस्य सर्वमतसिद्धतयाऽत्राप्येकपदस्य समानाकारपरतामाह,—तदंशचिद्रूपत्वेनेति—अभेदे तृतीया ; तदंशचिद्रूपत्वरूपसमानाकारतेत्यर्थः । तदंशत्वं—तद्धर्म्मत्वं, तत्पदं—ब्रह्मपरं, चिद्रूपत्वं—चेतनत्वम् । तथा च तद्धर्म्मत्वे सति चेतनत्वं—एकपदेन विवक्षितम् । यद्वा ; तदंशत्वं—तन्निष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकाणुत्वम् । तथा च ब्रह्मनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकाणुत्वे सति चेतनत्वमत्र समानाकारत्वं सादृश्यपर्य्यवसितम् ।

अत्र श्रुतिं सम्वादयति—"तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतौ ज्ञातेति,—'तत्' पदमत्र "येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादि प्रागुपदर्शितब्रह्मसदृशे लाक्षणिकं ब्रह्माभेदस्य 'त्वं' पदवाच्यबोधितत्वात् । 'सोऽयं गकारः ।' 'तदौषधमिदं' इत्यादौ 'तत्' पदस्य प्रागबुद्धिस्थ-सदृशपरत्वदर्शनाच्च । साधकतममिति—ज्ञापकमित्यर्थः ।

अनुवाद—

जीवाख्य शक्तिविशिष्ट ब्रह्म का निरूपित अंश ही जीव है । जीवादि लक्षण अंशविशिष्ट होने से ब्रह्म भी उस का अंशी है, इस प्रकार किसी स्थान में उपनिषद्गण भी उपदेश करती रहती हैं । तब "सत्यं ज्ञानमनन्तं निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं" इत्यादि श्रुतिगण कहती हैं । उस का अर्थ जानना होगा कि—किसी शक्ति के प्रति लक्ष्य न करके ही केवल विशेष्य मात्र ब्रह्म को लक्ष्य करके ही उस प्रकार श्रुति कही है, सूत्र स्थानीय उक्त वाक्य के चतुर्थ पाद में जो कैवल्य पद है, उस का बोध यद्यपि आपाततः मायाकृत उपाधिशून्य शुद्ध स्वरूप में अवस्थित मोक्ष का ही होता है । तथापि इस ग्रन्थ में मुक्ति की अपेक्षा प्रेमाख्य भक्ति की ही उत्कर्षता है, वह ही शुद्ध भक्ति में पर्य्यवसित है, सुतरां "कैवल्य" शब्द को ही निखिल जीव के प्रयोजन स्थानीय शुद्धभक्ति को प्रेमरूप में प्रतिपादन प्रीतिसन्दर्भ में करेंगे । यह उक्ति श्रीसूत की उक्ति है ॥५२॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

सर्ववेदान्तसारं—प्राग्दर्शितोपनिषत्प्रतिपाद्यम्। साधकतमत्वं दर्शयति—तथेति। एष स इति—एष सूर्य्यांशतेजोमय इत्यर्थः। तथा चैतज्ज्ञानमुपमानविधया 'सूर्य्य एतादृशो महान्' इति ज्ञानं जनयति। एवमत्रापि 'त्वं ब्रह्मांशचिद्रूपः' इति ज्ञानमुपमानविधया ब्रह्मत्वं—'सदृशम्' इति ज्ञानजनकमित्यर्थः। तत्तत्साहश्यञ्च—चिद्रूपत्वे सति सर्ववृहत्तमत्वमिति। यद्वा,—'अनुसन्धीयते' इत्यनेन 'अनुमीयते' इत्यर्थः। अनुमानाकारश्च;—सूर्य्यः—एतत्सदृशमहाज्योतिर्मण्डलरूपः, एतदंशित्वे सति ज्योतिर्म्मयत्वादित्यादिरूप इति। तद्वदिति,—जीवस्य यद्ब्रह्मसादृश्यं तदपि ब्रह्मज्ञापकं, यथा ब्रह्म निरतिशयचेतनं त्वम्पपदवाच्यत्वांशित्वे सति 'चेतनत्वात्' इत्यादिरूपमनुमानमित्यर्थः। ननु ब्रह्मणो निरवयवस्य सर्वव्यापकस्यैकस्य जीवे कथमंशत्वसम्भवः? इत्यत आह,—'तदंशत्वञ्च' इति। तदचिन्त्यशक्तिविशेषसिद्धत्वेनेति—अचिन्त्यशक्तिविशेषो योगमायादिः, तत्सिद्धत्वेनेत्यर्थः। तथाच,—'अचिन्त्यशक्त्याऽनन्तजीवाश्रयः' इति जीवानामपि शक्तित्वात् तद्विशिष्टब्रह्मणोऽपि परमात्मपदवाच्यत्वात् तद्विशेषेण जीवानामपि परमात्मत्वमुपचर्य्यते इति जीवस्य सर्वशक्तिविशिष्टपरमात्मांशत्वं, 'एव' कारेण—केवलब्रह्मांशत्वव्यवच्छेद इति। तथा च—"सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः, सति विशेष्ये बाधे" इति न्यायेन विशेषणीभूतशक्तीनामेकस्य जीवस्य,—'ममैवांशो जीव-' इति भगवद्वचनादौ तदंशत्वेन बोधनं, यथा साधारणधनानां प्रत्येकं धनस्य लोकेऽंशत्वेन व्यवहारः; न तु चिद्घनानन्दस्वरूपैकदेशत्वरूपमंशत्वं तत्र बोध्यते, असम्भवादिति भावः। एवं योगमायादिशक्तीनामपि शक्तिविशिष्टनिरूपितमेव अंशत्वं बोध्यम्। तदिति—जीवानां जीवाख्यशक्तिविशिष्टब्रह्मनिरूपितांशत्वादेवेत्यर्थः। ब्रह्मणोऽपि जीवादिलक्षणांशविशिष्टतयैव—तद्वैशिष्ट्यावच्छेदेनैव, तस्य—ब्रह्मणः, अंशित्वमुपनिषदः क्वचिदुपदिशन्तीत्यर्थः। केवलतन्निष्ठेति—शक्त्यनवच्छिन्नब्रह्मनिष्ठेत्यर्थः। अत्र केचित् "ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्" इत्यस्य द्वन्द्वोत्तरत्वप्रत्ययेन ब्रह्मत्वात्मत्वैकत्वानि लभ्यन्ते; तानि लक्षणानि विशेषणानि यस्य तदित्यर्थः। तत्र ब्रह्मत्वं—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति० २, १, १) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (वृ०आ० ३,९,२८) इत्यादिश्रुत्या स्वाभाविकज्ञानसुखादिमत्त्वरूपं बोध्यम्। आत्मत्वं—"एष आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतम्" (वृ०आ० ३, ७, ३) इत्यादि श्रुत्या—

"अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशये स्थितः। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः" (गीता० १०, २०) इत्यादिश्रुत्या सर्वनियन्तृत्वादिरूपम्।

एकत्वञ्च—मुख्यत्वं निरतिशयत्वमिति यावत्; "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतेः। अद्वयत्वञ्च—असमत्वं, "स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः" इत्यादि श्रीभागवतात् "वस्तु वसत्यस्मिन् सर्वम्" इति व्युत्पत्त्या सर्वाधारमिति समुदितार्थः। यद्वा,—ब्रह्मेति विशेष्यं, आत्मैकत्वलक्षणमितिविशेषणम्, तदर्थश्च; आत्मनः—जीवस्य, स्वेन एकत्वं लक्षयति—प्रापयति स्वोपासनद्वारा—इति आत्मैकत्वलक्षणं, "सर्व्वे एकीभवन्ति" इति "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेः, तत्रैकत्वं—वास्तवमिति। द्वैताद्वैतवादिनस्तेषां संसारिता भेदः, मुक्तत्वदशायां भेदाभावः—इति कालविशेषावच्छेदेनैकत्रैव जीवानां भेदस्वीकारात्, वस्तुतः "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि श्रुत्यन्तरैकवाक्यतया युक्त्या च साम्यरूपमेकत्वं ब्रह्मणि जीवानां मुक्ततादशायां स्वीकारः, साम्यञ्च—स्वरूपावस्थानात्यन्तिकदुःखाभाव-नित्यसुखसाक्षात्काररूपम्। एवं ब्रह्मणि जीव-वैशिष्ट्यमपि नाधाराधेयभावरूपसम्बन्धः; किन्तु गगने भूतसम्बन्धवत् सम्बन्धमात्रं बोध्यते, "आकाशवत् सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" इति श्रुतेः। स च सम्बन्धः पुष्करपलाशे जलसम्बन्धवत् एकतानापादक इति। ब्रह्मणोऽसङ्गत्वश्रुतिसङ्गतिः—सङ्गशब्देन सम्यक्सम्बन्धस्यैकतापादकस्य विलक्षणस्य बोधनात् निर्विकारस्य ब्रह्मणस्तदसम्भवाच्च। तत्त्वमस्यादिवाक्यानि च "अहं ब्रह्मास्मि" इति भावनामयोपासनातात्पर्य्यकाणि, तथोपासकानां 'कीटपेपस्कृत्' न्यायेन निरुक्तब्रह्मैकचलाभो भवतीति प्राहुः। अत्रेति—

तत्र यदि त्वम्पदार्थस्य जीवात्मनो ज्ञानत्वं नित्यत्वञ्च प्रथमतो विचारगोचरः स्यात्तदैव तत्पदार्थस्य तादृशत्वं सुबोधं स्यादिति तद्बोधयितुं "अन्यार्थश्च परामर्शः" (ब्र०सू० १,३,२०) इति न्यायेन जीवात्मनस्तद्रूपत्वमाह ;—

"नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि ।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ।।" (भा० ११,३,३८)

आत्मा—शुद्धो जीवः, न जजान--न जातः ; जन्माभावादेव तदनन्तरास्तितालक्षणो विकारोऽपि नास्ति । नैधते--न वर्द्धते ; वृद्ध्यभावादेव विपरिणामोऽपि निरस्तः । हि--यस्मात्; व्यभिचारिणां--आगमापायिनां,--बालयुवादिदेहानां देवमनुष्याद्याकारदेहानां वा, सवनवित्--तत्तत्कालद्रष्टा ; नह्यवस्थावतां द्रष्टा तदवस्थो भवतीत्यर्थः । निरवस्थः

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

जीवात्मनि ज्ञाते परमात्मा सुज्ञातः स्यादित्युक्तं, तदर्थं जीवात्मानं निरूपयिष्यन्नवतारयति ;—तत्र यदीत्यादिना, अन्यार्थश्चेति ब्रह्मसूत्रम् । दहरविद्या छान्दोग्ये पठ्यते; "यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" (छान्दो० ८,१,१) इति । अत्रोपासकस्य शरीरं ब्रह्मपुरं, तत्र हृत्पुण्डरीकस्थो दहरः परमात्मा ध्येयः कथ्यते, तत्रापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकमन्वेष्टव्य-मुपदिश्यते इति सिद्धान्तितम् । तद्वाक्यमध्ये—"स एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूप-सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः" इति वाक्यं पठितम् । अत्र सम्प्रसादो—लब्ध-विज्ञानो

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

'सर्ववेदान्तसारम्' इत्यादिसूतवचने इत्यर्थः । कैवल्यशब्दस्यैकत्वे ब्रह्मैकत्वपर्य्यवसन्ने जीवस्य मायाकृतो-पाधित्यागेन स्वरूपावस्थानरूपशुद्धत्वे च मुख्यतया मुक्तिपरत्वमेव यद्यप्यायाति ; तथाप्यस्मिन् मुक्तेरप्य-धिकतया प्रेमाख्यभक्तेरुक्ततया तत्परतामाह,—कैवल्यपदस्येत्यादि । शुद्धभक्तत्वदशायामपि मायाराहित्य-रूपशुद्धसत्वेन सामान्यशब्दविशेषपरत्वाभिप्रायेण तत्पर्य्यवसानमुक्तं, मुख्यार्थकैकपदस्वरसात् मुक्ति-प्रयोजनकत्वमपि बोध्यम् ।।५२।।

ज्ञानत्वं—चिद्रूपत्वं, चेतनमिति यावत् । नित्यत्वं विना ब्रह्मांशत्वं न निर्वहतीत्यभिप्रायेणाह—नित्यत्वमिति । तस्य—ब्रह्मणः, तादृशत्वं—निरुक्तजीवतुल्यत्वं तद्बोधयितुमिति । अन्यार्थः—तदन्यार्थः,

अनुवाद—

देह से आत्मा का पार्थक्य,—जीवात्मा स्वरूप ज्ञान होने से परमात्मा का ज्ञान भी सुलभ होता है । तज्जन्य जीवात्मा निरूपण प्रकरण का आरम्भ करते हैं । परमात्मा निरूपण विषय में यदि उक्त "तत्त्वमसि" वाक्यस्थ 'त्वम्' पदार्थ लक्षित जीवात्मा का प्रथमतः चिद्रूपत्व एवं नित्यत्व बोध होता है, अर्थात् 'जीव नित्य होने से ही' ब्रह्म का अंश है । 'तत्' पद द्वारा परिलक्षित परमात्मा का ज्ञान स्वरूपत्व नित्यत्व का बोध सहजात होता है । इस को सूचित करने के निमित्त "अन्यार्थश्च परामर्शः" (ब्र० सू० १।३।२०) सूत्रानुसार जीवात्मा का स्वरूप को कहते हैं ।

आत्मा जन्म ग्रहण नहीं करता, उस की मृत्यु भी नहीं होती, वृद्धि नहीं होती, वह क्षयप्राप्त नहीं होता है, कारण देहादि जिस प्रकार व्यभिचार युक्त, आत्मा उस प्रकार नहीं है । आत्मा,—समस्त पदार्थों का साक्षीस्वरूप एवं ज्ञानवान् है । सर्वदा समस्त देह में विद्यमान होकर प्राण जिस प्रकार एकरूप है, उस प्रकार ज्ञान एवं वृत्ति विशेष से अनेक रूप में प्रतीयमान होने से भी वास्तविक उन का एकरूपत्व की हानि नहीं होती है । उल्लिखित भागवतीय श्लोक में आत्मा शब्द से शुद्ध जीव को जानना होगा । जीव जन्म

कोऽसावात्मा ? अत आह, उपलब्धिमात्रं--ज्ञानैकरूपम् । कथम्भूतम् ? सर्वत्र--देहे, शश्वत्--सर्वदा अनुवर्त्तमानमिति । ननु नीलज्ञानं नष्टं, पीतज्ञानं जातम्, इति प्रतीतेर्न ज्ञानस्यानपायित्वम् ? तत्राह,--इन्द्रियबलेनेति, सदेव ज्ञानमेकमिन्द्रियबलेन विविधं कल्पितम् । नीलाद्याकारा वृत्तय एव जायन्ते नश्यन्ति च, न ज्ञानमिति भावः । अयमागमापायितदवधिभेदेन प्रथमस्तर्कः । द्रष्टृ-दृश्यभेदेन द्वितीयोऽपि तर्को ज्ञेयः । व्यभिचारिष्ववस्थितस्याव्यभिचारे दृष्टान्तः--प्राणो यथेति ॥५३॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

जीवस्तेन यत् परं ज्योतिरुपपन्नं स एव पुरुषोत्तम इत्यर्थः । दहरवाक्यान्तराले जीवपरामर्शः किमर्थम् ? इति चेत्तत्राह,—अन्यार्थ इति । तत्र जीवपरामर्शोऽन्यार्थः । यं प्राप्य जीवः स्वस्वरूपेणाभिनिष्पद्यते ; स परमात्मेति,--परमात्मज्ञानार्थ इत्यर्थः । न जजानेति,—'जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति च' इति भावविकाराः षट् पठिताः ते जीवस्य न सन्ति इति समुदायार्थः । ननु नीलज्ञानमित्यादि-ज्ञानरूपमात्मवस्तु ज्ञातृ भवति, प्रकाशवस्तु सूर्य्यः प्रकाशयिता यथा । ततश्च स्वरूपानुबन्धित्वाज्ज्ञानं

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

परामर्श्यः—'परामृश्यते' इति व्युत्पत्त्या—परामर्शविषयः ; निरूपणविषय इति यावत् । नात्मेति— शरीर-विशिष्टस्य जन्यत्वव्यवहारेणाह—शुद्ध इति । तदनन्तरास्तित्वलक्षणेति,—जन्यानामपि जन्मपूर्वं सत्ता-नामास्तित्वाभावादाह—तदनन्तरेति, विपरिणामः—रूपान्तरापत्तिः ह्रासश्च, ज्ञानैकरूपमिति स्वाभाविक-ज्ञानवत् । एतेन जीवज्ञानस्यापि नित्यत्वं, जीवस्य महत्त्वं नास्तीति ब्रह्मतो भेदः । ज्ञानस्यानपायित्वमिति ज्ञानस्यापायित्वे नित्यस्य जीवस्य न ज्ञानस्वभावतासम्भव इति भावः । विविधं कल्पितमिति—इन्द्रियाणां विषयसम्बन्धेन जायमानविषय-विशेषाकारमनो-वृत्तिवैशिष्टचेन विविधं कल्पितं, न तु वास्तवम् । विशेषेण जन्मविनाशाभिप्रायेण विशिष्टज्ञानजन्यनाश इति नीलाद्याकारा इति । देहस्यागमापायधर्मः ; आत्मनश्च

अनुवाद—

ग्रहण नहीं करता है, अतः जन्म के अनन्तर जीव का सत्ता नामक अस्तिता लक्षण विकार भी निरस्त हुआ । वृद्धि नहीं है,—कहने से जीव का विपरिणाम (रूपान्तर प्राप्ति) नामक विकार निषिद्ध हुआ । कारण,—आत्मा, व्यभिचारी (ह्रासवृद्धियुक्त) बालक युवादि देह का अथवा देवता मनुष्य प्रभृति आकार विशिष्ट देह का स्रष्टा साक्षी है, सुतरां छह प्रकार देह की अवस्था का जो द्रष्टा है, वह कभी भी तत्तत् अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता है । अवस्था शून्य आत्मा कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं,—उपलब्धि मात्र स्वाभाविक ज्ञानवान् आत्मा ही अवस्था शून्य है, किस प्रकार ? जीव समस्त देह में अवस्थित होकर भी देह धर्म से युक्त नहीं है । सन्देह हो सकता है कि—जीव का ज्ञान नित्य है, अथवा अनित्य ? नील वस्तु ज्ञान के पश्चात् पीत ज्ञान से नील ज्ञान नष्ट हो जाता है, तब ज्ञानमें अविनाशित्व होना कैसे सम्भव होगा ? उस का निरास करते हुए कहते हैं—एक नित्य ज्ञान ही इन्द्रिय बल से विविध प्रकार कल्पित होता है, अर्थात् नील-पीतादि की वृत्ति उत्पन्न होती है, एवं नष्ट होती है । किन्तु ज्ञान कभी भी नष्ट नहीं होता है ।

यहाँ पर तर्क दो है, प्रथम,—आगमापायि भेद से अर्थात् देह का जन्म एवं नाशरूप धर्म है, आत्मा का उस प्रकार धर्म नहीं है । विरुद्ध धर्मद्वय का समावेश एकत्र नहीं हो सकता है । इस प्रकार तर्क उभय भेद का साधक है । द्वितीय,—द्रष्टृ दृश्य भेद से है । जो ज्ञान अपने को प्रकाश कर अपर को प्रकाश करता है, तादृश ज्ञानवान् वस्तु द्रष्टा है, जो वस्तु अपर के ज्ञान द्वारा प्रकाश्य है, इस प्रकार अचेतन वस्तु दृश्य है । सुतरां उक्त पदार्थद्वय का परस्पर विरोध होने से उभय का भेद साधक इस प्रकार तर्कद्वय की सूचना इस श्लोक द्वारा हुई है ॥५३॥

दृष्टान्तं विवृण्वन्निन्द्रियादिलयेन निर्विकारात्मोपलब्धिं दर्शयति ;—

"अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥" (भा० ११, ३, ३९)

अण्डेषु—अण्डजेषु । पेशिषु—जरायुजेषु । तरुषु—उद्भिज्जेषु । अविनिश्चितेषु—स्वेदजेषु उपधावति—अनुवर्त्तते । एवं दृष्टान्ते निर्विकारत्वं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकेऽपि दर्शयति, कथं ? तदैवात्मा सविकार इव प्रतीयते, यदा जागरे इन्द्रियगणः, यदा च स्वप्ने तत्संस्कार-वानहङ्कारः । यदा तु प्रसुप्तं, तदा तस्मिन् प्रसुप्ते, इन्द्रियगणे सन्ने—लीने, अहमि—

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

तस्य नित्यं, तस्येन्द्रियप्रणाल्या नीलादिनिष्ठा या विषयता वृत्तिपदवाच्या,सैव नीलाद्यपगमे नश्यतीति ॥५३॥

दृष्टान्तमिति,—प्राणस्य नानादेहेष्वैकरूप्यान्निर्विकारत्वमित्यर्थः । तस्मिन्—आत्मनि । उपाधेः—लिङ्गशरीरस्य, अभावात्—विश्लेषादित्यर्थः । तदाप्यतिसूक्ष्माया वासनायाः सत्त्वान्मुक्तेरभाव इति ज्ञेयम् । प्राकृताहङ्कारे लीनेऽपि स्वरूपानुबन्धिनोऽहमर्थस्य सत्त्वात्तेन 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति विमर्शो भवतीति प्रतिपादयितुमाह ;—नन्वित्यादि । शून्यमेवेति—अहंप्रत्ययं विनात्मनोऽप्रतीतेरिति भावः ।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

तद्बाधः । तदभावः—इति विरुद्धधर्मयोरेकत्र समावेशाभावरूपस्तर्कस्तयोर्भेदसाधक इत्यर्थः । द्रष्टृत्वं—स्व-परप्रकाशकज्ञानवत्त्वं, दृश्यत्वं—अन्यनिष्ठज्ञानप्रकाश्यत्वम् । अचेतनत्वमिति—तयोर्विरोधनिबन्धन-स्तयोर्भेदसाधको द्वितीयस्तर्कः इति श्लोकेनानेन सूचित इति भावः ॥५३॥

सविकार इवेति—मनोवृत्तिसम्बन्धेन सविकार इव प्रतीयते, न तु तत्प्रतीतिर्वास्तविकीति भावः । वास्तवविकाराभावं दर्शयितुमाह,—यदातु प्रसुप्तमिति । निर्विकार इति—तथा च तदानीं विकारहेतोर-भावात् स्वाभाविकज्ञानेनैव परमात्मानुभवो वक्तव्य इति तज्ज्ञानस्यैव जाग्रत्स्वप्नदशायां मनोवृत्तिवैशिष्टयेन विषयप्रकाशकत्वं, न तु तदानीमात्मनि ज्ञानं जायत इति निर्विकारत्वमात्मन इति भावः । सुषुप्तिसाक्षिणः सुषुप्तिदशायां जीवं स्वसुखमनुभावयितुर्ब्रह्मणः । श्रुतौ पश्यन्निति 'परमात्मानम्' इत्यादिः । सुखं—ब्राह्म्यं

अनुवाद—

आत्मा शरीर में वर्त्तमान रहता है, किन्तु उस का व्यभिचार नहीं होता है, अर्थात् विकार नहीं होता है । दृष्टान्त—प्राण जिस प्रकार अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज चार प्रकार से भेदयुक्त शरीर में विद्यमान होकर भी स्वयं अविकार रूप में जीव का अनुवर्त्ती होता है, उस प्रकार आत्मा भी निर्विकार रहता है, किन्तु सविकार के समान प्रतीत होता है । जिस प्रकार समस्त इन्द्रिय अहङ्कार के सहित लीन होती है, उस प्रकार विकार हेतु उपाधि के अभाव से आत्मा निर्विकार रहता है, तब हमारी स्मृति अखण्ड सुषुप्ति साक्षी आत्मा की होती है ।

उक्त श्लोक में—"अण्ड" शब्द से अण्डज, "पेशि" शब्द से जरायुज, "तरु" शब्द से उद्भिज्ज, एवं "अविनिश्चित" शब्द से स्वेदज कहा गया है । "उपधावन" शब्द का अर्थ—अनुवर्त्तन, अर्थात् प्राण उक्त अण्डजादि चार प्रकार देह में एकरूप से वर्त्तमान होने से निर्विकार है । इस प्रकार दृष्टान्त प्राण में दिखा कर, दार्ष्टान्तिक जीवात्मा में दिखा रहे हैं । जाग्रत अवस्था में जिस समय इन्द्रियगण जाग्रत रहतीं हैं, एवं स्वप्नावस्था में जब स्थूल सुप्त होने से सूक्ष्म देह जाग्रत रहता है, तब जाग्रत देह का संस्कार युक्त अहङ्कार वर्त्तमान होने से आत्मा सविकार के समान प्रतीत होता है । अर्थात् जीवात्मा का सम्बन्ध मनोवृत्ति के सहित होने से सविकार के समान प्रतीत होता है । वास्तविक उस का विकार नहीं होता है । किन्तु जब स्थूल सूक्ष्म उभय देह ही प्रसुप्त हो जाते हैं, एवं इन्द्रिय-अहङ्कार पर्यन्त लीन होता है, तब आत्मा ही

अहङ्कारे च सन्ने—लीने, कूटस्थः—निर्विकार एवात्मा। कुतः? आशयमृते—लिङ्ग-शरीरमुपाधिं विना, विकारहेतोरुपाधेरभावात् इत्यर्थः। नन्वहङ्कारपर्य्यन्तस्य सर्वस्य लये शून्यमेवावशिष्यते, क्व तदा कूटस्थ आत्मा? अत आह, तदनुस्मृतिर्नः; तस्य—अखण्डात्मनः सुषुप्तिसाक्षिणः स्मृतिः नः—अस्माकं जाग्रद्द्रष्टॄणां जायते;— "एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं, न किञ्चिदवेदिषम्" इति। अतोऽननुभूतस्य तस्यास्मरणादस्त्येव सुषुप्तौ तादृगात्मानुभवः, विषयसम्बन्धाभावाच्च न स्पष्ट इति भावः। अतः स्वप्रकाशमात्रवस्तुनः सूर्य्यादेः प्रकाशवदुपलब्धिमात्रस्याप्यात्मन उपलब्धिः—स्वाश्रयेऽस्त्येवेत्यायातम् तथा च श्रुतिः;—

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका।

अखण्डात्मन इति—अणुरूपत्वाद्विभागानर्हस्येत्यर्थः। ननु स्वापादुत्थितस्यात्मनोऽहङ्कारेण योगात् 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति विमर्शो जागरे सिध्यति, सुषुप्तौ तु चिन्मात्रः सः? इति चेत्तत्राह,—अतोऽननुभूतस्येति। अनुभव-स्मरणयोः सामानाधिकरण्यादित्यर्थः। तस्मात्तस्यामपि—'अनुभवितैवात्मा' इति

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

सुखम्। सुखान्तरस्य सामग्रीविरहेण तदानीमभावात्, "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्" इति श्रुतेः। "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति, प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" (वृ०आ० ४, ३, २१) इति। अत्र सुषुप्तस्याधारतया प्रसिद्धो जीवादर्थान्तरभूतः। "प्राज्ञः परमात्मा" इति रामानुजभाष्यम्। अस्य परमात्मनस्तदानीं जीवसुखानुभव-हेतुत्वात् तदानीं श्वासहेतुप्राणसञ्चारहेतुत्वात् पुनर्ज्जागरण-हेतु-शब्दश्रवणादिबोध-हेतुत्वाच्च साक्षित्वं, जीवस्य च तन्नियम्यत्वेन साक्ष्यत्वमिति तयोर्विरोध-निबन्धनस्तर्कः परमात्मजीवात्मनोर्भेदसाधकः। अत्रेदमवधेयम्, सुषुप्तौ देहेन्द्रियादेर्लयोऽद्वैतमतं, वस्तुतस्तेषां लयोत्थापने गौरवान्मानाभावाच्च। एवञ्च 'सन्ने' इत्यस्य क्रियारहिते इत्यर्थः, तत्क्रियाहेत्वात्ममनो—योगविरहात्। अहमि—अन्तःकरणे, मनसीति यावत्। प्रसुप्ते—पुरी-तन्नाड्यां गत्वा निश्चलतया स्थिते। "अथ सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हितानाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते, स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते" (वृ०आ० २, १, १९) इति वृहदारण्यकोपनिषदः। तदानीं मनसात्म-संयोगाभावान्न

अनुवाद—

निर्विकार अवस्था में रहता है। अर्थात् उस समय विकार का कारण—उपाधिरूप लिङ्गशरीर नहीं रहता है, सुतरां स्वाभाविक ज्ञान का उदय होने से परमात्मा का अनुभव होता है। स्वप्नावस्था में उक्त ज्ञान ही मनोवृत्ति विशिष्ट होता है, तज्जन्य—वह विषय प्रकाशित होता है, आत्मोपलब्धि का कारण नहीं होता है। अतः उक्त अवस्था में ही आत्मा को निर्विकार कहा जाता है। इस समय भी वासना अति सूक्ष्मावस्था में रहती है, अतः जीव की मुक्ति नहीं होती, यहाँ आशङ्का हो सकती है कि,—यदि अहङ्कार पर्य्यन्त समस्त पदार्थ लय हो जाते हैं, तब तो अवशेष शून्य मात्र ही रहता है, उस समय कूटस्थ आत्मा की प्रयोजनीयता ही क्या है? उत्तर में कहते हैं,—प्राकृत अहङ्कार लीन होने से भी जीव का स्वरूप सम्बन्धि अहम्प्रत्यय रहता है, तब निद्राभङ्ग होने से "मैं इस समय पर्य्यन्त निद्रित था, कुछ भी जान नहीं सका।" इस प्रकार उस सुषुप्ति साक्षी अखण्डात्मा का जो सुषुप्ति दशा में जीव को सुखानुभव कराते हैं, उस ब्रह्म का अनुभव होता है। इस प्रकार कह नहीं सकते—जाग्रत होने से ही अहङ्कार उपस्थित होता है, उस समय "आनन्द से निद्रित था", इत्यादि परामर्श हुआ। सुषुप्ति में वह चिन्मय है! तब वह अनुभूति कैसे होती है? कारण जो वस्तु कभी भी अनुभूत नहीं हुई है, उस का स्मरण नहीं हो सकता है। एवं अनुभव भी जीव

"यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै द्रष्टव्यान्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (वृ०आ० ४,३,२३) इति।

अयं साक्षि-साक्ष्यविभागेन तृतीयस्तर्कः। दुःखि-प्रेमास्पदत्वविभागेन चतुर्थोऽपितर्कोऽवगन्तव्यः ॥५४॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

सिद्धम्। ननूपलब्धिमात्रमित्युक्तं, तस्योपलब्धृत्वं कथं? तत्राह,—अत इत्यादि। यद्वै इति—तदात्मचैतन्यं कर्त्तृ सुषुप्तौ न पश्यतीति यदुच्यते, तत् खलु द्रष्टव्यविषयाभावादेव, न तु द्रष्टृत्वाभावादित्यर्थः। स्फुटमन्यत्॥५४

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ज्ञानसुखादिरूपमनोवृत्त्युत्पत्तिरिति तदानीं ब्रह्म-सुखानुभवः, तद्विरोधिमायाकृतावरणाभावात्। एवं सूर्य्यस्य प्रकाशात्मत्वं न प्रकाश्यत्वं, प्रकाशप्रकाशिनोर्भेदप्रतीतेः, किन्तु पृथिव्यादेर्न स्वतःप्रकाशः किन्तु तैजसालोकसम्बन्धात् क्वाचित्कः। सूर्य्यादेस्तु स्वतःप्रकाशः सार्वदिकः—इत्येवं स्वाभाविकप्रकाशप्रचुरः सूर्य्य इति। तथा च जीवस्यापि न ज्ञानरूपता, ज्ञानस्य निष्क्रियतया 'आत्मानो व्युच्चरन्ति' इति श्रुति-सिद्धव्युच्चारणासम्भवात् किन्तु स्वाभाविकज्ञानवत्ता यथा ब्रह्मणः, तत्र ब्रह्म-जीवयोर्नैकं ज्ञानं—"यस्य भासा सर्वमिदं विभाति यः सर्वज्ञः" (मुण्ड० २, २, १) इत्यादि श्रुत्या 'जीवोऽल्पशक्तिरल्पज्ञः' इत्यादि श्रुत्या च तयोर्ज्ञानवैलक्षण्यावगमात्। एवं ब्रह्मज्ञानस्याप्रतिरुद्धत्वं; जीवस्य च मायाप्रतिरुद्धज्ञानत्वं, 'तज्ज्योतिषां ज्योतिः' (वृ०आ० ४, ४, १६) इत्यादि श्रुत्या ब्रह्माधीनज्ञानत्वञ्चेति जीवानामपि मिथो विभिन्नज्ञानत्वं सकलज्ञानसाधारणमेकं ज्ञानत्वमादाय ब्रह्म-जीवयोः साजात्यं वर्णनीयम्। अथ जीवात्मनः किं वाह्य-विषयकमनः-परिणामविशेषवृत्त्याख्या-कल्पनेनात्मन्येवात्ममनःसंयोगादिना ज्ञानोत्पाद एव स्वीक्रियते। न चात्मनो विकारित्वापत्तिरिति वाच्यम्। प्रतिविम्वपक्षस्यावच्छेदकपक्षस्य च दूषितत्वात् मनोवृत्तिपक्षेऽपि जीवात्मनि तत्सम्बन्धस्वीकार आवश्यकः कथमन्यथा तदुपहितत्वं जीवज्ञानस्येति तत्सम्बन्धस्यापि

अनुवाद—

ही करता है, यह अवश्य स्वीकार करना होगा। तव इदानीं विषय सम्बन्ध का अभाव होने से उक्त अनुभव सुस्पष्ट नहीं होता है।

अपर एक आशङ्का हो सकती है,—आत्मा की उपलब्धि मात्र कहा गया है, उस में उपलब्धृत्व धर्म्म कैसे रह सकता है? उत्तर में कहते हैं,—सूर्य्यादि स्वप्रकाश वस्तु है, उस का प्रकाश धर्म के समान उपलब्धि मात्र आत्मा का भी स्वीय आश्रय स्वरूप में जो उपलब्धि (ज्ञान) होती है, वह स्वतः ही अनुभूत है। श्रुति भी इस प्रकार है,—आप प्रसिद्ध दर्शक के समान विद्यमान विषयसमूह को नहीं देखते हैं। कारण द्रष्टव्य वस्तु को देखकर नहीं देखते हैं। उन द्रष्टा पुरुष की दृष्टि का लोप कभी भी नहीं होता है। सुषुप्ति काल में आत्मा कुछ भी नहीं देखता है, उस का कारण—तदानीन्तन द्रष्टव्य विषय का अभाव ही है। यह है—साक्षी परमात्मा, एवं साक्ष्य जीवात्मा—इस विभाग द्वारा तृतीय तर्क है। दुःखी प्रेमास्पद द्वारा उभय विभक्त होने से चतुर्थ तर्क होता है, अर्थात् जीवात्मा दुःखी, परमात्मा परमप्रेमास्पद है, यह तर्क ही उभय में वास्तव भेद का साधक है ॥५४॥

सारार्थः—सुषुप्ति अवस्था में जो देहेन्द्रियादि का लय होता है—यह सिद्धान्त अद्वैतमत का है। वस्तुतः पुनः पुनः इन्द्रियादि का लय एवं व्युत्थान विषय में कोई प्रमाण नहीं है। सुतरां मूलस्थ "सन्ने" शब्द से "क्रिया रहित" अर्थ करना ही समीचीन है, कारण,—आत्म मनः संयोग व्यतीत इन्द्रिय में कोई क्रिया नहीं होती है। अतः वह क्रिया रहित है। मूलस्थ "अहमि" पद से अन्तःकरण --मन को जानना होगा। अर्थात् सुषुप्ति के समय मन "पुरीतति" नामक नाड़ी में प्रविष्ट होकर निश्चल होता है, तव मन के सहित आत्म मनःसंयोग का अभाव होने से ज्ञान सुखादिरूप मनोवृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती है। केवल ब्रह्मसुख का अनुभव ही होता है, कारण उस समय उक्त सुख का बाधक मायाकृत आवरण नहीं रहता है ॥५४॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

जन्यतया जन्यधर्मानाश्रयत्वरूपं निर्विकारत्वं वक्तुमशक्यं, किन्तु जन्म-मरण-ह्रास-वृद्धिरूपान्तरापत्तिरूप-विकारशून्यत्वं वक्तव्यं ; तच्चात्मनि ज्ञान-सुखाद्युत्पादेऽपि न क्षतिः । सुषुप्तिदशायाञ्च ज्ञानोत्पादकसामग्री-विरहे नित्यज्ञानान्तरमपि स्वीकार्य्यं, संसारितादशायां तत्सत्त्वेऽपि ज्ञानान्तरोत्पत्तौ बाधकाभावात्तदानीं मायाया असत्कल्पत्वात् । सुषुप्तिदशायां मुक्ततादशायाञ्च नानाजन्यज्ञानकल्पने गौरवात् । संसारिता-दशायां ज्ञानस्य कादाचित्कतया प्रामाणिकत्वात् नानाकल्पनं न दूषणम्, न च जीवस्य ब्रह्म-साक्षात्कारज्ञान-स्वप्रकाशताभङ्ग इति वाच्यम् । जीवस्य तदधीनज्ञानत्वेनापि स्वप्रकाशतोपपत्तेः—"भक्त्याहऽमेकया ग्राह्यः" इति वचनबलात् तथा कल्पनात् । एवं जीवस्य जन्यज्ञानानभ्युपगमे संस्कारानाश्रयत्वमप्यात्मनो वाच्यम् इति, सुषुप्तौ ब्रह्मानुभवेन कुत्र संस्कारो जननीयः ? संस्काराजनने सुषुप्त्यनन्तरं 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति स्मरणानुपपत्तिः, स्मृतेः संस्कारजन्यत्वात् । न च सुषुप्तौ मायावृत्तिभिरतिसूक्ष्माभिरावरकज्ञान-निवृत्त्यात्मसाक्षात्कार इति वाच्यम्, मायावृत्तिजनितसंस्कारस्य विद्यायामेव सम्भवेन, मनसि तदसम्भवेन च जाग्रद्दशायां 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति स्मरणस्य मनस्यसम्भवात् । न च—सुषुप्तौ मनोवृत्तिरप्यस्ति, संस्कारोऽपि मनस्येव कल्पनीयः, मुक्तौ ब्रह्मसुखानुभवानुरोधेन नित्यज्ञानस्याप्यङ्गीकारादिति वाच्यम्, सुषुप्तौ तु शुद्धज्ञानेनैव ब्रह्मसुखविषयीकरणस्य श्रुतत्वात्, अन्तःकरणवृत्त्युपहितचैतन्येन तद्विषयीकरणे वृत्तेरपि तत्र ज्ञानस्वीकारे द्वैतभानापत्तेः । यदि च सुषुप्तौ न मनसो लयः, अभिमानव्यापारकाहङ्कारस्यैव लय इति, तदानीं स्थूलसूक्ष्मदेहाभिमानविरहेणेतरविषयाग्रहणं ब्रह्माकारा वृत्तिर्मनसो जायते इत्युच्यते ; तदापि निरुक्तज्ञानाद्युत्पत्तिस्वीकारे यथाश्रुतसंसारिता-मुक्ततयोरुपपत्तेः इति, किं मनोवृत्तिवैशिष्ट्यकल्पनया तयोरुपादानस्यायुक्तत्वापत्तेरिति, "मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादयुगाश्रयाः" (भा० १०,४८,६७) इत्यादौ वृत्तिपदस्य जन्यज्ञानपरत्वान्न मनः-परिणामरूपवृत्तिकल्पनं, मनसा आत्मनि ज्ञानस्यैव जननात्—इति न कल्पनागौरवम् इति ।

एवञ्च श्लोकद्वयव्याख्यायां—सदेव नित्यमेव ज्ञानमेकं, एवकारेण—'नित्यान्यज्ज्ञानमनेकम्' इत्यस्य लाभः । अत्र तात्पर्य्यवशात्एव-कारादिकं पूरितं, विविधं नानाविधज्ञानवृत्त्येकधर्मवत् जन्यज्ञानानां नित्यैकज्ञानस्य च सविषयकत्वसाम्यात् 'जानामि' इत्यनुव्यवसायाच्च तेषु ज्ञानत्वमेकं सिद्धमिति भावः । वृत्तय एवेति—इन्द्रियवृत्तिसापेक्षाण्येव ज्ञानानीत्यर्थः । न निरुक्तं ज्ञानं कथमित्यादिसंस्कारवानऽङ्कार इत्यन्तं पूर्वपक्षः । यद्वा—कथमिति कथं निर्विकारत्वम् ? हर्ष-शोकादिविकारदर्शनादित्यर्थः । शङ्कां भावार्थद्वारा निवर्त्तयन्नाह—तदैवेति । विकारहेतोरुपाधेरभावादिति—विकाराश्रयस्योपाधेरभावादित्यर्थः । यथाश्रुतासङ्गतेः । जाग्रत्स्वप्नदशायां विकारहेतुसत्त्वप्रतीतेर्विकार एव प्रतीयते, नतु सविकार इवेति । तथाच,—जाग्रत्स्वप्नदशायामुपाधिविकार आत्मनि प्रतीयते इति भावः ।

अथ यथाश्रुतोऽर्थो मायावादमत एव सङ्गच्छते, स्वमते तु—'आत्मा कथं निर्विकारः, लिङ्गशरीरस्य स्वाभाविकत्वेन लिङ्गशरीररूपत्वात् ? इत्यत आह—सन्न इत्यादि, आशयमृते कूटस्थः कालव्यापी आत्मा वर्त्तत इत्यर्थः । तथाच लिङ्गशरीरं नात्मनः स्वाभाविकं, व्यभिचारादिति भावः । ननु तदानीमात्मसत्त्वे किं मानम् ? इत्यत आह, तदनुस्मृतिर्न इति । अस्यार्थो विवृत एवेति, अथ ज्ञानं जीवस्यैकं नित्यं, विकाराभिमानात्मनो जन्यं ज्ञानं मन्यते किन्तु मनःपरिणामवृत्तिविशेषस्य परम्परासम्बन्धेन नित्यज्ञान-विशेषणतया तद्विशिष्टस्य घटादिभासकत्वम् । एवं कृतीच्छाद्वेषदुःखसंस्कारा अपि मनोविकारविशेषाः स्वरूपसम्बन्धेनात्मनि वर्त्तन्ते । ज्ञानमिव सुखमप्यात्मनो नित्यधर्मः ; ब्रह्मांशत्वात्, 'स्वसुखनिभृतचेताः' इत्यादि वचनाच्च । तच्च सुखं ब्रह्मानुभवादेव प्रकाशते, अन्यदा त्वात्मनो मायामलिनतया न तत् प्रकाशः, अतएव तत्सुखानुभवरूपमुक्तिमपेक्ष्य भगवत्सेवासुखस्याधिक्यं, संसारितादशायाञ्च मनोवृत्तिविशेष-सहकारेण तत्सुखांशाविर्भावस्वीकारात्—इति चेत्, 'जानामि' इत्याद्यनुभवेन ज्ञानविशेषानवगाहनात्

तदुक्तम् ;—"अन्वयव्यतिरेकाख्यस्तर्कः स्याच्चतुरात्मकः। आगमापायि-तदवधिभेदेन प्रथमो मतः ॥
द्रष्टृदृश्यविभागेन द्वितीयोऽपि मतस्तथा। साक्षिसाक्ष्यविभागेन तृतीयः सम्मतः सताम् ॥
दुःखिप्रेमास्पदत्वेन चतुर्थः सुखबोधकः। भा० ११।३ इति श्रीपिप्पलायनो निमिम् ॥५५॥

एवम्भूतानां जीवानां चिन्मात्रं यत् स्वरूपं, तथैवाकृत्या तदंशित्वेन च, तदभिन्नं यत् तत्त्वं तदत्र वाच्यम् इति व्यष्टिनिर्द्देशद्वारा प्रोक्तम्। तदेव ह्याश्रयसंज्ञकम्। महापुराण-

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

पद्ययोर्व्याख्याने चत्वारस्तर्का योजितास्तानभियुक्तोक्ताभ्यां सार्द्धकारिकाभ्यां निर्द्दिशति ;—अन्वयेति। तर्कशब्देन तर्काङ्गकमनुमानं बोध्यम्। आगमापायिनो दृश्यात् साक्षाद्दुःखास्पदाच्च देहादेरात्मा भिद्यते। तदवधित्वात्, तद्द्रष्टृत्वात्, तत्साक्षित्वात्, प्रेमास्पदत्वाच्चेति क्रमेण हेतवो नेयाः। व्यतिरेकश्चोह्यः॥५५॥

ईश्वरज्ञानार्थं जीवस्वरूपज्ञानं निर्णीतम्। अथ तत्साहश्येनेश्वरस्वरूपं निर्णेतुं पूर्वोक्तं योजयति ;—एवम्भूतानामित्यादिना। चिन्मात्रं यत् स्वरूपमिति—चेतयितृ चेति बोध्यं, पूर्वनिरूपणात्। तथैवाकृत्येति

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

निरुक्तयुक्त्यैवोपपत्तौ किं निरुक्तनानाविधकल्पनेनेति। जीवात्मनि नित्यसुखाङ्गीकारेऽपि ज्ञानवज्जन्य-सुखस्यापि स्वीकारात्, एवं भगवच्छरीरस्य तदिन्द्रियादीनाञ्च नित्यतया निर्विकारतया—'वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे' (भा० ०, २९, १) इत्यादिषु भगवतो जन्यज्ञानस्यापि श्रवणात् तत्र कुत्र तज्जननीयं? तस्य तन्मनसश्च निर्विकारत्वादिति निरुक्तक्रमेण जन्यज्ञानादिस्वीकारेऽपि विकारित्वाभाव इति।

अत्रेदं बोध्यम्—ब्रह्मणो ज्ञान-सुख-महत्त्वैकत्वानि चत्वारि स्वरूपभूतगुणाः, संयोग-विभागौ तटस्थौ सर्वमतसिद्धौ, इच्छा-कृत्योः कार्य्यानुकूलयोस्तटस्थत्वमद्वैतवादिनः प्राहुः। द्वैतवादिनां मते तयोरपि स्वरूपः-सद्गुणः, 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति श्रुतेः। तत्र बलं इच्छा तस्या अप्रतिहतत्वेन बलत्वोपचारात्। क्रिया—कृतिः, कृधातुनिष्पन्नत्वात्, "गुणैः स्वरूपभूतैस्तु गुण्यसौ हरिरीश्वरः" इति माध्वभाष्यधृतवचनाच्च। अन्येच गुणा भगवत्त्वनिरूपणे विवरणीया इति। जीवात्मनस्तु नित्यसुखे मानाभावः, सुषुप्तौ मुक्तौ च ब्रह्मसुखानुभवस्य श्रुतत्वात् 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड०३,२,९) इति श्रुत्या तु तथैव तात्पर्य्यविगमात्, "सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणा हताः" इति रसामृतसिन्धुधृतवचनाच्च। "स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावः" इत्यादौ यत् 'स्वसुख' इत्युक्तं, तत्तस्य मुक्तस्य शुकस्य ब्रह्मध्यानावस्थितस्य ब्रह्मसुखे स्वीयत्वोपचारादिति ॥५४-५५॥

अनुवाद—

"नात्मा जजान" एवं "अण्डेषु पेशिषु" इत्यादि पद्यद्वय की व्याख्या में तर्क चतुष्टय का उल्लेख हुआ है, अभियुक्तकी कारिका द्वारा उस का प्रदर्शन करते हैं—

अन्वय व्यतिरेक नामक तर्क चार प्रकार है, आगम—जन्म एवं अपाय—नाश, एवं उक्त अवस्थाद्वय व्यतीत अवस्था के भेद से प्रथम तर्क (अनुमान) है। द्रष्टा एवं दृश्य भेद से द्वितीय तर्क। साक्षी एवं साक्ष्य विभाग से तृतीय तर्क, दुःखी प्रेमास्पद भेद से चतुर्थ तर्क है। अर्थादि देहादि--स्वतः ही जन्म मरणादि विशिष्ट है। दृश्य एवं दुःखास्पद होने से आत्मा से भिन्न है, कारण—आत्मा जन्म-मरणातीत, द्रष्टा, देहादि का भेद स्वाभाविक है। अपर पक्ष में जीवात्मा—दुःखी, परमात्मा—परमप्रेमास्पद, जीव—साक्ष्य, परमात्मा—साक्षी, इत्यादि अंश में जीव के सहित परमात्मा का भेद भी उक्त श्लोकद्वय से अनुमित है। उक्त वाक्यद्वय का वक्ता नव योगीन्द्र के अन्यतम पिप्पलायन हैं, जिन्होंने निमिराज को कहा ॥५५॥

परमात्म बोध हो तज्जन्य जीव का स्वरूप ज्ञान निर्णीत हुआ। सम्प्रति जीवनिष्ठ चैतन्य के सादृश्य से ईश्वर का स्वरूप निर्देश करने के निमित्त पूर्वोक्त अद्वय तत्त्व की योजना करते हैं।

पूर्व में जीव चिन्मात्र (चेतन) होने से उस का स्वरूप निर्देश हुआ है। उक्त चेतनरूप आकृतिविशिष्ट

लक्षणरूपैः सर्गादिभिरर्थैः समष्टिनिर्द्देशद्वारापि लक्ष्यते; इत्यत्राह द्वाभ्याम् :—

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमुतयः। मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।।
दशमस्य विशुद्धयर्थं नवानामिह लक्षणम्। वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा।।" (भा०२,१०,१-२)

मन्वन्तराणि चेशानुकथाश्च मन्वन्तरेशानुकथाः। अत्र सर्गादयो दशार्था लक्ष्यन्त इत्यर्थः। तत्र च दशमस्य विशुद्धयर्थं—तत्त्वज्ञानार्थं, नवानां लक्षणं—स्वरूपं वर्णयन्ति। नन्वत्र नैवं प्रतीयते ? अत आह,—श्रुतेन–श्रुत्याकण्ठोक्त्यैव स्तुत्यादिस्थानेषु, अञ्जसा साक्षाद्वर्णयन्ति, अर्थेन—तात्पर्य्यवृत्त्या च तत्तदाख्यानेषु ।।५६।।

तमेव दशमं विस्पष्टयितुं तेषां दशानां व्युत्पादिकां सप्तश्लोकीमाह ;—

"भूतमात्रेन्द्रिय-धियां जन्म सर्ग उदाहृतः। ब्रह्मणो गुणवैषम्याद्विसर्गः पौरुषः स्मृतः।।" (भा० २,१-,३)

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

चिन्मात्रत्वे सति चेतयितृत्वं याकृतिर्जातिस्तयेत्यर्थः। "आकृतिस्तु स्त्रियां रूपे सामान्यवपुषोरपि" इति मेदिनी। तदंशित्वेन—जीवांशित्वेन चेत्यर्थः। तदभिन्नं—जीवाभिन्नम्, यद्—ब्रह्मतत्त्वम्। अंशः खलु अंशिनो न भिद्यते, पुरुषादिव दण्डिनो दण्डः। व्यष्टीति ; समुदायः—समष्टिः, तदेकदेशस्तु—व्यष्टिः इत्यर्थः। जीवादिशक्तिमद्ब्रह्म समष्टिः, जीवस्तु व्यष्टिः। तादृशजीवनिरूपणद्वारा शास्त्रस्य ब्रह्मसम्बन्धित्व-मुक्तम्। अथ जीवादिशक्तिविशिष्टसमष्टिब्रह्मनिरूपणेन तस्य तथात्वं वक्तव्यमित्यर्थः। दशमस्य चेश्वरस्य। अवशिष्टः स्फुटार्थः।।५६।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

आकृत्या—चेतनरूपया, तदभिन्नं—तदभिन्नत्वेन प्रतीतम्, तत्त्वं—सर्वाकारणत्वेन सर्वाधारत्वेन च मुख्यं वस्तु। व्यष्टिनिर्द्देशद्वारा—व्यष्टिनिर्द्देशतात्पर्य्यवृत्त्या। समष्टिजीवः—वैराजस्तन्निर्द्देशद्वारा। मन्वन्तरेशानुकथेति लक्षणद्वयं, अन्यथा दशसंख्यापूर्त्त्यनुपपत्तेः।।५६।।

दशानां—सर्गादिपदार्थानां, व्युत्पादिकां—विशेषार्थपरतावोधिकाम्। गुणानां—प्रकृतिगुणानां, सत्त्व-

अनुवाद—

होकर भी जो जीव चैतन्य की चेतयिता है, एवं उस जीव का अंशी है। इस प्रकार (चेतनत्व सादृश्य में) जीव से अभिन्न रूप में प्रतीयमान जो तत्त्व है, अर्थात् सर्व कारण एवं सर्वाधाररूप में मुख्य वस्तु ब्रह्मतत्त्व है। आप ही इस ग्रन्थ का वाच्य हैं, इस प्रकार व्यक्ति जीव का निर्देश से समष्टि ब्रह्म को तात्पर्य्य वृत्ति से कहा गया है। एवं वह आश्रय नाम से अभिहित है। महापुराण के लक्षण में सर्ग-विसर्ग प्रभृति नौ पदार्थ के द्वारा भी समष्टि रूप में उक्त आश्रय वस्तु ही लक्षित है। १ सर्ग, २ विसर्ग, ३ स्थान, ४ पोषण, ५ ऊति, ६ मन्वन्तर, ७ ईशानुकथा, ८ निरोध, ९ मुक्ति एवं १० आश्रय ये दश महापुराण का लक्षण हैं। अर्थात् महापुराण में उक्त दश विषय वर्णित है। महात्मागण, इस के मध्य में दशम 'आश्रय' पदार्थ को यथार्थ रूप से अवगत कराने के निमित्त सर्गादि नौ पदार्थ का वर्णन किए हैं। यदि आशङ्का हो कि—उक्त सर्गादि नौ का लक्ष्य जो आश्रय तत्त्व है उन की प्रतीति तो नहीं होती है। उत्तर में करते हैं,—इस ग्रन्थ में स्थान विशेष में श्रीभगवान् की स्तुति के छल से कण्ठोक्ति द्वारा (अनायास से साक्षात् सम्बन्ध से) आश्रय तत्त्व का कथन हुआ है। कहीं पर उपाख्यान के अवलम्वन से तात्पर्य्य वृत्ति के द्वारा परम्परा सम्बन्ध से उक्त आश्रय तत्त्व का वर्णन हुआ है। सुतरां एक मात्र दशम पदार्थ प्रतिपादन में ही सर्गादि नौ पदार्थ का तात्पर्य्य है।।५६।।

सृष्ट्यादि द्वारा 'आश्रय' तत्त्व का निरूपण—पूर्वोक्त दशम "आश्रय" तत्त्व को सुस्पष्ट रूप से समझाने के निमित्त सर्गादि दश पदार्थ बोधक सात श्लोक को कहते हैं।

भूतानि—खादीनि, मात्राणि च—शब्दादीनि, इन्द्रियाणि च। धी-शब्देन महदहङ्कारौ। गुणानां वैषम्यात्—परिणामात्। ब्रह्मणः—परमेश्वरात् कर्त्तुर्भूतादीनां जन्म—सर्गः। पुरुषो वैराजो ब्रह्मा, तत्कृतः—पौरुषः; चराचरसर्गो विसर्ग इत्यर्थः।

"स्थितिर्वैकुण्ठविजयः पोषणं तदनुग्रहः। मन्वन्तराणि सद्धर्म ऊतयः कर्मवासनाः॥
अवतारानुचरितं हरेश्चास्यानुवर्त्तिनाम्। पुंसामीशकथाः प्रोक्ता नानाख्यानोपवृंहिताः॥"(भा०२,१०,४-५)

वैकुण्ठस्य भगवतो विजयः—सृष्टानां तत्तन्मर्य्यादापालनेनोत्कर्षः, स्थितिः—स्थानम्। ततः स्थितेषु स्वभक्तेषु तस्यानुग्रहः—पोषणम्। मन्वन्तराणि तत्तन्मन्वन्तरस्थितानां मन्वादीनां तदनुगृहीतानां सतां चरितानि, तान्येव धर्मस्तदुपासनाख्यः सद्धर्मः। तत्रैव स्थितौ नानाकर्म-वासना—ऊतयः। स्थितावेव हरेरवतारानुचरितं अस्यानुवर्त्तिनाञ्च कथाः—ईशानुकथाः प्रोक्ता इत्यर्थः।

"निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः। मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः॥"(भा० २,१०,६)

स्थित्यनन्तरञ्चात्मनो जीवस्य शक्तिभिः स्वोपाधिभिः सहास्य हरेरनुशयनं, हरिशयनानु-

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

सर्गादीन् दश व्युत्पादयति—तदेवमित्यादिना। ब्रह्मणः—परमेश्वरादिति। कारणसृष्टिः—पारमेश्वरी, कार्य्यसृष्टिस्तु—वैरिञ्चीत्यर्थः। मुक्तिरिति—भगवद्वैमुख्यानुगतयाऽविद्यया रचितमन्यथारूपं देवमानवादि-भावं हित्वा, तत्सान्मुख्यानुप्रवृत्तया तद्भक्त्या विनाश्य, स्वरूपेणापहतपाप्मात्वादिगुणाष्टकविशिष्टेन

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

रजस्तमसाम्, भूतादीनां जन्म—हिरण्यगर्भ-वैराजयोः सूक्ष्मस्थूलशरीराज्जन्मेति यावत्। स्थानशब्दं विवृणोति—स्थितिरिति। तदनुग्रह इत्यस्यादौ पूरयति—तत्रस्थितेषु भक्तेष्विति। अस्य—जीवस्य, अनुगतत्वेन—पश्चाद्भावित्वेऽतिशयेन नियतत्वेन वा। दृष्टिनिमीलनं—सृष्टिविषये ईक्षणाभावः। लयः—

अनुवाद—

सर्ग—प्राकृत—सत्त्व, रजः एवं तमोगुण के परिणाम से—भूत, आकाशादि पञ्च महाभूत, मात्रा—आकाशादि पञ्च महाभूत के गुणसमूह, शब्दादि एकादश इन्द्रिय एवं धी, महत्तत्त्व, अहङ्कार तत्त्व, सव के कर्त्ता परमेश्वर से जो उत्पन्न है, उसे "सर्ग" कहा जाता है, यह ही कारण सृष्टि है।

विसर्ग—पुरुष—वैराज अर्थात् ब्रह्मा, उन के द्वारा कृत स्थावर जङ्गमात्मक कार्य की सृष्टि पौरुष है, इसे "विसर्ग" कहते हैं।

स्थान—वैकुण्ठ भगवान् का विजय, अर्थात् सृष्ट पदार्थसमूह में जिस की जिस प्रकार मर्य्यादा निर्दिष्ट है, उक्त मर्य्यादा पालन से ही श्रीभगवान् का विजय उत्कर्ष साधित है, यहाँ उसे "स्थिति" अथवा स्थान कहा गया है।

पोषण—श्रीभगवान् जगत् में अवस्थित भक्तगणों की रक्षा विभिन्न उपायों से करते हैं। यह अनुग्रह ही पोषण नाम से अभिहित है।

मन्वन्तर—भिन्न भिन्न मन्वन्तर में अवस्थित श्रीभगवान् के द्वारा अनुगृहीत मनु आदि साधुगण द्वारा अनुष्ठित भगवदुपासनारूप धर्म ही सद्धर्म है, इस को ही मन्वन्तर कहते हैं।

ऊति—भगवत् सृष्ट जीवगण की विविध प्रकार कर्म वासना को "ऊति" कहते हैं।

ईशानुकथा—स्थिति के समय श्रीभगवान् की अवतारावली के एवं उन के अनुगत भक्त के नानाविध आख्यानादि द्वारा विपुलीकृत चरित्रों की वर्णना, उसे ईशानुकथा कहते हैं।

गतत्वेन शयनं निरोध इत्यर्थः। तत्र हरेः शयनं—प्रपञ्चं प्रति दृष्टिनिमीलनं, जीवानां शयनं तत्र लय इति ज्ञेयम्। तत्रैव निरोधेऽन्यथारूपमविद्याध्यस्तमज्ञत्वादिकं हित्वा स्वरूपेण व्यवस्थितिः—मुक्तिः ॥५७॥

"आभासश्च निरोधश्च यतोऽस्त्यध्यवसीयते। स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥" (भा० २,१०,७)

आभासः—सृष्टिः, निरोधः—लयश्च यतो भवति, अध्यवसीयते—उपलभ्यते जीवानां ज्ञानेन्द्रियेषु प्रकाशते च, स ब्रह्मेति परमात्मेति प्रसिद्ध आश्रयः कथ्यते। इति शब्द—प्रकारार्थः, तेन भगवानिति च। अस्य विवृतिरग्रे विधेया ॥५८॥

स्थितौ च तत्राश्रयस्वरूपमपरोक्षानुभवेन व्यष्टिद्वारापि स्पष्टं दर्शयितुमध्यात्मादिविभागमाह;—

"योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः। यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥
एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे। त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥" (भा० २,१०,८-९)

श्रीमद्‌बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका।

जीवस्वरूपेण जीवस्य व्यवस्थितिर्विशिष्टा पुनरावृत्तिशून्या भगवत्सन्निधौ स्थितिर्मुक्तिरित्यर्थः ॥५७॥

अथ नवभिः सर्गादिभिर्लक्षणीयमाश्रयतत्त्वमाह;—आभासश्चेति। यत इति—हेतौ पञ्चमी ॥५८॥

ननु करणाभिमानिनो जीवस्य करणप्रवर्त्तकसूर्य्यादित्वमत्र कथं?—तत्राह,—देहसृष्टेः पूर्वमिति

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

ऐकचम्। तत्रैव निरोध इति—निरोधान्तर्गतमित्यर्थः। सप्तम्या अन्तर्गतत्वस्य विवक्षणादिति ॥५७॥

अस्तीत्यर्थः—भवतीति। भवतीति पूरणं वा। अस्तीत्यस्य तिष्ठतीत्यर्थः,यतः स्थितिरिति पर्य्यवसितम्। अध्यवसीयत इत्यत्रापि यत इत्यस्यान्वयः; तथाच, ज्ञानेन्द्रियप्रवर्त्तक इति ॥५८॥

द्रष्टा—प्रकाशकः। अक्षमतयेत्यस्य सहायतायां हेतुताकरणप्रकाशकर्त्तृत्वाभिमानीति करणविषयदर्शन-

अनुवाद—

निरोध—स्थिति के पश्चात् श्रीभगवान् प्राकृत जगत् से दृष्टि निमीलन करके अर्थात् सृष्टि विषय में ईक्षण न करके जब योगनिद्रा में अवस्थान करते हैं, तब जीवात्मा की स्वीय उपाधि—शक्तिवर्ग के सहित सृष्टि की विपरीत रीति के अनुसार श्रीहरि के शयन के अनुगत होकर शयन,—लीन होती है, अर्थात् उस की ऐक्य प्राप्ति होती है, उसे निरोध कहते हैं। श्रीभगवान् का शयन—शब्द से प्रपञ्च के प्रति दृष्टि निमीलन एवं जीव का शयन शब्द से श्रीभगवान् में लयप्राप्ति को जानना होगा।

मुक्ति—जीव के भगवद्विमुखता कारिणी अविद्या द्वारा रचित देव-मानवादि में अज्ञत्वादि भाव को श्रीभगवत् साम्मुख्यकारिणी भक्ति विनष्ट कर देती है, एवं पुनरावृत्तिशून्य श्रीभगवत् सान्निध्य में अपहत पाप्मत्वादि अष्ट गुणविशिष्ट जीवस्वरूप में जीव की जो अवस्थिति है, उसे मुक्ति कहते हैं ॥५७॥

आश्रय तत्त्व। सर्गादि नौ पदार्थ का लक्ष्य "आश्रय" तत्त्व को कहते हैं। जिन को हेतु करके आभास—सृष्टि एवं निरोध—लय होते हैं, जीवसमूह को ज्ञानेन्द्रिय में उक्त सृष्टि एवं लय प्रकाशित होने का हेतु भी आप हैं। उन ब्रह्म एवं परमात्मरूप में प्रसिद्ध तत्त्व ही आश्रय शब्द से कथित है। मूल श्लोक में "परमात्म" शब्द के सहित जो इति शब्द है, उस का अर्थ प्रकार है, अर्थात् इस प्रकार भगवान् शब्द से जो प्रसिद्ध वस्तु है वह ही यहाँ आश्रय तत्त्व है। इस सिद्धान्त का विस्तार उत्तर ग्रन्थ में करेंगे ॥५८॥

सृष्टि एवं लय के हेतु रूप में आश्रय तत्त्व का निरूपण हुआ, सम्प्रति स्थिति समय में भी अपरोक्ष अनुभव के निमित्त व्यक्ति जीव निर्णय द्वारा उक्त आश्रय को स्पष्ट रूपसे निर्णय करेंगे। तज्जन्य आध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिक तीन प्रकाश विभाग को कहते हैं।

योऽयमाध्यात्मिकः पुरुषश्चक्षुरादिकरणाभिमानी द्रष्टा जीवः,स एवाधिदैविकश्चक्षुराद्यधिष्ठाता सूर्य्यादिः। देहसृष्टेः पूर्वं करणानामधिष्ठानाभावेनाक्षमतया करणप्रकाशकर्त्तृत्वाभिमानि-तत्सहाययोरुभयोरपि तयोर्वृत्तिभेदानुदयेन जीवत्वमात्राविशेषात्। ततश्चोभयः—करणाभिमानि-तदधिष्ठातृदेवतारूपो द्विरूपो विच्छेदो यस्मात्, स आधिभौतिकश्चक्षुर्गोलकाद्युपलक्षितो दृश्यो देहः पुरुष इति—पुरुषस्य जीवस्योपाधिः। "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"(तैत्ति० २,१,१) इत्यादि श्रुतेः ॥५९॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

करणानामिति,—अधिष्ठानाभावेन—चक्षुर्गोलकाद्यभावेनेत्यर्थः। उभयोरपि तयोर्वृत्तिभेदानुदयेनेति—करणानां विषयग्रहणं वृत्तिः, देवतानान्तु तत्र प्रवर्त्तकत्वं वृत्तिः। अयमत्र निष्कर्षः ;—देहोत्पत्तेः पूर्वमपि जीवेन सार्द्धमिन्द्रियाणि तद्देवताश्च सन्त्येव, तदा तेषां तेषाञ्च वृत्त्यभावाज्जीवेऽन्तर्भावो विवक्षितः। उत्पन्ने तु देहे तयोर्विभागो यद्भवतीत्याह—ततश्चोभय इति ॥५९॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

कर्त्तृत्वयोरभिमानीत्यर्थः। तत्सहायपदेन करणप्रकाशकर्त्तृत्वाभिमानि-जीवसहायसूर्य्यादिलाभः। वृत्तिभेदानुदयेनेति—देवतासृष्टेः पूर्वमित्यनेनावृत्त्याऽन्वयः, वृत्तिभेदः—विषयगतचक्षुरादिपरिणामविशेषः। जीवत्वमात्राविशेषादिति—'उभयोरपि तयोः इत्यनेनास्यान्वयः। इदञ्च 'स एवाधिदैविकः' इत्यत्र हेतुः। 'जीवत्वमात्राविशेषात्' इत्यस्य उपाधिवैशिष्टचरूपजीवत्वांशेऽविशेषादित्यर्थः। तथाच 'स एव' इत्यस्य जीवत्वेन तत्तुल्य इत्यर्थः। तत्पदस्य तत्तुल्यार्थकत्वे तात्पर्य्यग्राहक एव शब्दः 'स एवायं गकारः' इत्यादौ तथा दर्शनात्। तत्र सूर्य्यादिः करणक्रियाजननद्वारा, करणाभिमानिनश्च तद्दर्शनप्रवृत्तिद्वारा करणवृत्तिभेदजनकत्वेन तयोरुपयोग इति दर्शितम् ॥५९॥

अनुवाद—

जिस को आध्यात्मिक पुरुष, चक्षुरादि इन्द्रियाभिमानी एवं द्रष्टा (प्रकाशक) कहा जाता है, अर्थात् मैं रूप को देख रहा हूँ, शब्द श्रवण कर रहा हूँ, इत्यादि रूपसे जो दर्शन श्रवणादि कर्त्तृत्वाभिमान करता है, उसे जीव कहते हैं। उस को ही चक्षुरादि इन्द्रियवर्ग का अधिष्ठाता सूर्य्यादि देवता रूपसे भी कहते हैं। यदि आशङ्का हो कि—जीव इन्द्रियाभिमानी है, पुनर्वार वह इन्द्रिय प्रवर्त्तक सूर्य्यादि देवता कैसे होगा ? इस का उत्तर,—देह सृष्टि के पूर्व में इन्द्रियवर्ग का अधिष्ठान अक्षि गोलकादि नहीं होते हैं, सुतरां अक्षमता हेतु इन्द्रिय का प्रकाश कर्त्तृत्वाभिमानी जीव एवं जीव का उक्त अभिमान का सहायक सूर्य्यादि देवता, दोनों का उदय वृत्ति भेद से न होने पर, अर्थात् चक्षुः प्रभृति इन्द्रिय की विषय ग्रहण रूप वृत्ति, सूर्य्यादि देवतागण की इन्द्रियवर्ग को विषय ग्रहण कराने की वृत्ति, उस समय इन्द्रिय गोलक के अभाव से जीव का कर्त्तृत्वाभिमान की एवं देवतागण के इन्द्रियवर्ग को विषय में नियोग कर जीव के दर्शनश्रवणाभिमान की सहायता करना, इस उभय वृत्ति का परस्पर कोई नहीं रहता है। अतः वे केवल जीव रूप में ही अवस्थित होते हैं। जिस समय देहादि उत्पन्न होते हैं। तव इन्द्रियाभिमानी जीव एवं इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता रूप भेदद्वय का अनुभव होता है। इस भेद का हेतु "आधिभौतिक" है, एवं इस को ही चक्षुरादि गोलक विशिष्ट दृश्य "देह" कहा जाता है। उक्त आधिभौतिक का जो पुरुष विशेषण है, वह पुरुष—जीव की उपाधि है, कारण श्रुति कहती है,—"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" (तैत्ति० २-१) अर्थात् अन्न रसादि का विकार से उत्पन्न पुरुष ही आधिभौतिक नाम से अभिहित होता है ॥५९॥

सारार्थः—"देहसृष्टेः पूर्वं" इत्यादि वाक्य का तात्पर्य्य,—देहादि सृष्टि के पूर्वमें भी जीव के सहित इन्द्रिय एवं इन्द्रिय के अधिष्ठातृ देवगण रहते हैं, किन्तु उस समय उन सव के स्व स्व वृत्ति के अभाव से सव ही जीव

'एकमेकतराभावे' इत्येषामन्योन्यसापेक्षसिद्धत्वे नानाश्रयत्वं दर्शयति ;—तथाहि दृश्यं विना तत्प्रतीत्यनुमेयं करणं न सिध्यति, नापि द्रष्टा, न च तद्विना करणप्रवृत्त्यनुमेयस्तदधिष्ठाता सूर्य्यादिः, न च तं विना करणं प्रवर्त्तते, न च तद्विना दृश्यम्—इत्येकतरस्याभावे एकं नोपलभामहे। तत्र—तदा, तत् त्रितयमालोचनात्मकेन प्रत्ययेन यो वेद—साक्षितया पश्यति,स परमात्मा आश्रयः। तेषामपि परस्परमाश्रयत्वमस्तीति तद्‌व्यवच्छेदार्थं विशेषणम्; स्वाश्रयः—अनन्याश्रयः, स चासावन्येषामाश्रयश्चेति। तत्रांशांशिनोः शुद्धजीव-परमात्मनोरभेदांश-स्वीकारेणैवाश्रय उक्तः। अतः "परोऽपि मनुतेऽनर्थम्" इति,—

"जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तञ्च गुणतो बुद्धिवृत्तयः। तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विवक्षितः॥" (भा० ११.१३.२६)

इति "शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्त्तुः" (भा० ५, ११, १२) इत्याद्युक्तस्य साक्षिसंज्ञिनः शुद्धजीवस्याश्रयत्वं न शङ्कनीयम्। अथवा; नन्वाध्यात्मिकादीनामप्याश्रयत्वमस्त्येव? सत्यम्; तथापि

श्रीमद्‌बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका।

आध्यात्मिकादीनां त्रयाणां मिथः सापेक्षत्वेन सिद्धेस्तेषामाश्रयत्वं नास्तीति व्याचष्टे; एकमेकतरेत्यादिना। त्रितयं—आध्यात्मिकादित्रयम्। ननु शुद्धस्य जीवस्य देहेन्द्रियादिसाक्षित्वाभिधानेनान्यानपेक्षत्वसिद्धेस्तस्या-

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अन्य सापेक्षसिद्धत्वेन—अन्यसापेक्ष्यानुपपत्तिमूलकसिद्धित्वेन, अनात्मत्वं—स्वप्रकाशचैतन्यैकरूपात्मभिन्नत्वम्। नापि द्रष्टा—नापि तदभिमानी साक्षी चेत्यर्थः, दृश्यं—देहादि घटादि च। नोपलभामहे इति स्वतः प्रकाशो नास्तीति सूचितम्। आलोचनात्मकेन अपरोक्षानुभवेन। साक्षितया उपाध्युपलक्षिततया, नतु विशिष्टतया, पश्यतीति दर्शनक्रियायां प्रत्ययेनेति तृतीयार्थाभेदान्वयो बोध्यः। स परमात्मेति—मूलस्थात्मपदस्य परमात्मपरतया वर्णनं—जीव-परमयोरभेदलाभायेति। अत्रायम्भावः—उपाधेः स्थूल-

अनुवाद—

में अन्तर्भावित होकर रहते हैं। उस के कोई विशेष धर्मलक्षित नहीं होते हैं, पश्चात् देहादि उत्पन्न होने से कारणाभिमानी जीव एवं करण प्रवर्त्तक सूर्य्यादि देवता का वृत्ति विभाग होता है, तज्जन्य देह प्रभृति को आधिभौतिक अर्थात् जीवतुल्य कहा गया है। "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इस श्रुति से प्रतिपन्न हुआ। प्रथम आत्मा से आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथिवी उत्पन्न होत हैं, पश्चात् पृथिवी से ओषधि, ओषधि से अन्न, अन्न से रेतः एवं रेतः रूप में परिणत अन्न से हस्त-पद-मस्तकादि विशिष्ट "पुरुष" की उत्पत्ति होती है, एवं उक्त अन्न रसादि के विकार से गठित पुरुष देह ही आधिभौतिक नाम से अभिहित होता है ॥५६॥

आध्यात्मिकादि का आश्रयत्व निरास। "एकमेकतराभावे" इस कथन से इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता एवं इन्द्रियाभिमानी द्रष्टा जीव—दृश्य देह व्यतीत निज निज सत्ता का अनुभव नहीं कर सकते, अतः परस्पर अपेक्षा हेतु नानाश्रयत्व का वर्णन करते हैं। अर्थात् दृश्य वस्तु न होने से उक्त दृश्य वस्तु की प्रतीति के द्वारा अनुमेय चक्षुरादि इन्द्रिय की सिद्धि नहीं होती है, उस के अभाव से द्रष्टा "इन्द्रियाभिमानी साक्षी" जीव की भी सिद्धि नहीं होती है। इन्द्रिय के अभाव से इन्द्रियवर्ग की विषय प्रवृत्ति के द्वारा अनुमेय उसके प्रवर्त्तक अधिष्ठाता सूर्य्यादि की सिद्धि नहीं होती है, सूर्य्यादि देवता न होने से चक्षु प्रभृति की प्रवृत्ति, विषय ग्रहण में नहीं होगी, एवं इन्द्रिय न होने से विषय की भी उपलब्धि नहीं होती है। इस प्रकार उस के मध्य में एक किसी का अभाव होता है तो, अपर का अनुभव ही नहीं होता है। अर्थात् उस के मध्य में किसी की भी स्वतः प्रकाशता नहीं है, किन्तु आध्यात्मिकादि पुरुष त्रय को अपरोक्षानुभव के द्वारा उपाधियुक्त रूप से जो देखता है, वह ही परमात्मा एवं आश्रय पदार्थ है।

परस्पराश्रयत्वान्न तत्राश्रयताकैवल्यमिति ते त्वाश्रयशब्देन मुख्यतया नोच्यन्ते इत्याह—एकमिति। तर्हि साक्षिण एवास्तामाश्रयत्वम् ? तत्राह,—त्रितयमिति। स आत्मा साक्षी जीवस्तु, यः स्वाश्रयोऽनन्याश्रयः परमात्मा, स एवाश्रयो यस्य तथाभूत इति। वक्ष्यते च हंसगुह्यस्तवे ;—

"सर्वं पुमान् वेद गुणांश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनन्तमीड़े" (भा० ६, ४, २५) इति। तस्मात् 'आभासश्च' इत्यादिनोक्तः परमात्मैवाश्रय इति। २।१० श्रीशुकः ॥६०॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

श्रयत्वं कुतो न ब्रूषे ? तत्राह—अत्रांशांशिनोरिति,—अंशिनांशोऽपीह गृहीत इत्यर्थः। असन्तोषाद्वाख्यान्तरं अथवेति। तर्हि इति ; साक्षिणः—शुद्धजीवस्य। सर्वमिति ; पुमान्—जीवः ॥६०॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

सूक्ष्मदेहस्य जड़तया विषयानवभासकतया तद्विशिष्टस्यापि न तद्भासकत्वं, विशेषणे तद्बाधादिति। उपाध्युपलक्षितचैतन्यमात्रस्य प्रकाशकत्वं आलोचनात्मकज्ञानमेव, अभेदेऽपि यो वेदेति वेदनक्रियाश्रयत्वरूप-कर्त्तृत्वमंशांशिभावोपगमेन बोध्यम्, तथाच 'अयं घटः' इति ज्ञानं स्वप्रकाशतया 'घटमहं जानामि' इत्याकार-कमपि विषय-घटादिकमवभासयत् शरीरमात्मांशे स्थूल-सूक्ष्मदेहाभेदघटाद्याकारमनोवृत्तिविशिष्टचैतन्य-स्वरूपश्चावगाहमानमपरोक्षं परमात्मशोधकमिति भावः। तत्र दृश्यवस्तुभाने इन्द्रियमनोवृत्त्यपेक्षावृत्ति-भानेन वृत्त्यन्तरापेक्षाऽनवस्थाभयात्। ननु चैतन्यस्य वृत्त्यपेक्षणे कथं स्वप्रकाशकता, इति चेत् ? नहि विषयभासकत्वे वृत्त्यपेक्षा किन्तु विषयावरकतमोऽभिभवार्थमित्युपगमात् विषयावरकतमसोऽस्वीकारे

अनुवाद—

आध्यात्मिकादि पुरुषत्रय तो परस्पर परस्पर के आश्रय हैं। सुतरां वे भी आश्रय होंगे ? इस आशङ्का से परमात्मा को पृथक् रूप से कहते हैं—"स्वाश्रयाश्रयः" परमात्मा किसी को आश्रय रूप से स्वीकार नहीं करता है, किन्तु आप ही आध्यात्मिकादि पुरुष समूह का आश्रय हैं। अद्वैतबादियों के मत में व्यष्ट्युपहित चैतन्य ही परमात्मा है, किन्तु हमारे मतमें व्यष्टचात्मा पृथक् है, सुतरां उसे परमात्मा क्यों कहा जायेगा ? इस आशङ्का को निवारण करते हुये कहते हैं, अंश—शुद्ध-जीव, एवं अंशी—परमात्मा, उभय के तुल्यताभिप्राय से ही यहाँ आश्रय शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् अपरोक्ष विषयीभूत शुद्ध जीवात्मा के सहित अनन्याश्रय, सर्वाश्रय परमात्मा के तुल्यतारूप ऐक्य होने से ही परमात्मा का बोध होता है। इस से "स आत्मा" मूलस्थ आत्मा शब्द से निर्विशेष रूप से जीवात्मा का बोध होने से आपाततः कियदंश में (अंशस्वरूप होने से) जीव का भी आश्रयत्व स्वीकार किया गया है। परमात्मा के सहित जीवात्मा की अभेद विवक्षा से ही जीवात्मा को आश्रय कहा गया है, इससे जीव त्रिगुणातीत होने से भी अनर्थरूप संसार को प्राप्त करता है, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन बुद्धिवृत्ति सत्त्व, रज एवं तमोगुण का विकार है। इस से पृथक् जीव है, स्वतन्त्र है, इसे जाग्रदादि बुद्धिवृत्ति की साक्षी रूप से (साक्षाद्दर्शी रूप से) शुद्ध चैतन्य रूप से निश्चय किया गया है। उक्त शुद्धजीव, माया कल्पित समस्त अवस्था को ही देखता है। इत्यादि वचन से शुद्ध जीव को जो साक्षी कहा गया है, उस में आश्रयत्व की आशङ्का नहीं हो सकती है। कारण उक्त वचनों में परमात्मा तात्पर्य्य बोधक कोई शब्द नहीं है। केवल शुद्ध जीव बोधक शब्द ही है।

परमात्मा के सहित जीव की अभेद विवक्षा से भी शुद्ध जीव का आश्रयत्व नहीं होगा ? इस आशंका से पक्षान्तर से व्याख्या करते हैं।

यदि कहो "आध्यात्मिकादि पुरुष का आश्रयत्व तो है ही, किन्तु उस का आश्रयत्व होने से भी वे सब परस्पराश्रयी हैं, अर्थात् एकके अभाव से अपर में विषय ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती है। सुतरां मुख्य

अस्य श्रीभागवतस्य महापुराणत्वव्यञ्जकलक्षणं प्रकारान्तरेण च वदन्नपि तस्यैवाश्रयत्वमाह,

सर्वसम्वादिनी

[मूल-श्रीतत्त्वसन्दर्भे १५श-अनु०] (भा० १२।७।९) 'सर्गोऽस्य' इत्यादि। 'अतः प्रायशः सर्वेऽर्थाः' इति; तत्र

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका।

अस्येति। प्रकारान्तरेणेति—क्वचिन्नामान्तरत्वादर्थान्तरत्वाच्चेत्यर्थः। एतानि दश लक्षणानि

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

चैतन्यस्य निरपेक्षतया सर्वदा विषयभानप्रसङ्गादिति पर्य्यवसितम्। ननु तथाप्यद्वैतवादमते व्यष्ट्युपहित-चैतन्यस्य परमात्मत्वसम्भवे स्वमते व्यष्ट्यात्मनो भिन्नत्वात् कथं परमात्मत्वम्? इत्यत आह;—अत्रांशांशिनोरिति, अभेदांशस्वीकारेणेति—तुल्यताभिप्रायेणेत्यर्थः। तथाच यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रय इत्यन्वयेनापरोक्षविषयीभूतात्मनाऽनन्याश्रय सर्वाश्रयस्य परमात्मनः तुल्यतात्मकैक्येन तादृशपरमात्मनो बोध इति भावः। अतः परमात्माभेदविवक्षयाऽत्र जीवात्मन आश्रयत्वकथनात्। आसां—जाग्रदादिवृत्तीनां, साक्षित्वेन—साक्षाद्दर्शित्वेन, विलक्षणः—शुद्धचैतन्यैकरूपः। न शङ्कनीयमिति—तत्र परमात्मतात्पर्य्य-बोधकपदाभावेन शुद्धजीवमात्रपरत्वादिति भावः। ननु परमात्माभेदविवक्षयाऽपि शुद्धस्याश्रयत्वं न घटते? इत्यत आह—अथवेति। एकमितीति—तथा चैतेषां निराश्रयत्वाभावान्न मुख्याश्रयत्वमिति भावः। 'स आत्मा' इति तस्य मुख्याश्रयत्वाभावे हेतुभूतविशेषणमाह—स्वाश्रयाश्रय इति। तथाच तस्याश्रयः परमात्मा, स एव निराश्रय आश्रयपदेनात्र विवक्षितः, नतु तदाश्रितो जीव इति भावः। परमात्मनस्तथात्वं, नतु जीवस्य इति दर्शयितुमाह,—वक्ष्यते चेति। अन्ये तु एकमिति एकतया भाने एकं निरुक्तत्रयाणां तदन्यमपरं नेत्युपलभामहे—अनुमानेन जानीम इति जीवानां स साक्षाद्दर्शित्वम्। नच—जीवानां स्वात्मसाक्षात्कारोऽस्तीति वाच्यम्, तत्साक्षात्कारस्य देहाभेदेनैव; नतु स्वरूपेणेति। स्वरूपग्रहस्य च जीवस्य संसारितादशायां अनुमानाधीनत्वादिति। साक्षात् तत्त्रितयदर्शी सर्वज्ञः परमात्मैवाश्रयणीय इत्याह—त्रितयं तत्र यो वेदेति। यच्चोक्तं देहवैशिष्ट्योपहितवैलक्षण्यं जीवस्य; तन्न अद्वैतवादिनां मतं, देहसम्बन्धमात्रस्यैव जीवानां संसारिताप्रयोजकता, नतु तद्वैशिष्ट्यस्यापीति। अद्वैतवादिनामेव देहवैशिष्ट्यस्य ब्रह्मांशपरिच्छेदेन ब्रह्मणोऽशेन च जीवत्वव्यवस्थापकत्वात्, एवं जीवात्मनोऽणुतया युगपत् प्राणेन्द्रियादिसमुदायात्मक-लिङ्ग-शरीरवैशिष्ट्यासम्भवः, सम्बन्धस्तु साक्षात्परम्परासाधारणं सम्भवतीति न तेन संसारिता। एवं जीवात्मनो देहविशिष्टस्य स्थूलसूक्ष्मदेहाद्यभिमान-तत्कृतानर्थो देहाद्युपहितस्य तस्यैव तदभाव इति मायामोहितत्व-तदभावयोरेकत्र स्वीकारे पर्य्यवसिते कथं परमात्म-जीवयोर्भेदस्वीकारः? उपलक्षितस्य शुद्धजीवस्य गृह-

अनुवाद—

रूपसे उस का आश्रयत्व कहना ठीक नहीं है। "आश्रय" शब्द से उन सब को मुख्य रूपसे नहीं कहा गया है, उस की प्रतीत "एकमेकतराभावे" वाक्य से होती है। शङ्का हो सकती है कि—आप पुरुष का आश्रय न होकर केवल साक्षी पुरुष ही आश्रय हो? उत्तर देते हैं—"त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः।"

आध्यात्मिकादि पुरुषगण को जो जानते हैं—वह आत्मा (साक्षी जीव) स्वाश्रय—अनन्याश्रय परमात्मा को आश्रय करके रहता है, तज्जन्य जीव, मुख्य आश्रय नहीं हो सकता है। जीवात्मा स्वतन्त्र परमात्मा को आश्रय करके रहता है, अतः उसे आश्रय नहीं कहा जाता है, निराश्रय—अर्थात् जिस का अपर आश्रय नहीं है, उस वस्तु ही आश्रय होगा, यह ही व्याख्या का तात्पर्य्य है। आश्रयत्व, परमात्मा का ही है, जीव का नहीं। श्रीमद् भागवत के हंसगुह्य स्तव में उस का कथन है। जीव, प्रकृति अहङ्कारतत्त्व एवं सत्त्वादि तीन गुण को जानता है, किन्तु अनन्त सर्वज्ञ स्वयं भगवान् को नहीं जान सकता है, मैं उनका स्तव करता हूँ। अतएव "आभासश्च निरोधश्च" इत्यादि श्लोक में उन परम पुरुष परमात्मा ही आश्रय शब्द से कथित हुए हैं॥६०॥

द्वयेन ;—"सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च। वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः। केचित् पञ्चविधं ब्रह्मन्! महदल्पव्यवस्थया॥" (भा० १२,७,८-९)

अन्तराणि—मन्वन्तराणि। पञ्चविधं—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंश्यानुचरितञ्चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥"—

इति केचिद्वदन्ति।

स च मतभेदो महदल्पव्यवस्थया—महापुराणमल्पपुराणमिति भिन्नाधिकरणत्वेन। यद्यपि विष्णुपुराणादावपि दशापि तानि लक्ष्यन्ते, तथापि पञ्चानामेव प्राधान्येनोक्तत्वात्—अल्पत्वम्। अत्र दशानामर्थानां स्कन्धेषु यथाक्रमं प्रवेशो न विवक्षितः,तेषां द्वादशसंख्यत्वात्। द्वितीयस्कन्धोक्तानां तेषां तृतीयादिषु यथासंख्यं न समावेशः ; निरोधादीनां दशमादिषु अष्टमवर्ज्जम्, अन्येषामप्यन्येषु यथोक्तलक्षणतया समावेशनाशक्यत्वादेव। तदुक्तं श्रीस्वामिभिरेव ;—

सर्वसम्वादिनी

मुख्यत्वेन (१) 'सर्गः'—द्वितीय-तृतीयस्कन्धयोः ; (२) 'विसर्गः—द्वितीय-तृतीय-चतुर्थस्कन्धादिषु ; (भा० १२।७।१३) (३क) 'कामाद्वृत्तिः'—(भा० ३।२०।१९) "जगृहुर्यक्ष-रक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम्" इत्यादिवाक्यतः— तृतीयेस्कन्धेऽपि ; (३ख) 'चोदनया वृत्ति'स्तु—सप्तमैकादशयोः स्कन्धयोर्वर्णाश्रमाचार-कथने (भा० ७मस्क० ११श-अ०; ११शस्क० १७श-अ०, १८श-अ०); (४) (भा० १२।७।१४) 'रक्षा' सर्वत्रैव

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

केचित्तृतीयादिषु क्रमेण स्थूलधियो योजयन्ति, तान्निराकुर्वन्नाह—द्वितीयस्कन्धोक्तानामिति। अष्टादश-सहस्रित्वं द्वादशस्कन्धित्वञ्च भागवतलक्षणं व्याकुप्येत, अध्यायपूर्त्तौ भागवतत्वोक्तिश्च न सम्भवेदिति च

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

गृहान्तर्वर्त्तिघटाकाशयोरभेदवत् मायोपहितचैतन्यात्मकादीश्वरादभिन्नतया मायाश्रयत्वाविरोधात्॥६०॥

तस्यैवेति ब्रह्मण एवेत्यर्थः, तद्विदः पुराणविदः। महापुराणाल्पपुराणभिन्नाधिकरणत्वेनेति—महापुराणाल्पपुराणयोर्भेदेन भिन्नमधिकरणं ययोस्तत्त्वेन दशलक्षण-पञ्चलक्षणेति लक्षणद्वयमित्यर्थः। तेषां स्कन्धानाम्। ननु द्वितीयस्कन्धशेषे लक्षणान्युक्तानि, ततः क्रमेण तृतीयादिषु किमुक्तानि ? इत्याशङ्क्याह,—द्वितीयस्कन्धोक्तानामपि, तेषामिति—तेषां दशलक्षणानाम्, तेषामपि मत—श्रीधरस्वामिनामपि मतम्।

अनुवाद—

श्रीमद् भागवत के महापुराणता प्रतिपादक लक्षणसमूह द्वादश स्कन्ध में प्रकारान्तर से वर्णित होने पर भी तद्द्वारा परमात्मा की आश्रयता कथित है, श्लोक द्वय से उस का वर्णन हुआ है।

पुराणज्ञ ऋषिगण इस जगत् की उत्पत्ति, अवान्तर सृष्टि, स्थिति, पालन, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, प्रलय, हेतु एवं आश्रय—इस दश लक्षणयुक्त शास्त्र को ही पुराण शब्द से जानते हैं, कतिपय व्यक्ति पुराण को पञ्च लक्षण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित युक्त मानते हैं। महद् अल्प व्यवस्था से उक्त लक्षणद्वय है। श्रीमद् भागवत के प्रत्येक स्कन्ध उक्त क्रमिक लक्षणाक्रान्त होना वक्ता का अभिप्रेत नहीं है। कारण स्कन्ध संख्या द्वादश है, स्कन्धद्वय अधिक हो जायेगा। श्रीमद् भागवत के द्वितीय स्कन्ध के बाद से उक्त लक्षणाक्रान्त समीचीन यदि हो तो द्वितीय स्कन्ध के शेष में उक्त लक्षण उक्त है। तृतीयादि स्कन्ध में यथाक्रम से उक्त लक्षण का समावेश नहीं होता है। कारण, दशम स्कन्ध में निरोधादि कतिपय लक्षण का उल्लेख है, किन्तु अष्टम स्कन्ध में उस का वर्णन नहीं है। इस प्रकार क्रमिक भाव से उक्त लक्षण का समावेश अन्यान्य सर्ग में भी नहीं होता है।

"दशमे कृष्णसत्कीर्त्तिवितानायोपवर्ण्यते। धर्मग्लानिनिमित्तस्तु निरोधो दुष्टभूभुजाम्॥" इति, 'प्राकृतादिचतुर्द्धा यो निरोधः स तु वर्णित" इति। अतोऽत्र स्कन्धे श्रीकृष्णरूपस्याश्रयस्यैव वर्णन-प्राधान्यं तैर्विवक्षितम्। उक्तञ्च स्वयमेव ;—

"दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रय-विग्रहम्" इति।

एवमन्यत्राप्युन्नेयम्। अतः प्रायशः सर्वेऽर्थाः सर्वेष्वेव स्कन्धेषु गौणत्वेन वा मुख्यत्वेन वा निरूप्यन्त इत्येव तेषामभिमतम्। "श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा" इत्यत्र च तथैव प्रतिपन्नं, सर्वत्र तत्तत्सम्भवात्। ततश्च प्रथम-द्वितीययोरपि महापुराणतायां प्रवेशः स्यात्। तस्मात् क्रमो न गृहीतः ॥६१॥

सर्वसम्वादिनी

(५) मन्वन्तरम्—अष्टमस्कन्धादिषु ; (६) 'वंशो' (७) 'वंशानुचरितं'-चतुर्थ-नवमस्कन्धादिषु ; (८) 'संस्था' (प्रलयः)—एकादशद्वादश-स्कन्धयोः ; (९) 'हेतुः'—श्रीकपिलदेवादि-वाकचतः—तृतीयैकादश-स्कन्धादिषु ; (१०) 'अपाश्रयः'—दशमस्कन्धादिषु ज्ञेयः॥६१॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका।

बोध्यम्। शुकभाषितञ्चेद्भागवतं; तर्हि प्रथमस्य द्वादशशेषस्य च तत्त्वानापत्तिः। तस्मादष्टादशसहस्रि तत्पितुराचार्य्याच्छुकेनाधीतं कथितञ्चेति साम्प्रतं, संवादास्तु तथैवानादिसिद्धा निबद्धा इति साम्प्रतम्॥६१

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

प्रायशः स्यादिति—तृतीयादिषु क्रमेणैव दशलक्षणवर्णनेनेति द्वितीय-तृतीययोस्तल्लक्षणाक्रान्तपुराणता न स्यादिति भावः। तस्मात् क्रमवर्णनस्यासम्भवात् क्रमो न विवक्षित इति। तथा चाश्रयस्य परब्रह्मणः कृष्णस्य मुख्यत्वेन वर्णनीयतया उपक्रमे तस्यैवादौ वर्णनमुपक्रान्तं, मध्ये मध्ये अन्ते च तस्यैव वर्णनं कृतं, तत्प्रसङ्गात् तदाधिकचतात्पर्य्याद्वा यथायोगमितराणि लक्षणानि वर्णितानीति भावः। तथोक्तं—"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये" इति क्रमेण श्रीकृष्ण-परमिदं शास्त्रमिति भावः ॥६१॥

अनुवाद—

दशम स्कन्ध के आरम्भ में श्रीधरस्वामिपाद ने कहा है,—श्रीकृष्ण के अत्युत्तम चरित्र वर्णन विस्तृत रूप से करने के निमित्त दुष्ट राजन्यवर्ग का निरोध (विनाश) वर्णित हुआ है। प्राकृत आदि निरोध चतुष्टय का वर्णन इस के पूर्व में हुआ है। अतएव इस दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण रूप आश्रय तत्त्व का ही प्राधान्य है, यह श्रीधर स्वामिपाद का मत है। कारण—आपने स्वयं ही कहा है—"आश्रित जनों का आश्रय विग्रह दशम—आश्रय तत्त्व ही इस स्कन्ध का लक्ष्य विषय है। इस प्रकार नियम अन्यान्य स्कन्ध में भी जानना होगा। समस्त स्कन्ध में ही प्रायकर उक्त समस्त लक्षणों का वर्णन है।" यह मत श्रीधर स्वामिपाद का है।

श्रीमद् भागवत के सर्वत्र ही उक्त लक्षणसमूह की सम्भावना है। "श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा" शब्द से वैसा प्रतिपन्न होता है, अर्थात् उक्त अर्थसमूह का वर्णन कहीं पर स्पष्ट भावसे कहीं पर तात्पर्य्य वृत्ति से हुआ है। सुतरां प्रथम एवं द्वितीय स्कन्ध भी महापुराणान्तर्भूक्त है। इस से प्रतिपादित हुआ कि—उक्त लक्षणसमूह का निर्देश क्रम पूर्वक स्कन्धादि को लक्ष्य करके नहीं हुआ है। यह अष्टादश सहस्र श्लोकात्मक श्रीमद् भागवत का अध्ययन श्रीव्यासदेव के निकट से श्रीशुकदेव ने किया है। अनन्तर श्रीशुकदेव, श्रीपरीक्षित को श्रवण कराये थे। तत्पश्चात् श्रीसूत महाशय ने भी नैमिषारण्य में उक्त श्रीमद् भागवत का कीर्त्तन श्रीशौनकादि ऋषियों के निकट किया था। इस प्रकार कथन ही ग्रन्थकार का है ॥६१॥

सारार्थः—"आश्रय" शब्द से साधारणतः ब्रह्म एवं परमात्मा का बोध होने पर भी मुख्य भाव से स्वयं

अथ सर्गादीनां लक्षणमाह ;—

"अव्याकृतगुणक्षोभान्महतस्त्रिवृतोऽहमः। भूतमात्रेन्द्रियार्थानां सम्भवः सर्ग उच्यते॥" (भा० १२,७,११)

प्रधानगुणक्षोभान्महान्, तस्मात्त्रिगुणोऽहङ्कारः, तस्माद्भूतमात्राणां भूतसूक्ष्माणां इन्द्रियाणाञ्च, स्थूलभूतानाञ्च, तदुपलक्षित-तद्देवतानाञ्च सम्भवः सर्गः; कारणसृष्टिः सर्ग इत्यर्थः।

"पुरुषानुगृहीतानामेतेषां वासनामयः। विसर्गोऽयं समाहारो वीजाद्वीजं चराचरम्॥" (भा० १२,७,१२)

पुरुषः—परमात्मा। एतेषां—महदादीनां, जीवस्य पूर्व-कर्मवासनाप्रधानोऽयं समाहारः—कार्य्य-भूतश्चराचरप्राणिरूपो वीजाद्वीजमिव प्रवाहापन्नो विसर्ग उच्यते; व्यष्टिसृष्टिर्विसर्ग इत्यर्थः। अनेनोतिरप्युक्ता।

"वृत्तिर्भूतानि भूतानां चराणामचराणि च। कृता स्वेन नृणां तत्र कामाच्चोदनयापि वा॥" (भा० १२,७,१३)

चराणां—भूतानां सामान्यतोऽचराणि च-काराच्चराणि च कामाद्वृत्तिः। तत्र तु नृणां स्वेन स्वभावेन कामाच्चोदनयापि वा या नियता वृत्तिर्जीविका कृता, सा वृत्तिरुच्यते इत्यर्थः

"रक्षाच्युतावतारेहा विश्वस्यानुयुगे युगे। तिर्य्यङ्मर्त्यर्षिदेवेषु हन्यन्ते यैस्त्रयीद्विषः॥" (भा० १२,७,१४)

यैः—अवतारैः। अनेन—ईशकथा, स्थानं, पोषणञ्च—इति त्रयमुक्तम्।

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका

उद्दिष्टानां सर्गादीनां क्रमेण लक्षणानि दर्शयितुमाह ;—अथेत्यादि। अव्याकृतेति—त्रिवृत्पदंमहतोऽपि विशेषणं बोध्यम्। "सात्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्" इति श्रीवैष्णवात्। पुरुषः—"परमात्मा

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

अव्याकृतशब्दः—प्रधानपर इत्यभिप्रायेण व्याचष्टे, प्रधानगुणक्षोभादिति। गुणः—सत्त्वादिः, क्षोभः—क्रिया, महान्—महत्तत्त्वम्, वासना—संस्कारः, तत्प्रधानः—तदधीनः, 'तेन' इत्यस्य स्वभावेन इत्यर्थः।

अनुवाद—

भगवान् श्रीकृष्ण में ही उस का तात्पर्य्य है। श्रीधर स्वामिपाद ने भी "दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रय विग्रहम्" वाक्य से उक्त सिद्धान्त का स्थापन किया है। केवल दशम स्कन्ध का लक्ष्य ही श्रीकृष्ण है, वैसा नहीं है, श्रीमद् भागवत के आद्यन्त सर्वत्र श्रीकृष्ण ही वर्णित होने से, यह शास्त्र श्रीकृष्ण वर्णन पर है, इस में सन्देह नहीं है। इस ग्रन्थ के उपक्रम-उपसंहार का पर्य्यवेक्षण करने से उस का सुस्पष्ट बोध होता है। इस के बाद "श्रीकृष्ण सन्दर्भ में" उक्त विषय का विशेष विवेचन होगा॥६१॥

प्रकारान्तर से सर्गादि का लक्षण,—पूर्ववाक्योद्दिष्ट सर्गादि क्रम से लक्षण को कहते हैं। प्रधान के गुणक्षोभ से अर्थात् उस में क्रिया होने से महत्तत्त्व से त्रिगुण अहङ्कार, त्रिगुण अहङ्कार से शब्दादि सूक्ष्म भूत—पञ्च तन्मात्र, स्थूल भूत—पञ्च महाभूत एवं तदुपलक्षित उस के अधिष्ठातृ देवतावर्ग की जो उत्पत्ति है, उसे सर्ग कहते हैं, यह ही कारण सृष्टि है।

विरिञ्चि के अन्तःकरणस्थ परमात्मा के अनुगृहीत महत्तत्त्व प्रभृति की, जीव के पूर्वसञ्चित कर्म्म संस्काराधीन वीज से वीजोत्पत्ति के समान प्रवाहप्राप्त कार्य्यभूत चराचर प्राणिरूप जो सृष्टि है, उसे विसर्ग कहते हैं, अर्थात् व्यष्टि जीव सृष्टि ही विसर्ग है। इस से पूर्वोक्त कर्म वासनामय ऊति का भी संग्रह हुआ। जङ्गम प्राणीसमूह में जङ्गम एवं स्थावरात्मक भूतनिष्ठ जो जीविका दृष्ट होती है, यह कामना प्रसूत है। उस के मध्य में स्वभावतः एवं कामतः एवं विधिबोधित जीव समूह की तत्तत् स्थान में नियत जो जीविका की व्यवस्था की गई है, उसे "वृत्ति" कहते हैं।

इस जगत् के प्रति युग में श्रीभगवान् तिर्य्यग् जाति, मनुष्य, ऋषि एवं देवकूल में विविध रूप से

"मन्वन्तरं मनुर्द्देवा मनुपुत्राः सुरेश्वराः। ऋषयोऽंशावताराश्च हरेः षड् विधमुच्यते॥" (भा० १२,७,१५)

मन्वाद्याचरणकथनेन सद्धर्म्म एवात्र विवक्षित इत्यर्थः। ततश्च प्राक्तनग्रन्थेनैकार्थ्यम्।

"राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः। वंश्यानुचरितं तेषां वृत्तं वंशधराश्च ये॥" (भा० १२,७,१६)

तेषां राज्ञां ये च वंशधरास्तेषां वृत्तं वंश्यानुचरितम् ॥६२॥

नैमित्तिकः प्राकृतिको नित्य आत्यन्तिको लयः। संस्थेति कविभिः प्रोक्तश्चतुर्द्धास्य स्वभावतः॥(भा०१२,१,१७

अस्य—परमेश्वरस्य। स्वभावतः—शक्तितः। 'आत्यन्तिकः' इत्यनेन मुक्तिरप्यत्र प्रवेशिता।

सर्वसम्वादिनी

प्रलय-लक्षणमाह,—[मूल-श्रीतत्त्वसन्दर्भे २२श-अनु०] (भा० १२।७।७१) 'नैमित्तिकः' इति; एषां [प्रलयानां]

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

विरिञ्चान्तःस्थः" इति बोध्यम्। स्फुटार्थानि शिष्टानि ॥६२॥

पूर्वोक्तायां दशलक्षण्यां मुक्तिरेकलक्षणम्, अस्यान्तु चतुर्विधायां संस्थायां आत्यन्तिकलयशब्दिता

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

मन्वन्तरं षड् विधमित्यर्थः। त्रैकालिकोऽन्वयः—सन्तानं वंशः, वंशपदेनेह विवक्षितः ॥६२॥

अनुवाद—

अवतीर्ण होकर नानाविध क्रीड़ा करते हैं, एवं प्रयोजन होने पर वेदविद्वेषी दैत्यगण को विनष्ट कर जगत् में शान्ति विधान करते हैं, उसे ही रक्षा कहते हैं।

मनु, देवता, मनुपुत्र, सुरेश्वरगण, सप्तर्षि एवं श्रीभगवान् के अंशावतार, ये छह प्रकार मन्वन्तर है। मनु प्रभृति का आचरण कीर्त्तन से पूर्वोक्त सद्धर्म का भी कीर्त्तन हुआ। सुतरां द्वितीय स्कन्धोक्त पुराण लक्षण एवं अत्रस्थ पुराण लक्षण का एक ही अर्थ है।

ब्रह्मा से उत्पन्न राजन्यवर्ग की भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालीन वंश परम्परा है, उसे "वंश" कहते हैं।

उक्त मनुष्यगण की जो सन्तति है, उस के अतीत, वर्त्तमान, भविष्यत् कालीन चरित्र वर्णन ही "वंशानुचरित" है ॥६२॥

सारार्थः—मन्वन्तर—एक मनु का अधिकृत काल। इस की संख्या, देव परिमाण में एकात्तर चतुर्युग, इस प्रकार चतुर्दश मन्वन्तर में अर्थात् चौदह मनु के भोग कालसे ब्रह्मा का एक दिन होता है। प्रत्येक मनु के अधिकार के समय,—मनु, मनुयुग, इन्द्र, देवता, सप्तर्षि एवं अवतार ये छह प्रकार से मन्वन्तर का पालन होता है। ये छह नाम,—उपाधि स्वरूप है, जिस मन्वन्तर में जो जीव उक्त पदसमूह में अभिषिक्त होता है, उस की वह उपाधि होती है।

चतुर्दश मन्वन्तर में चतुर्दश मनु, प्रथम—स्वायम्भुव, द्वितीय—स्वारोचिष, तृतीय—उत्तम, चतुर्थ—तामस, पञ्चम—रेवत, षष्ठ—चक्षुष, सप्तम—वैवस्वत, अष्टम—सावर्णि, नवम—दक्ष सावर्णि, दशम—ब्रह्म सावर्णि, एकादश—धर्म सावर्णि, द्वादश—रुद्र सावर्णि, —त्रयोदश—देव सावर्णि, चतुर्दश—इन्द्र सावर्णि। वर्त्तमान में सप्तम—वैवस्वत मन्वन्तर है।

मन्वान्तरावतार,—यज्ञ से बृहद्भानु पर्य्यन्त चौदह मन्वन्तर पालक अवतार हैं। १ यज्ञ—स्वायंभुवीय मन्वन्तर पालक है, २ विभु—स्वारोचिष मन्वन्तर पालक, ३ सत्यसेन—उत्तमीय मन्वन्तर पालक, ४ हरि—तामसीय मन्वन्तर पालक, ५ वैकुण्ठ—रैवतीय मन्वन्तर पालक, ६ अजित—चाक्षुषीय मन्वन्तर पालक, ७ वामन—वैवस्वत मन्वन्तर पालक, ८ सार्वभौम—सावर्णीय मन्वन्तर पालक, ९ ऋषभ—दक्ष सावर्णीय मन्वन्तर पालक, १० विष्वक्सेन—ब्रह्म सावर्णीय मन्वन्तर पालक, ११ धर्मसेतु—धर्म सावर्णीय मन्वन्तर पालक, १२ सुधामा—रुद्र सावर्णीय मन्वन्तर पालक, १३ योगेश्वर—देव सावर्णीय मन्वन्तर पालक, १४ बृहद्भानु—इन्द्र सावर्णीय मन्वन्तर पालक। इस का विवरण—श्रीमद् भागवत के अष्टम स्कन्ध में एवं श्रीविष्णु पुराण के तृतीय अंश में है ॥६२॥

हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्म्मकारकः। यश्चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे ॥ (भा० १२, ७, १८)

हेतुः—निमित्तम्, अस्य—विश्वस्य, यतोऽयमविद्यया कर्मकारकः। यमेव हेतुं केचिच्चैतन्य-प्राधान्येनानुशयिनं प्राहुः; अपरे उपाधिप्राधान्येनाव्याकृतमिति।

व्यतिरेकान्वयौ यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। मायामयेषु तद्ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः ॥ (भा० १२, ७, १९)

श्रीबादरायणसमाधिलब्धार्थविरोधादत्र च जीव-शुद्धस्वरूपमेवाश्रयत्वेन न व्याख्यायते; किन्तु अयमेवार्थः—जाग्रदादिष्ववस्थासु, मायामयेषु—मायाशक्तिकल्पितेषु महदादिद्रव्येषु च,

सर्वसम्वादिनी

लक्षणं (भा० १२।४।३—३८) द्वादशे चतुर्थाध्यायेऽनुसन्धेयम्। प्रलयस्तु मन्वन्तरान्तेऽपि भवति; यथा श्रीविष्णुधर्मोत्तरे प्रथमकाण्डे—

वज्र उवाच,—मन्वन्तरे परिक्षीणे यादृशी द्विज जायते। समवस्था महाभाग तादृशीं वक्तुमर्हसि ॥२१॥
मार्कण्डेय उवाच,—मन्वन्तरे परिक्षीणे देवा मन्वन्तरेश्वराः। महर्लोकमथासाद्य तिष्ठन्ति गतकल्मशाः ॥२२॥
मनुश्च सह शक्रेण देवाश्च यदुनन्दन। ब्रह्मलोकं प्रपद्यन्ते पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥२३॥
ऋषयश्च तथा सप्त तत्र तिष्ठन्ति ते सदा। अधिकारं विना सर्वे सदृशाः परमेष्ठिनः ॥२४॥
भूतलं सकलं वज्र तोयरूपी महेश्वरः। ऊर्म्मिमाली महावेगः सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥२५॥
भूर्लोकमाश्रितं सर्वं तदा नश्यति यादव। न विनश्यन्ति राजेन्द्र विश्रुताः कुलपर्वताः ॥२६॥

अत्र कुलपर्वता महेन्द्र-मलयेत्यादयः। . . . .

शेषं विनश्यति जगत् स्थावरं जङ्गमञ्च यत्। नौर्भूत्वा तु मही देवी तदा यदुकुलोद्भव ॥२७॥
धारयत्यथ वीजानि सर्वाण्येवाविशेषतः। आकर्षति तु तां नावं स्थानात् स्थानं तु लीलया ॥२८॥
कर्षमाणं तु तां नावं देवदेवं जगत्पतिम्। स्तुवन्ति ऋषयः सर्वे दिव्यैः कर्मभिरच्युतम् ॥२९॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृतटीका।

मुक्तिरानीतेति। यश्चानुशयिनमिति—भुक्तशिष्टकर्मविशिष्टो जीवः 'अनुशयी' इत्युच्यते। रूपेति—मूर्त्या संज्ञया चोपेतेष्वित्यर्थः। कार्य्यदृष्टिमिति—घटादिभ्यः पृथगपि पृथिव्यादेः प्राप्तेरित्यर्थः। अपाश्रयेति—

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

बादरायणेति—तत्समाधिलब्धब्रह्मजीवभेदेन विरोधादित्यर्थः, जाग्रदादिषु जीववृत्तिषु मायामयेषु देहादिषु जीवस्वरूपस्योपाध्युपहितस्योपाधिव्यतिरेकोऽस्ति, तेन शुद्धस्य तस्य विषयावभासकत्व उपाधौ तस्य विलक्षणसम्बन्धरूपान्वयोऽपि जाग्रदादिकालेऽस्ति; तेन तदानीमभिमानितेति। शुद्धजीवोऽपि श्लोकेऽत्र तात्पर्य्यविषयो भवितुमर्हति, तथापि तस्य ब्रह्मत्वं न घटते; प्रागुक्तसमाधिलब्धार्थविरोधात् सुषुप्ते निरुक्तान्वयासत्त्वाच्च न जीवपरतया व्याख्यायते इति भावः। केवल-स्वस्वरूपेण निरुपाध्यंशेन

अनुवाद—

परमेश्वर की मायाख्य स्वाभाविक शक्ति से विश्व के जो नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य, आत्यन्तिक होते हैं। कविगण उसे "संस्था" कहते हैं, द्वितीय स्कन्ध में सर्गादि दस लक्षण के मध्य में जो मुक्ति शब्द है, उस का पर्य्यवसान आत्यन्तिक लय में है, जीव ही इस जगत् के सृष्टि कार्य का निमित्त है। कारण,—जीव के भोग के निमित्त ही श्रीभगवान् इस विश्व का सृजन् किए हैं, उक्त जीव, अविद्या मोहित होकर समस्त कर्म करता रहता है। कतिपय व्यक्ति उक्त निमित्तीभूत जीव को चैतन्य प्राधान्य हेतु अनुशयी कहते हैं, कुछ व्यक्ति—उसे उपाधि प्राधान्य से अव्याकृत कहते हैं।

"अपाश्रय" शब्द से शुद्ध जीव का बोध होने से श्रीवेदव्यास की समाधि में दृष्ट ब्रह्म-जीवगत भेदके सहित विरोध होता है। सुतरां 'व्यतिरेकान्वयौ यस्य' इस श्लोकको व्याख्या शुद्ध जीवपर नहीं हो सकती है,

केवलस्वरूपेण व्यतिरेकः परमसाक्षितयान्वयश्च यस्य तद्ब्रह्म जीवानां वृत्तिषु—शुद्धस्वरूपतया सोपाधितया च वर्त्तनेषु स्थितिष्वपाश्रयः, सर्वमत्यतिक्रम्याश्रय इत्यर्थः। 'अप' इत्येतत् खलु वर्ज्जने, वर्ज्जनञ्चातिक्रमे पर्य्यवस्यतीति। तदेवमपाश्रयाभिव्यक्तिद्वारभूतं हेतुशब्दव्यपदिष्टस्य जीवस्य शुद्धस्वरूपज्ञानमाह, द्वाभ्याम् ;—

पदार्थेषु यथा द्रव्यं तन्मात्रं रूपनामसु। वीजादिपञ्चतान्तासु ह्यवस्थासु युतायुतम्॥
विरमेत यदा चित्तं हित्वा वृत्तित्रयं स्वयम्। योगेन वा तदात्मानं वेदेहाया निवर्त्तते॥ (भा० १२,७,२०-२१)

सर्वसम्वादिनी

घूर्णमानस्तदा मत्स्यो जलवेगोर्मिसङ्कुले। घूर्णमानां तु तां नावं नयत्यमित-विक्रमः॥३०॥
हिमाद्रि-शिखरे नावं वद्ध्वा देवो जगत्पतिः। मत्स्यस्त्वदृश्यो भवति ते च तिष्ठन्ति तत्रगाः॥३१॥
कृत-तुल्यं तदा कालं तावत् प्रक्षालनं स्मृतम्। आपः शममथो यान्ति यथापूर्वं नराधिप।
ऋषयश्च मनुश्चैव सर्वं कुर्वन्ति ते तदा॥३२॥
मन्वन्तरान्ते जगतामवस्था, मयेरिता ते यदुवृन्द-नाथ। अतपरं किं तव कीर्त्तनीयं, समासतस्तद्वद भूमिपाल॥३३॥ इति।

एवं सर्वमन्वन्तरेषु संहार इत्यादि-प्रकरणं श्रीहरिवंशे तदीय-टीकासु च स्पष्टमेव। अतएव पञ्चम-षष्ठ-मन्वन्तरान्ते श्रीभागवतेऽपि (४।३०।४९) प्रलयो वर्ण्यते—

"चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे काल-विद्रुते। यः ससर्ज्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैव-चोदितः" ॥३४॥
इत्यादौ; (भा० ११३११५)—
"रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तर-संप्लवे। नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्" ॥३५॥ इत्यादौ च।
तथा च भारत-तात्पर्ये (३।४३) श्रीमध्वाचार्याः—"मन्वन्तर-प्रलये मत्स्यरूपो विद्यामदान्मनवे देवदेवः इति; द्वादशे (भा० १२।८।३) शौनक-वाक्ये—
"स वा अस्मत्कुलोत्पन्नः कल्पेऽस्मिन् भार्गवोत्तमः। नैवाधुनापि भूतानां संप्लवः कोऽपि जायते" ॥३६॥

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका।

ईश्वरध्यानयोग्यो भवतीत्यर्थः। स्वयमिति—वामदेवः खलु गर्भस्थ एव परमात्मानं बुबुधे, योगेन देवहूतीत्यर्थः॥६३॥

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

व्यतिरेक इति; तेन ब्रह्मणस्तुरीयत्वं परमसाक्षितया शुद्धजीवस्य साक्षाद्दर्शनशक्त्युद्बोधकतयाऽन्वयश्चेति, "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" (नृसिंह०पु० ४,२) इति, श्रुतेः तुरीयं त्रिषु सन्ततम्" इति स्मृतेश्च, एकादशात् जीवोऽल्पशक्तिरल्पज्ञः" इत्यादिश्रुत्या जीवस्य स्वतःसिद्धज्ञानाभावात्, "बुद्धेश्चोदयिता यश्च चिदात्मा पुरुषो विराट्।" इति गायत्र्यर्थविवरणयाज्ञवल्कयवचनात्। "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो नस्यात्, एष ह्येवानन्दयति जीवान्" इति रामानुजभाष्यधृतश्रुतेश्च, जीवस्य मुक्ततादशायां दशात्रयातीतत्वेऽपि न तदानीं दशात्रयान्वय इति तद्व्यावृत्तिः। रूपनामात्मकेषु—रूपनामयुक्तेषु।

अनुवाद—

अर्थात् शुद्ध जीव आश्रय नहीं हो सकता है, किन्तु उस का अर्थ निम्नोक्त रूप है,—जाग्रदादि अवस्था एवं माया कल्पित महदादि द्रव्यरूप जीव वृत्ति में जिन का केवल स्वरूप में अर्थात् शुद्ध ब्रह्मरूप में व्यतिरेक है, एवं उक्त वस्तुसमूह में जीव का भी परम साक्षी, तथा दर्शन शक्ति का उद्बोधक रूपमें जिन का सम्बन्ध है, वह ही ब्रह्म है, एवं शुद्धस्वरूप में, तथा सोपाधिक रूपमें वर्त्तमान जीव के स्थिति काल में भी आप आश्रय है, अर्थात् सव को अतिक्रम करके आश्रय रूप में वर्त्तमान है। अति श्लोकस्थ अति शब्द का वर्जन अर्थ है, एवं वर्जन अर्थ भी अतिक्रम अर्थ में पर्य्यवसित है। अतएव इस श्लोक में अतिक्रम अर्थ गृहीत हुआ है।

इस प्रकार अपाश्रय अभिव्यक्ति के द्वार स्वरूप, हेतु शब्द से कथित जीव का शुद्ध स्वरूपत्व का वर्णन

रूप-नामात्मकेषु पदार्थेषु घटादिषु यथा द्रव्यं पृथिव्यादि युतमयुतञ्च भवति, कार्य्यदृष्टिं विनाप्युपलम्भात्। तथा तन्मात्रं शुद्धं जीवचैतन्यमात्रं वस्तु गर्भाधानादिपञ्चतान्तासु नवस्वप्यवस्थासु अविद्यया युतं स्वतस्त्वयुतमिति शुद्धमात्मानमित्थं ज्ञात्वा निर्विण्णः सन्नपाश्रयानुसन्धानयोग्यो भवतीत्याह,—विरमेतेति। वृत्तित्रयं—जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपम्। आत्मानं—परमात्मानम्। स्वयं—वामदेवादेरिव मायामयत्वानुसन्धानेन देवहूत्यादेरिवानुष्ठितेन

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र तदस्वीकारस्तु कल्पान्त-प्रलय-विषय एव,—(भा० १२।८।२) "येन ग्रस्तमिदं जगत्" इत्युक्तत्वात्, मन्वन्तर-प्रलये भावि-मन्वादीनामपि स्थितेश्च। षष्ठे तु प्रलयोऽन्यस्मान्मन्वन्तरादविलक्षणः,—त्रैलोक्यस्यैव मज्जनात्; तथा चाष्टमे (भा० ८।२४।३३) श्रीमत्स्यदेवेनोक्तम्,—

त्रिलोक्यां लीयमानायां सम्वर्त्ताम्भसि वै तदा। उपस्थास्यति नौः काचिद्विशाला त्वां मयेरिता ॥३७॥ इति

एतदपेक्षयैव तत्र श्रीशुकेनापि (भा० ८।२४।११) "योऽसावस्मिन् महाकल्पे" इत्युक्तम्;—'कल्प'शब्दस्य प्रलय-मात्र-वाचित्वात्; महच्छब्दस्य मन्वन्तरान्तर-प्रलयापेक्षत्वात्,—"सम्वर्त्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्त इत्यपि" इत्यमरः। अतस्त्रैलोक्य-मज्जनहेतोरेव दैनन्दिन-प्रलयवद्ब्रह्मापि तदा सत्ययुगसमान-काले प्रलये श्रीनारायण-नाभिकमले विश्राम्यति; —यत एव तत्रविश्रमण-साम्यात् (भा० ८।२४।३७) "यावद्ब्राह्मी निशा" इति निशा-शब्दः प्रयुक्तः। तत्र च त्रैलोक्य-मज्जनेऽपि केषाञ्चिद्देवासुरादीनामसमाप्तभोगानां स्थितिस्तां नावमालम्ब्यचैव; यदुक्तं श्रीमत्स्यदेवेनैव सत्यव्रतं प्रति,—(भा० ८।२४।३४)

श्रीमद्बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका।

इति कलीति;—कलियुगपावनं यत् स्वभजनं, तस्य विभजनं वितरणं प्रयोजनं यस्य, तादृशः अवतारः प्रादुर्भावो यस्य, तस्य श्रीभगवत्कृष्णचैतन्यदेवस्य चरणयोरनुचरौ, विश्वस्मिन् ये वैष्णवराजास्तेषां सभासु

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

पञ्चता—मरणं, द्रव्यस्य—पृथिव्यादेः घटादावुपादानतया व्यापकस्य योगायोगौ सम्भवतः। जीवस्याणुतया-ऽनुपादानतया च कथमेकदा देह-योगायोगौ सम्भवतः? इत्यत आदौ पूरयति अविद्ययेति,देहवैशिष्ट्यावच्छेदे-नाविद्यया मोहनं; तदुपहिते मोहनाभाव इति पर्य्यवसितम्। दृष्टान्तस्तु योगमायांशमात्रे। स्वतस्तु देहादिविशेषणान्तर्भावेण अयुतमिति। एतेन जीवस्य न स्वाभाविकोऽविद्यासम्बन्ध येन न तत्त्यागः स्यात्;

अनुवाद—

श्लोकद्वय से करते हैं। रूप नामात्मक घट-पटादि पदार्थ में पृथिवी प्रभृति द्रव्य जिस प्रकार मिलित एवं अमिलित भाव से रहते हैं, अर्थात् जब घट की ओर दृष्टि पड़ती है, तब उस का उपादान रूप पृथिव्यादि की उपलब्धि होती है, उस समय पृथिवी घट में युत तथा मिलित है। घटादि कार्य्य के प्रति दृष्टि न पड़ने से केवल पृथिव्यादि के प्रति दृष्टि पड़ती है, तब उसे अयुत—अमिलित कहा जाता है। इस प्रकार चैतन्य मात्र शुद्ध जीव—गर्भाधान से मृत्यु पर्य्यन्त नौ अवस्था में कभी युत कभी अयुत भी अविद्या से होता है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मा को अवगत होकर जब जीव निर्विण्ण होता है, तब वह अपाश्रय होता है, अर्थात् ईश्वर का ध्यान करने का योग्य होता है। इस का प्रतिपादन करते हैं—जिस समय वामदेवादि के समान जीव संसार को मायामय जानकर अथवा देवहूति प्रभृति के समान अनुष्ठित योग के द्वारा जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिरूप त्रिविध वृत्ति को परित्याग कर चित्त विषय से विरक्त होता है, उस समय जीव परमात्मास्वरूप श्रीकृष्ण को दर्शन कर कृतार्थ होता है, एवं तब ही वह स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण चरणारविन्द के भजनानन्द में विभोर होकर देह दैहिक समस्त विषय को भूल जाता है ॥६३॥

सारार्थः—अनुशयी—प्रलय कालमें प्रकृति भर्त्ता कारणार्णवशायी श्रीसङ्कर्षणात्मक प्रथमपुरुष योगनिद्रामें

योगेन वा। ततश्च ईहायाः तदनुशीलनव्यतिरिक्तचेष्टायाः। १।७ श्रीसूतः। उद्दिष्टः सम्बन्धः॥६३

इति कलियुगपावन-स्वभजनविभजनप्रयोजनावतार-श्रीश्रीभगवत्कृष्णचैतन्यदेव-चरणानुचर-विश्ववैष्णवराजसभा-सभाजनभाजन-श्रीरूप-सनातनानुशासनभारतीगर्भे श्रीभागवतसन्दर्भे "तत्त्वसन्दर्भो" नाम प्रथमः सन्दर्भः॥

सर्वसम्वादिनी

"त्वं तावदोषधीः सर्वा वीजान्युच्चावचानि च। सप्तर्षिभिः परिवृतः सर्वसत्त्वोपवृं हितः" ॥३८॥ इति।

तस्मात् सिद्धे मन्वन्तर-प्रलये, तस्यापि नैमित्तिकत्वाच्चतुष्टयानतिरिक्तत्वम्। अन्योऽप्यकस्मात् प्रलयः श्रूयते,—यथा स्वायम्भुव-मन्वन्तर-सृष्टचारम्भे, यथा च षष्ठ-मन्वन्तरमध्ये प्राचेतस-दक्ष-दौहित्र-हिरण्याक्ष-वधे। उभयोरैकचेन कथनं तृतीये लीला-साजात्येनैव ज्ञेयम्; यथा पाद्म-ब्राह्मकल्पयोः क्वचित् क्वचित् साङ्कर्य्यम्, तद्वत्। तस्मात् (भा० २।१०।६) "निरोधोऽस्यानुशयनमात्मनः सह शक्तिभिः" इत्येतल्लक्षण-मप्युपलक्षणमेव,—नित्यप्रलयेऽपि तदव्याप्तेः॥६३॥ मूलम् २५। श्लोकाः ४७५।

सन्दर्भमुपसंहरति,—'उद्दिष्टः सम्बन्धः' इति सम्बन्धिनः परमतत्त्वस्य दिङ्मात्रमेव दर्शितमित्यर्थः।

श्रीमद्‌बलदेव-विद्याभूषण-कृताटीका

यत् सभाजनं सत्कारस्तस्य भाजने पात्रे च यौ श्रीरूप-सनातनौ, तयोरनुशासनभारत्य उपदेश वाक्यानि गर्भे मध्ये यस्य तस्मिन्॥※॥

टिप्पनी तत्त्वसन्दर्भे विद्याभूषणनिर्मिता। श्रीजीवपाठसंपृक्ता सद्भिरेषा विशोध्यताम्॥

इति श्रीमद्बलदेवविद्याभूषण-विरचिता—तत्त्वसन्दर्भ-टिप्पनी समाप्ता।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका।

किन्त्वौपाधिक इति, ज्ञानं वैराग्योपयोगि-तत्तरणसाधनप्रवृत्त्युपयोगीति तद्दर्शितमिति भावः। यदा चित्तं विरमेत, वियुक्तं सदात्मनिष्ठं भवति। स्वतो योगेन वा वृत्तित्रयं—जाग्रदाद्यवस्थात्रयं हित्वा आत्मानं—परमात्मानं वेद—पश्यति, तत ईहायाः—इतरसाधनान्निवर्त्तते इत्यर्थः। "यदात्मानं विजानीयादयमस्मीति पुरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय संसारमनुसंसरेत्" (वृ०आ० ४, ४, १२) इतिश्रुतेः। अयमस्मि—देहादिव्यतिरिक्तब्रह्मांशचिद्रूपोऽस्मीति, "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।" इतिश्रवणात्—"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि

अनुवाद—

शायित होते हैं। उस समय भुक्तशेष कर्म के सहित जीव शयन करता है। तज्जन्य जीवको अनुशयी कहते हैं।

जीव को सृष्टि प्रभृति का निमित्त कहने का तात्पर्य्य यह है—श्रीभगवान् परिपूर्ण स्वरूप हैं, उन में सुखाभाव नहीं है, तदितर वस्तु में भोग की आकाङ्क्षा भी नहीं है, जीव के भोग के निमित्त ही आप विविध वैचित्रीमय जगद्रूप विषय की सृष्टि करते हैं।

श्रीभगवान् स्वयं ही कहे हैं—"जीवभूतां महावाहो! ययेदं धार्य्यते जगत्।" अर्थात् विमूढ़ जीवगण जिस प्रकार शय्या-आसनादि का भोग करते हैं, उस प्रकार चेतन प्रकृति स्वरूप जीव के निमित्त पूर्वभोग-विशिष्ट कर्म के द्वारा तदनुरूप यह जगत् विहित हुआ है।

"तदात्मानं वेद"—जीव का चित्त संसार में निर्विण्ण (विरक्त) होने से ही उस के बाद श्रीभगवत् साक्षात्कार होता है, उस समय उस का व्यक्तिगत रूप से कुछ भी जागतिक कर्त्तव्य नहीं रहता है। श्रुति कहती है— "यदात्मानं विजानीयादयमस्मीति पुरुषः।

किमिच्छन् कस्य कामाय संसारमनुसंसरेत्॥" (वृ० आ० ४, ४, १२)

यह मैं ही सम्प्रति देहादि भिन्न हूँ, ब्रह्म का चिद्रूप अंश स्वरूप हूँ, इस प्रकार जव जीव निज स्वरूप

सर्वसम्वादिनी

अत्र तस्य सम्बन्धिनः शास्त्र-वाच्यत्वे षड़् विधं लिङ्गमप्युदाहृतमेवेति न पुनर्विवृतम् । तथा हि तत्रोपक्रमोपसंहारयोरैक्यम्—(भा० १।१।२) "वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु" इति, (भा० १२।१३।१२) "सर्ववेदान्तसारम्" इति ; अभ्यासः—(भा० २।१०।१) "अत्र सर्गः" इति ; अपूर्वता—(भा० १।२।११) "वदन्ति तत्तत्त्वविदः" इति, अन्यैरनधिगतत्वात् ; अर्थवादः, फलञ्च—(भा०१।१।२) "शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्" इत्यनुदाहृतमप्यनुसन्धेयम् ; उपपत्तिः—(भा० २।१०।२) "दशमस्य विशुद्धचर्थम्" इति ।

सन्दर्भसमापयति,—इतीति ; 'विभजनं'—दानम् ; 'विश्वेऽस्मिन् ये 'वैष्णवराजाः'—तच्छ्रेष्ठास्तेषां 'सभासु' यत् 'सभाजनं—सम्माननम्, तस्य 'भाजनं'—पात्रम् ; 'अनुशासनम्'—आज्ञा शिक्षा वा, तद्रूपा या 'भारती', तस्या 'गर्भ'रूपे — तत्सम्भूत इत्यर्थः ।।६३।।

इति श्रीभागवतसन्दर्भे श्रीसर्वसम्वादिन्यां श्रीतत्त्वसन्दर्भानुव्याख्या ।।१।।

श्रीराधामोहन-गोस्वामिभट्टाचार्य्यकृत-टीका ।

श्रुतेश्च जीव-परयोरेव ज्ञानं श्रेयः-साधनमिति पर्य्यवसितम् । इत्थञ्च पुराणलक्षणे आश्रयपदं सर्वाधारं सर्वकारणं सर्वान्तर्य्यामि तुरीयचैतन्यैकरूपब्रह्मकृष्णपरमिति निर्व्यूढं, "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य" इत्यादि गोपालतापन्यादिश्रुतेरिति । सम्बन्ध इति — श्रीभागवत-तदभिधेय-तत्प्रयोजनानां मिथः सम्बन्ध इत्यर्थः ।।६३।।

इति कलियुगपावनावतार-श्रीमदद्वैतकुलोद्भव-श्रीराधामोहनगोस्वामि-भट्टाचार्य्य-कृता तत्त्वसन्दर्भ-टीप्पनी सम्पूर्णा ।

अनुवाद—

की उपलब्धि करके परमात्मा को अवगत होता है । उस समय उस की वासना कहाँ रहती है, वह किस उद्देश्य से इस संसार में पुनर्वार आसक्त होगा ? श्रुति-स्मृति एक वाक्य से उसको कहती है—

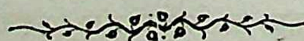
"भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।"
(मुण्डक० २, २, ८) (भा० १, २, २१)

जब जीव का आत्मसाक्षात्कार होता है, उस समय जीव हृदय की चित्-जड़ात्मक ग्रन्थि नष्ट होजाती है, असम्भावना विपरीत भावना प्रभृति संशय समूह विनष्ट हो जाते हैं, एवं देहारम्भक कर्म समूह भी मूलतः क्षीण हो जाते हैं । इस प्रकार जीव की स्व-स्वरूपोपलब्धि एवं श्रीभगवदनुभव ही परममङ्गल साधन है,—यह स्थिरीकृत हुआ ।

ग्रन्थकार श्रीजीवगोस्वामी चरण ने पुराण लक्षणस्थ 'आश्रय' पद की जो व्याख्या की है, उस से सर्वाधार, सर्वकारण, सर्वान्तर्य्यामी तुरीय-चैतन्य नराकृति परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही मुख्य 'आश्रय' पदार्थ हैं, यह ही निर्व्यूढ़ अर्थ है, एवं श्रीभगवान् के सहित ही श्रीमद् भागवत का सम्बन्ध है, वह भी उक्त वाक्य समूह के द्वारा सिद्धान्तित हुआ है ।

कलियुग-पावन निज-भजन वितरण करना ही जिन अवतार का एकमात्र प्रयोजन है, उन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य देव के श्रीचरण के अनुचर एवं विश्व-वैष्णवराज-सभा द्वारा आदरणीय श्रील रूप-सनातन के सदुपदेशमय भारती के मध्य में श्रीभागवतसन्दर्भस्थ "तत्त्वसन्दर्भ" नामक प्रथम सन्दर्भ समाप्त ।

भूदेवान्वयजातेन भृगभर्गान्वयवर्त्तिना
शास्त्रिणा हरिदासेन वृन्दारण्यनिवासिना ।
आश्विनस्य सिते पक्षे दशम्यां विजयोत्सवे
नेत्रे रन्ध्रे ग्रहे रामे वृत्तिरनुपमा कृता ।।



॥ श्रीविष्णुप्रियाविश्वम्भरौ विजयेताम् ॥

तत्त्व-सन्दर्भटीका—

…:०(स्वर्णलता)०:…

श्रीगौरकिशोरगोस्वामिवेदान्ततीर्थविरचिता।

यो गृह्णाति चिरं सेवामात्मप्रीतिप्रदां ध्रुवाम्। सुष्ठुसम्पादितां साध्वीं स्वभार्य्याभ्रातृवंशजैः ॥
विष्णुप्रियाहृदिस्थोऽसौ श्रीगौराङ्गोमहाप्रभुः। मायामुग्धान् जनान् पातु प्रेमभक्तिप्रदानतः ॥
श्रीकृष्णः परमानन्दो राधयालिङ्गितः सदा। विदधातु परं क्षेमं तत्पादाब्जश्रिताय च ॥
नत्वा विष्णुप्रियानाथं नाम्नास्वर्णलता मया। विवृतिः क्रियते शुद्धा सन्दर्भार्थप्रबोधिनी ॥
येन संरचितं मूलं स श्रीजीवो दयानिधिः। शक्तिं सञ्चारयत्वस्मिन् विवृतेः परिलेखने ॥
"कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः। वचो विन्यासवैचित्र्यमात्रमत्रविचार्य्यताम् ॥"

श्रीगौराङ्गचरणकमलमकरन्दमधुपश्रीकृष्णचैतन्यवैष्णवसम्प्रदायाचार्य्यचूड़ामणिः श्रीजीवगोस्वामिपादः चिकीर्षितस्य षट्सन्दर्भापरनाम श्रीभागवतसन्दर्भसिद्धान्तग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं निर्विघ्नपरि- "समाप्तिकामोमङ्गलमाचरेदित्य"विगीतशिष्टाचारानुमितश्रुत्यादौ तत्त्वसन्दर्भग्रन्थप्रारम्भे कलिकलमषाच्छन्नानां वेदबोधितोपास्यनिर्घण्टव्याजेन मङ्गलमाचरति "कृष्णेति"।

सर्वोऽप्ययं लोकप्रसिद्धो वेदः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामनवगतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः, सर्वपुरुषाणां निसर्गत एव तत्प्राप्तिपरिहारयोरिष्टत्वात्; दृश्यते हि खलु सुखदुःखप्राप्तिपरिहारयोर्लोकप्रवृत्तिः, "सुखं मे स्यात्; दुखं माभूदिति" स्वभावतः सर्वेषां पुरुषाणामनवच्छिन्नसुखादिमात्रे अभिलाषोपलम्भात्। दृष्टविषये च इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायज्ञानं प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव सञ्जायते; अतएव न तत्रागमान्वेषणं, उपासनादिपारमार्थिकालौकिकविषये तु प्रत्यक्षदीनामप्रवृत्त्या भवतितत्रागमान्वेषणा। अव्युत्पन्नानां प्रत्यक्षादिकं प्रमाणं माभूत, व्युत्पन्नस्य तु प्रत्यक्षादिनैव पारमार्थिकतत्त्वनिश्चयोभवत्येवेतिचेत् न, व्युत्पन्नस्यापि भ्रमादिदोषचतुष्टयदर्शनात्। यादृशो हि पशुशकुन्तादीनामविप्रतिपन्नमुग्धभावानां व्यवहारः; तादृशो व्युत्पन्नानामपि पुंसां दृश्यते इति प्रत्यक्षादीनां लौकिकप्रमाणभावानामलोकिकतत्त्वज्ञानानुपायता सिद्धा। अतोऽत्रापौरुषेयवेदएवास्माकं प्रमाणम्। प्रत्यक्षादीनां तु तदनुसारितया परतः प्रामाण्यं बोध्यम्। तथाहि द्वापरे वेदेषु समुत्सन्नेषु सङ्कीर्णप्रज्ञैर्ब्रह्मादिभिरभ्यर्थितो भगवान् पुरुषोत्तमः कृष्णद्वैपायनरूपेणावतीर्य्य तान् उद्धृत्य विवभाज; तदर्थनिर्णेत्रीश्चतुर्लक्षणीं च ब्रह्ममीमांसामाविश्चकार इत्यस्तिकथा स्कान्दी; तदनन्तरं श्रीनारदनिर्द्देशेन ब्रह्ममीमांसाया अकृतिमभाष्यभूतं श्रीमद्भागवतमाविर्भावयामास। स्मर्य्यते च गारुड़े "अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां वेदार्थपरिवृंहितः" इति। अथाधुना "स्वल्पं तथायुर्वहवश्चविघ्ना" इतिदृष्ट्वा कलियुगे अस्मिन् युगोचितवेदविहितदेवोपासनां हित्वा अन्यदेवयजनयाजनेन वृथायुःक्षपणेनालमिति निर्णेतुं मङ्गलाचरणप्रसङ्गात् स्वपरपक्षमण्डनखण्डनेनास्मिन् कलौ एकस्यैव श्रीगौराङ्गमहाप्रभुकृष्णचैतन्यदेवस्य प्राधान्येनोपास्यत्वं सकलवेदसारभूतश्रीमद्भागवतपद्यसंवादेन आदौ घोषयति "कृष्णेति"।

श्रीभागवते एकादशस्कन्धे कलियुगोपास्यनिर्णयावसरे पद्यमिदं "कृष्णवर्णम्" इति। तत्र महाराजेन निमिना जिज्ञासितः सन् नवयोगीन्द्राणाम् अन्यतमः श्रीकरभाजनः सत्यत्रेताद्वापरयुगावतारानुक्त्वा तदनन्तरमस्मिन् कलौ "को देवः"? "का वा उपासनापद्धतिः" इति सन्देहनिराकरणार्थं ज्ञापयति "कृष्णवर्णेति"। त्विषा कान्त्या अकृष्णम् इति स्वामिपादेनोक्तम्। यः कान्त्या अकृष्णः तं देवं सुमेधसो

विवेकिनः यजन्ति। यजनप्रणालीमाह सङ्कीर्त्तनप्रायैः, यज्ञैः अर्च्चनैः नतु अन्ययज्ञैः इत्यनेन इतरयजन-प्रणाली अपकृता। सङ्कीर्त्तनम् एकस्य बहुभिः सहमिलित्वा वा उच्चैर्नामगानम्, इत्यनेनाधिकारिभेदो निरस्तः। तत्र च यजने सर्वेषामेवाधिकार इति कलो यजनवैशिष्टयम्। तेनैव हि सर्वपुरुषार्थसिद्धिः, यदुक्तं "कृतेयद्धचायतो विष्णुं" इत्युपक्रम्य "तद्धरिकीर्त्तनात्" इत्यन्तेन श्रीमद्भागवते। कीदृशं देवम् इत्याह "कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्" अत्र त्विषाकृष्णम् इति विशेष्यपदम्। कृष्णवर्णं, साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदं तु अस्य विशेषणम्। कृष्णवर्णं, कृष्णःवर्णोरूपं यस्य तम् इत्यापाततः अर्थबोधेनोपास्य-देवतायाः देहगतरूपं कृष्णम् चिन्तयतां मतं व्यावर्त्तयति त्विषाकृष्णं इति। त्विषा कान्त्या अकृष्णम् इत्यकारप्रश्लेषेण अङ्गवर्णस्य कृष्णत्वकल्पना अपाकृता। अथ कान्त्या यः अकृष्णः स देवः कः ? यमहं भजानि ; इति सन्देहे सञ्जाते संवादिनीप्रेरणेन सिद्धान्तमाह आचार्य्यपादः "त्विषा कान्त्या योऽकृष्णो-गौरस्तं सुमेधसोयजन्ति" अधुनास्य त्विषा अकृष्णस्य कलियुगोचितोपास्यदेवस्य गौरत्वं सकलवेदसारभूत-श्रीमद्भागवतपद्यसम्वादेन साधयति, गौरत्वञ्चास्य "आसन्वर्णास्त्रयोह्यस्य गृह्णतोनुयुगं तनूः। शुक्लोरक्त-स्तथापीत इदानीं कृष्णतां गतः॥" इत्यत्रपारिशेष्यप्रमाणलब्धम् इति। परिशेषस्य भावः परिशेष्यम् ; प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गात् शिष्यमाणेसंम्प्रत्ययः परिशेषः इति न्यायभाष्यम्। प्रसक्तानां सम्भावितानां मध्ये अन्येषां सर्वेषां प्रतिषेधे सति अनन्तरमवशिष्टस्य ग्रहणं परिशेषः। यथा धूमात् वह्न्यनुमाने किमिन्धनोवह्निरिति विशेषजिज्ञासायां धूमस्यवैजात्यपरीक्षणेन तृणपर्णकाष्ठानां निषेधे यत्करीषप्रभवत्वमनु-मीयते तदिदं परिशेषानुमानम्। अप्रसक्तस्य पाषाणादेस्तावत् सम्भावनैवनास्ति, इत्युक्तम् अन्यत्राप्रसङ्गात् अन्यत्र अप्रसक्तेरित्यर्थः। दशमस्कन्धे श्रीकृष्णनामप्रकरणप्रसङ्गे नन्दमहाराजं सम्भाष्य गर्गेणोक्तम् "आसन्वर्णेति"। युगे युगे वारं वारं धर्मसंस्थापनाय भक्तवाञ्छापरिपूरणाय च यथोचितावतारदेहान् गृह्णतः अस्यार्भकस्य शुक्लोः रक्तस्तथा पीत इति त्रयोवर्णा आसन्। हि निश्चये। इदानीं द्वापरयुगे कृष्णतां गतः कृष्णवर्णत्वं प्राप्तः। . सत्यत्रेतयोः शुक्लरक्तावतारौ इदानीं कृष्णावतारः इति शेषः। उक्तञ्च श्रीभागवतामृते "कथ्यन्तेवर्णनामभ्यां शुक्लःसत्ययुगेहरिः", अन्यत्र च 'त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ' "द्वापरेभगवान्-श्यामः" "द्वापरे कृष्णतांगतः" इति च।

इदमत्राकूतं तर्हि पीतपदस्य कुत्रसङ्गतिः ? कस्मिन् युगे वास्य श्रीभगवतः हरेः पीतवर्णत्वम् ? इति प्राप्ते ब्रूमः ; महाभारते दानधर्मोक्तसहस्रनामस्तोत्रे "सुवर्णवर्णोहेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी। सन्न्यास-कृच्छमःशान्तो निष्ठाशान्तिपरायणः"॥ इति यदुक्तं तद्वचनेन सह "कृष्णवर्णं" इति श्लोकस्यैकवाकचतां कृत्वा भागवतपद्यसम्वादेन सत्यत्रेताद्वापरयुगोचितावतारविभागनिर्द्देशं ज्ञात्वा परिशेषानुमानप्रमाणबलेन कलौ अवतीर्णस्य श्रीभगवतः पीतत्वं सिद्धम्। न च "आसन्" इति भूतकालनिर्द्देशेन क्रमप्राप्त्या पीतोऽपि द्वापरयुगावतार इति वाच्यम् ; "नानातन्त्रविधानेनकलावपि तथा शृणु" इति पृथग्निर्द्देशात्। युगावतार-कथनप्रसङ्गे द्वापरे भगवतः पीतत्वं न श्रुतम्।

"त्विषाऽकृष्णः इति पदस्य "पीतवर्णः" "गौरवर्णः" वेति अर्थं विहाय "कृष्णरूपो" अर्थकल्पना न युक्ता प्रकाश्यकृष्णावतारस्य द्वापरान्तर्भावित्वेन प्रसिद्धेः। अत आहुः आचार्य्यपादाः कलौ यः कान्त्या अकृष्णः, गौरः, सुमेधसः तं यजन्ति। कलौ अवतीर्णं कीदृशं त्विषाऽकृष्णं गौरं सुमेधसो यजन्ति, इत्यपेक्षायां विशेषमाह "कृष्णवर्णं" कृष्णोवर्णोरूपं यस्यान्तरमितिशेषः, इन्द्रनीलमणिवदुज्ज्वलकृष्णत्वं तु अस्य उज्ज्वलगलितहेमगौरकान्त्या अभिभूतत्वात् न चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरः इत्यर्थः।

अथवा "कृष्णवर्णं" "कृष्णेत्येतौ वर्णौ यत्र यस्मिन् श्रीगौराङ्गमहाप्रभुकृष्णचैतन्यदेवनाम्नि, श्रीकृष्ण-त्वाभिव्यञ्जकं कृष्णेतिवर्णयुगलं प्रयुक्तमित्यस्तिकथा क्रामसन्दर्भो। यथा द्वापरे श्रीकृष्णोऽवतरति तथैव कलौ श्रीगौराङ्गोऽप्यवतरति ; अन्तः कृष्णोवहिःपीतत्वात् सर्वतःकृष्णत्वाभिव्यञ्जकत्वाच्च श्रीकृष्णस्य प्रच्छन्नाविर्भावविशेष एवायम् अवतारः श्रीगौराङ्गमहाप्रभुरित्यायाति।

श्रीकृष्णस्य कृष्णवर्णपरावृत्त्या गौरवर्णसम्पत्तीचायमेवहेतुः। श्रीराधायाविष्णुप्रियारूपेणावतीर्णयाः स्वप्रेयस्यावर्णभावाभ्यां स्वीयकृष्णवर्णभावाभिभवेन स्वप्रेयसीवर्णभावाविर्भावेन च श्रीकृष्णस्य कलौ प्रच्छन्नावतारत्वम्।

अथैवम्भूतश्रीगौराङ्गदेवस्य परमेश्वरत्वं विज्ञापयति विशेषणान्तरेण "साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्" इति। अङ्गानि मनोरमावयवादीनि उपाङ्गानि महाप्रभावयुक्तभूषणदीनि एव अस्त्रानि पार्षदोः यस्य सः, तं श्रीगौराङ्गमहाप्रभुं सुमेधसो यजन्तीतिनिर्द्देशः। अथवा अङ्गानि हृदयादीनि, उपाङ्गानि कौस्तुभादीनि अस्त्राणि सुदर्शनादीनि, पार्षदाः सुनन्दादयः प्रच्छन्नत्वात् गुप्तभावेनावतिष्ठन्ते यत्र श्रीगौराङ्गावतारे तमित्यर्थः, प्रच्छन्नार्थकत्वरूपकष्टकल्पनां परित्यज्य श्रीगौराङ्गपूर्णावतारोचितव्याख्यामाह आचार्य्यपादः "अत्यन्तप्रेमास्पदत्वात् तत्तुल्या एव पार्षदाः अद्वैताचार्य्यमहानुभवचरणप्रभृतयः तैः सहवर्त्तमानमिति च अर्थान्तरेण वक्तव्यम्।" इति। अत्र "प्रभृतयः" इति पदेन श्रीनित्यानन्दोगदाधरो श्रीवासः तथा श्रीविष्णुप्रियायाः अनुजसहोदरश्रीयादवाचार्य्यः तथा तत्पुत्र श्रीमाधवाचार्य्यः नित्यपार्षदाः ज्ञेयाः।

तमेवंभूतं कलिपावनावतारं श्रीमन्महाप्रभुगौराङ्गदेवं यज्ञैः पूजासम्भारैः सङ्कीर्त्तनप्रायैः सुमेधसः यजन्ति। ये च दुर्म्मेधसः ते श्रीगौराङ्गदेवम् अनादृत्य श्रीगौरनामकीर्त्तनं च परित्यज्य अन्यदेवार्च्चनेन वृथाकालातिपातं कुर्वन्ति अन्ते च निरयं समाप्नुवन्ति इति ध्वनिः ॥१॥

अथ प्रथमश्लोकार्थस्पष्टीकरणाय कलौ श्रीगौराङ्ग एव उपास्य इति अभिधावृत्त्या विज्ञापनार्थं तत् सिद्धान्तदाढ़्र्याय तस्य परमोत्कर्षप्रतिपिपादयिषुः तमेव श्रीगौराङ्गमहाप्रभुकृष्णचैतन्यदेवं स्तौति "अन्तःकृष्णम्" इत्यादिना।

न च स्वतःसिद्धस्य श्रीगौराङ्गावतारस्य पुनः प्रतिपादनं न सङ्गच्छते शास्त्रवाक्यादिना, प्रतिपादनेऽपि हेयोपादेयतारहितस्य तस्यापुरुषार्थत्वप्रसङ्गः, इति वाच्यम्; शास्त्र वाक्यानि श्रीगौराङ्गं प्रतिपादयन्ति; विमूढ़जनानां तथा कुतर्काच्छन्नानां मतिमाकर्षयितुं वाह्यकथया लौकिकरीत्या वा श्रीगौराङ्गम् उपास्यत्वेन ज्ञापयन्ति घोषयन्ति; ततः शास्त्रेन प्रतिपादितत्वेऽपि श्रीगौराङ्गस्य स्वतःसिद्धत्वं न हीयते। यत्तु पुरुषार्था प्राप्तिप्रसङ्गः; नैषदोषः, श्रीगौराङ्गं भगवतः पूर्णावतारभावेन ज्ञात्वा अस्य अर्च्चनादौ निविष्टचित्तानां सर्वक्लेशप्रहाणात् परमपुरुषार्थप्राप्तेः।

यद्यपीदमविरोधेन भक्तिसिद्धान्तं निरूपयितुंशास्त्रं प्रवृत्तं, न उच्छृङ्खलतर्कशास्त्रवत् शुष्कतर्काश्रयेण केवलाभिर्युक्तिभिः किञ्चिन् मतं साधयितुम् खण्डयितुं वा प्रवृत्तं तथापि सम्यक्दर्शनप्रतिपक्षभूतानि आचार्य्यदेशीयानां दुष्टमतानि अवश्यं निराकरणीयाणि, अन्यथा कुतर्कसमाच्छादितं तत्त्वं न पुरुषार्थसिद्धये पर्य्याप्तं स्यादिति तत्तन्मतमुत्थाप्य निराक्रियते।

अत्राशिष्टा मन्यन्ते श्रीकृष्णेन सह भगवतः श्रीगौराङ्गस्य न कश्चिन् सम्बन्धः, न चासौ श्रीकृष्णस्य प्रच्छन्नाविर्भावविशेषः, अतो नेश्वरबुद्ध्या सेवितव्य इति; एतम्मतं निराकरोति; "अन्तःकृष्णेति"। कृष्णत्वं यस्यान्तरमिति। यतः अस्य दर्शनेनैव सर्वेषां चेतसि श्रीकृष्णः स्फुरति। ततः पूर्वपूर्वोल्लिखित-शास्त्रवाक्यादिनाचार्य्यपादनिर्द्देशैनैव च श्रीकृष्णाविर्भावविशेष एवायं श्रीगौराङ्गः। तस्मात् ईश्वरत्वे न कापि शङ्कापदं लभते।

यदपि केचिदाहुः श्रीकृष्णाविर्भावविशेष एवायं श्रीगौराङ्गः;अतः तदीयपत्नीतत्परिकरादिभिः सह अस्य ध्यानमन्त्रादिना पृथक्पूजापद्धतिर्नविद्यते श्रीकृष्णध्यानमन्त्रादिनैव तत्सिद्धेः; अपितु श्रीकृष्णात् ऋते श्रीगौराङ्गस्य न पृथगस्तित्वं येनास्य पृथग्-वीजमन्त्रध्यानादीनिकल्पचेरन्, अतः श्रीकृष्णध्यानमन्त्रादिना श्रीगौराङ्गपूजा समाधेयेति। तन्निरस्यति "वहिर्गौरः" इति निर्देशात्। अन्तःकृष्णत्वेऽपि श्रीकृष्णात् अस्य वैशिष्ठ्यमाह "वहिर्गौरम्" इति। अपूर्वोज्ज्वलहेमसवर्णमित्यर्थः। द्वापरे अतृप्तकामः श्रीकृष्णः

प्रेयस्यावर्णभावाभ्यामात्मानमाच्छाद्य स्वीयाभीष्टपूरणाय कलौ श्रीगौराङ्गरूपेणाविर्भूतः। अतः तत्कालोचितध्यानेन मन्त्रेण च एवम्भूतस्यास्यैतत्काले कुत्र पूजादिसम्भवः? अधिकन्तु श्रीकृष्णस्य ध्यानमन्त्रादौ वर्णिताः ये देहवर्णावयवाः तैः सह श्रीगौराङ्गस्य देहवर्णावयवादेरत्यन्तवैलक्षण्यात् तादृशध्यानादेस्तु रूपाद्यननुगततया श्रीकृष्णस्य ध्यानमन्त्रैः श्रीगौराङ्गपूजा मत्तकल्पनैव। अतः श्रीगौराङ्गपूजायाः तदुचितमन्त्रादेर्व्यवस्थावश्यं स्वीकार्य्या, शास्त्रसङ्गताचेयम्। आचार्य्यचरणैरपि श्रीविष्णुप्रियया सह श्रीगौराङ्गस्य यथोचितयुगलमन्त्रेण श्रीगौरविष्णुप्रियायुगलभजनसेवापूजा तथा श्रीनित्यानन्दादिभिः सह पृथक् पृथग्भावेन श्रीगौराङ्गस्यपूजा तदुचितध्यानमन्त्रेण समाचरिता। यो व्रजे नन्दनन्दनो राधानाथः श्रीकृष्णः स हि अत्र नवद्वीपे शची सुतः विष्णुप्रियानाथः श्रीगौराङ्ग संवृत्तः। या व्रजे वृषभानुनन्दिनी कृष्णप्रिया श्रीराधा, सा हि नवद्वीपे सनातनसुतागौरप्रिया श्रीविष्णुप्रिया।

अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते—यद्यपि युगावतारनिर्णयप्रसङ्गे भागवतादिशास्त्रप्रमाणकः श्रीगौराङ्गः तथापि श्रीकृष्णतत्त्वादपकृष्टतया श्रीगौराङ्गतत्त्वं शास्त्रेण समर्थ्यते, यथा मत्स्याद्यवतारतत्त्वानि; कुत एतत्, परमपुरुषे श्रीकृष्णे सर्वेषामन्तर्भावात्, अतः मूलसेचनेन प्राप्तरसशाखादीनां पुनः पृथक्सेचनमनपेक्षितमेव, श्रीकृष्णात् श्रीगौराङ्गस्य पृथक्ध्यानमन्त्रादीनां स्वीकारेऽपि श्रीगौराङ्गोपासनाया आनर्थक्यप्रसङ्गः; दृश्यते च शास्त्रे "एते चांशकलाःपुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति।

अत्राभिधीयते, न, एतत् तत्त्वयोरुत्कृष्टापकृष्टपरिकल्पनायाः शास्त्रविगर्हितत्वात्। यः श्रीकृष्णः स एव श्रीगौराङ्गः। मत्स्यादीनां तु अंशत्वात् अंशिनि कृष्णे पर्य्यवसानं न विरुद्धं; किन्तु श्रीगौराङ्गः मत्स्यादिवत् न अंशः, येनास्यावसानं श्रीकृष्णे कल्पेयत, अपितु श्रीकृष्णस्य पूर्णाविर्भावविशेषत्वात् श्रीगौराङ्गोहि षड़ैश्वर्य्यैःपूर्णः स्वयं भगवान्, यदुक्तं वृद्धाचार्य्यैः "षड़ैश्वर्य्यैःपूर्णो य इह भगवान् स स्वयमयं; न चैतन्यात् कृष्णात् जगति परतत्त्वं परमिह" इति। श्रीकृष्णचैतन्यशब्दः हि श्रीगौराङ्गस्य सन्न्यासकालोचितनामविशेषः। निमाइ, विश्वम्भरः, विष्णुप्रियानाथः, महाप्रभुः, नवद्वीपचन्द्रः नदीयाविहारी इत्यादीनि अस्य श्रीगौराङ्गस्य अपरनामानि संस्कृतप्राकृतभाषाप्रसिद्धानि। अतः श्रीगौराङ्गतत्त्वमेव हि परतत्त्वमधुना कलौ इति निष्कर्षः।

शक्त्यासह अभिन्नः पुरुषोत्तमः नित्यलीलारसास्वादनपरोऽपि विप्रलम्भादियुक्तापूर्वरसास्वादनार्थं ह्लादिनीशक्त्यासह विभिन्नःसन् यो व्रजे श्रीनन्दनन्दनरूपेनाविर्भूतः सोऽधुना कलौ पूर्वसञ्जातपिपासाया रसविशेषास्वादनेन निवारणार्थं पुनःह्लादिनीशक्त्यासह एकीभूतः सन् श्रीगौराङ्गरूपेणावतीर्णः। आर्षश्चायम् "राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मादेकात्मानावपिभुविपुरादेहभेदं गतौ तौ। चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्वयं चैक्यमाप्तं; राधाभावद्युतिसुवलितं नौमिकृष्णस्वरूपम्। इति।

श्रीमद्भागवतनिबद्धं श्रीकृष्णोक्तं "न पारयेहं निरवद्य" इत्यादिश्लोकेन यत् श्रीकृष्णतत्त्वमाधुर्य्यं प्रकाशितं तदधुनाभिनवमाधुर्य्यान्तिरसंयुक्तं सत् श्रीगौराङ्गतत्त्वाकारेण परिस्फुटम्। यद्वा श्रीकृष्णतत्त्वं हि ह्लादिनीशक्त्यासह प्रेमरसेन परिपाकावस्थान्तरं प्राप्य श्रीगौराङ्गतत्त्वरूपेण पर्य्यवसितम्; तेन च श्रीकृष्णतत्त्वात् एतस्य श्रीगौराङ्गतत्त्वस्यास्वादनवैशिष्ट्यं च "परतत्त्वं परमिह" इति उपासकानामनुभवबलेन सुष्टु संगच्छते।

श्रीकृष्णाविर्भावविशेषएवायं श्रीगौराङ्गः। तथाच तस्य परमेश्वरत्वज्ञापकशास्त्रवाक्यानि उद्धृतानि; अधुना पुनः तान्यप्यपराणि वेदव्यासादिभिः उट्टङ्कितानि उपस्थाप्यन्ते। दृश्यते च पुराणे "अहमेवक्वचिद्ब्रह्मन् सन्न्यासाश्रममाश्रितः। हरिभक्तिं ग्राहयामि, कलौ पापहतान्नरान्"। इति। अन्यत्रतु श्रीमहाभारते दानधर्मे "सुवर्णवर्णोहेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी" "विरहाविषमःशून्योधृताशिरचल श्चलः" तत्रैव पुनः "त्रिसामासामगः सामो निर्वाणं भेषजं भिषक्" सन्न्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा शान्तिपरायणः"

इति। तथाच श्रीमद्भागवते "आसनवर्णास्त्रयोह्यस्यगृह्णतोऽनुयुगं तनूः। शुक्लो रक्तस्तथापीत इदानीं कृष्णतां गतः" इति। पुनः तत्रैव च युगावतारनिर्णयप्रसङ्गे "कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदं यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्तिहि सुमेधसः।" इति च।

शास्त्रान्तरे च "कलेःप्रथमसन्ध्यायां गौराङ्गोऽहं महीतले। भागीरथीतटे रम्ये भविष्यामि शचीसुतः॥ अहमेव कलौ विप्र नित्यं प्रच्छन्नविग्रहः। भगवद्भक्तरूपेण लोकान्रक्षामि सर्वथा॥ अहं पूर्णो भविष्यामि युगसन्धौ विशेषतः। गङ्गातीरे नवद्वीपे वारमेकं शचीसुतः" इति। उक्तं च अनन्तसंहितायां श्रीभगवता "अवतीर्णो भविष्यामि कलौ निजजनैः सह। शचीगर्भे नवद्वीपे स्वर्धुनीपरिवारिते" इति। अपि तु विश्वसारतन्त्रे "गङ्गाया दक्षिणे भागे नवद्वीपे मनोरमे। फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां वै निशायां गौरविग्रहः इति। अपिच उर्द्धाम्नाय संहितायां श्रीभगवद्वाक्यं "कृष्णं वदिष्यन्ति जनाः कंसारातिसुरास्तथा। पौर्णमास्यां फाल्गुनस्य फाल्गुनीऋक्षयोगतः॥ जनिष्ये गौररूपेण शचीगर्भे पुरन्दरात्। वैवस्वतेऽन्तरे ब्रह्मन् गङ्गातीरे सुपुण्यदे" इति। तत्रैव हि कलौ पुरन्दरात् शच्यां गौररूपोविभुःस्मृतः॥" महाप्रभुरितिख्यातः सर्वलोकैकपावनः" इति च।

अपितु दृश्यते तत्र च "श्रीव्यासउवाच; केन रूपेण भगवान् पूजितः स्यात् सुखावहः। घोरे कलियुगे प्राप्ते तन्मे वद दयानिधे।" श्रीनारद उवाच "कृष्णरूपेण भगवान् कलौ पापप्रणाशकृत्। गौररूपेण भगवान् भावितः पूजितस्तथा॥" श्रीव्यास उवाच "केन मन्त्रेण भगवान् गौराङ्गः परिपूजितः। सुखावहः स्याल्लोकानां तन्मे ब्रूहि महामुने॥"

श्रीनारद उवाच "अहो गूढ़तमः प्रश्नो भवता परिकीर्त्तितः। मन्त्रं वक्ष्यामि ते ब्रह्मन् महापुण्यप्रदं शुभम्॥" "ॐ गौराय नमः इत्येषमन्त्रो लोकेषु पूजित"—"मायारमानङ्गवीजैर्वाग्वीजेन च पूजितः" "एवं बहुविधा ब्रह्मन् मन्त्रास्ते परिकीर्त्तिताः"। गङ्गातीरे कुरुक्षेत्रे नवद्वीपे विशेषतः। वृन्दावने च मन्त्रोऽयं साधितः सिद्धिमाप्नुयात्"॥ इत्यादीनि श्रीऊर्द्धाम्नायसंहितायां गौरमन्त्रोद्धारनाम तृतीयाध्यायः। अथ ईशानसंहितायां श्रीपार्वतीं प्रति श्रीमहादेववाक्यम्। "अपरं श्रृणु चार्वङ्गि मन्त्रराजमिमं प्रिये। आदौमायां समुच्चार्य्य गौरचन्द्रं ततो वदेत्॥ भक्तियोगेन गौराङ्गं पूजयेत् प्रिये" इत्यादीनि। तथाहि "नमस्यामि शचीपुत्रं गौरचन्द्रम्" इत्यादि श्रीगौराङ्ग देवस्तौत्रम्। "श्रीमन्मौक्तिकदामबद्धचिकुरम्" इत्यादि श्रीगौराङ्गमहाप्रभोर्ध्यानम्।

"नमस्त्रिकालसत्याय जगन्नाथसूताय च। सभृत्याय सपुत्राय सकलत्राय ते नमः॥

इति श्रीगौराङ्गमहाप्रभोर्प्रणाममन्त्रः। श्लोके तु "सपुत्राय" इति पदेन 'पुत्रः' श्रीविष्णुप्रियायाः सहोदरानुजश्रीयादवाचार्य्यः तेन सह अवस्थितो यः श्रीगौराङ्गमहाप्रभुः तस्मै इति। पुत्रत्वेन श्रीयादवाचार्य्य प्रतिपाल्य स्वीय सेवाधिकारं श्रीगौराङ्गमहाप्रभुः तस्मै परमकृपया ददौ। ततः श्रीयादवाचार्य्यस्य गौराङ्गपुत्रत्वम् सिद्धम्। 'सकलत्राय' इति पदेन 'कलत्रं' श्रीविष्णुप्रिया तया आलिङ्गितो यः श्रीगौराङ्गमहाप्रभुः तस्मै इति।

रत्नसिंहासनोपरि श्रीविष्णुप्रियया आलिङ्गितः श्रीगौराङ्गमहाप्रभुः चामरवीजनादि श्रीयादवाचार्य्येन सेव्यमानः पार्श्वेच ईशानादयः सेवासम्भारोपस्थापनाय तिष्ठमानाः इति श्रीवृन्दाबनठाकुरजनन्यानारायण्या वर्णितं श्रीगौराङ्गमहाप्रभोः रसराजरूपं निर्वर्णयतो ध्यानपरायणस्य श्रीवृन्दाबनठाकुरस्य मुखपद्मात् निर्गतोऽयं श्लोकः "नमस्त्रिकालसत्याय" इति। "शचीनन्दनाय विद्महे" इत्यादि हि श्रीगौराङ्गगायत्री। "अधुना संप्रवक्ष्यामि कवचं सर्व सिद्धिदमु" इत्यादि श्रीगौराङ्गकवचम्। एतानि सर्वानि हि शास्त्रेभ्यः अवबोधनीयानि।

अतः पूर्वोल्लिखितशास्त्रवाकचसमन्वयात् श्रीगौराङ्गस्य परमेश्वरत्वं श्रीकृष्णाविर्भावविशेषत्वं च सिद्धम्।

न च एतद्वाकचगतानां पदानां श्रीगौराङ्गस्वरूपविषयत्वे याथार्थ्येन अवगम्यमाने अर्थान्तरकल्पना युक्ता श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्। द्वापरे यः श्रीकृष्णः कलौ स एव श्रीगौराङ्गः इति शास्त्रविदां तात्पर्य्यम्। अतो यथोचितध्यानमन्त्रादिना श्रीगौराङ्गोपासनाया अवश्यकर्त्तव्यता प्राप्ता; अकरणे प्रत्यवेयुः पुरुषापसदाः। श्रीगौराङ्गमनादृत्य श्रीकृष्णभजनसेवारतस्य जरासन्धादिवत् असुरत्वं ज्ञेयम्। तस्मात् "श्रीगौराङ्गोपासनायाः आनर्थकचप्रसङ्ग" इति—वचनं साहसमात्रम्।

ये च कौलटेराः श्रीकृष्णभक्तिव्याजातिशय्येन श्रीगौराङ्गतत्त्वम् अन्यथा कल्पयन्ति, तथा भावसिन्धु-श्रीगौराङ्गस्य विभिन्नभावोत्थवाकचावलीमनुचिन्त्य "असौ श्रीगौराङ्गः श्रीकृष्णस्य दासः न तु परमेश्वरः" इत्येवं जल्पन्ति च, "मृदङ्गकरतालवाद्यादिभिःसह सङ्कीर्त्तनं न धर्माङ्गम्" इति स्वजातीयसहचरवाकच-बलेन सङ्कीर्त्तनयज्ञस्यापकृष्टतां साधयन्ति, मत्स्यादिवदवताररूपेण, परमसाधारणमनुष्यरूपेण भागवत-रूपेण, वा अमुं श्रीगौराङ्गं चिन्तयन्ति; तेषां गण्डेपश्चचपेटिकास्वरूपं श्रीगौराङ्गतत्त्वमाहात्म्यसिद्धान्त-माहाचार्य्यवरेण्यः "यदद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदपस्यतनुभा; य आत्मान्तर्य्यामीपुरुष इति सोऽस्यांशविभवः; षड़ैश्वर्य्यैः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयमयम्। न चैतन्यात् कृष्णात् जगति परतत्त्वं परमिह" इति। या अव्यवसिताबुद्धिः निखिललोकपतिश्रीगौराङ्गं त्यक्त्वा अन्यत्र धावति सा मतिः कुलटा, तया परिचालितः परिपुष्टः यः जीवः सः कौलटेरः। परिपोषणात् अस्यामतेः मातृत्वं, परिपोष्यत्वात् जीवस्य पुत्रत्वम्, अतः कौलटेरत्वमेषां साम्प्रतमेव।

कलिपावनावतारश्रीगौराङ्गस्य परमेश्वरत्वं ज्ञापयति "दर्शिताङ्गादिवैभवम्" इति। ये तावत् सत्त्वगुण-विवर्ज्जिताः अभक्तास्ते श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभुश्रीगौराङ्गमलौकिकगुणगणैश्वर्य्यादिर्युक्तमपि ईश्वरत्वेन न जानन्तीति कौतुकम्। तदुक्तं यामुनाचार्य्यस्तोत्रे "त्वां शीलरूपचरितैः परमप्रकृष्टैः, सत्त्वेन सात्त्विकतया प्रबलैश्चशास्त्रैः। प्रख्यातदैवपरमार्थविदां मतैश्च; नैवासुरप्रकृतयः प्रभवन्ति बोद्धुम्॥" इति।

अथ ग्रन्थकारः परमेश्वरश्रीकृष्णचैतन्यगौराङ्गमहाप्रभोश्चरणकमले आत्मानं सम्पूर्णरूपेण उत्सर्गी करोति अन्यानपि तत्कर्त्तुमाह्वयति "कृष्णचैतन्यमाश्रिताः" इत्यनेन ॥२॥

पुराकिल श्रीरूपसनातनौ कर्नाटदेशवासिप्रसिद्धब्राह्मणवंसजौ आस्ताम्। अथ कार्य्यव्यपदेशेन तौ द्वौ गौड़े राजमन्त्रिरूपेन अवसताम्। तत्र श्रीगौराङ्गस्यानुगतजनचरणरेणोःस्पर्शेन ज्ञानविज्ञानतपःसम्पत्तिमन्तौ तौ कठोरवैराग्यमवलम्वचा व्रजभूमौ वसन् श्रीगौराङ्गमहाप्रभोःसञ्चारितशक्तिबलेन वैष्णवश्रीग्रन्थादीन् प्रकटयामासतुः। वर्त्तमानग्रन्थकारः तयोर्भ्रातुष्पुत्रः शिष्यश्च, ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तचर्थं तौ द्वौ नमस्करोति। वैराग्यानन्तरं जागतिकधनशून्यत्वेऽपि अहैतुकभक्तिसम्पत्तेरधिकारित्वहेतोरनयोः श्रीयुक्तत्वात् 'श्रील' इति। श्रीरूपसनातनयोर्निर्द्देशेन ग्रन्थकारस्येयं ग्रन्थसङ्कलनप्रवृत्तिः। धाम्ना सह तयोर्जयमिच्छति "जयताम्" इति ॥३॥

ग्रन्थस्यास्य प्राचीनत्वं तथा महाजनवर्त्मचारित्वं दर्शयति "कोऽपीति"। "भट्टो" श्रीगोपालभट्टपादः। वृद्धवैष्णवैः, श्रीरामानुजाचार्य्यश्रीधरस्वामिपादादिभिः यल्लिखितं तद्दृष्ट्वेत्यर्थः। अनेन स्वकपोलकल्पितत्वं निरस्तमिति संवादिनी ॥४॥

अथ ग्रन्थकारः निखिलशास्त्रनिष्णातः महादार्शनिकचूड़ामणिः श्रीजीवगोस्वामिपादः वैष्णवोचित-स्वभावसुलभविनयगुणसम्पन्नत्वात् स्वाहङ्कारं परिहरति "तस्याद्यम्" इति श्लोकेन ॥५॥

अस्य ग्रन्थस्य गुरुत्वातिशय्यात् ग्रन्थप्रारम्भे शपथवाकचमाह "यः श्रीकृष्णेति"। न च विरुद्धमता-वलम्बिभिः सह विचारपराङ्मुखतावशन् स्वीयसाम्प्रदायिकावेष्टनविशेष एवायं येनान्येषां पठनपाठनं व्यावर्त्तितम्। सर्वत्राप्रतिद्वन्द्वित्वेऽपि निरहङ्कारसमदर्शिवैष्णवे उदारतायाः चिरप्राचुर्य्यात्। पुरुषोत्तमे श्रीकृष्णे श्रद्धाहीनानां तत्सम्वन्धिग्रन्थपर्य्यालोचनेन अवज्ञाबुद्धिवशात् परपक्षजिगीषोन्मादनाद्वा अपराधः सञ्जायेत तत् तेषां माभूत्, इति सर्वजनकल्याणकाङ्क्षीग्रन्थकारः स्वार्थीभूतविश्वव्यापीकारुण्यः श्रीजीव-

गोस्वामिपादः अपरान् निषेधति। "अन्यस्मै शपथोऽर्पितः इति ।।६।।

अनन्तरं ग्रन्थस्य यथोचितं नामनिर्द्दिशति "नत्वेति"। श्रीभागवतसन्दर्भं इति। सम्पूर्वदृभधातोर्घञि निष्पन्नं सन्दर्भपदं रचनामाहु। सन्दर्भः प्रबन्धः इति त्रिकाण्डशेषः ; सन्दर्भो रचनागुम्फः ग्रन्थनंसमा इति हेमचन्द्रः। सन्दर्भलक्षणमुक्तं प्राचीनैः यथा :—"गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिः श्रेष्ठता तथा। नानार्थवत्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः"।। वस्मि, कामये ।।७।।

सर्वग्रन्थार्थं संक्षेपेण दर्शयन्नपि मङ्गलमाचरति तथा विषयादीननुबन्धान् निर्द्दिशति, "यस्येतिग्रन्थेन"। अनुबन्धो नाम अधिकारिविषयसम्वन्धप्रयोजनानि। स्वयं भगवान् स श्रीकृष्णः पुरुषोत्तम इह संसारे तत्पादभाजां तच्चरणसेवकानां प्रेमाणं विधत्ताम् विदधातु। कोऽसौ इत्याह यस्य श्रीकृष्णस्यापि चिन्मात्र-सत्ता क्वचित् निगमे ब्रह्मेति संज्ञां याति। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादौ ब्रह्मानुभवोपदेशः श्रुतौ दृश्यते; तद्ब्रह्म श्रीकृष्णस्य चिन्मात्रसत्त्वात् नातिरिक्तम्। श्रीकृष्णस्याचिन्त्यज्ञानरूपत्वविशेष एव ब्रह्म। अपि शब्देन तत्रैव ब्रह्मत्वं मुख्यमित्यानीतम्। ज्ञानमार्गी श्रीकृष्णस्य चिन्मात्रसत्तां ब्रह्मेतिमत्या प्राप्नोतीतिभावः। एतेन चिन्मात्रसत्तातिरिक्तब्रह्मास्तित्वकल्पना विशेषण बाधिता। यस्य स्वरूपतोऽंशः सन्नपि पुनः स्वकीयैः अंशकैर्लीलावताररूपैर्गुणावताररूपैश्च मायां स्वकीयां प्रकृतिं "मायाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते च चराचरम्" "मम माया दुरत्यया" इत्यादि गीतासंवादेन सर्वचराचरविसर्गकरीं जीवविमोहिनीं शक्तिं वशयन् वशीकुर्वन्नेव विभवति विशेषेण प्रभवति। तत्तदवतारग्रहणेनापि नास्य स्वरूपान्यथाभावो भवतीत्याकूतम्। पुमान् पुरुषः सर्वान्तिर्य्यामी परमात्माख्यः एवं श्रीकृष्णाख्यादन्यः यस्येति तस्य भगवत्तासाम्येऽपि श्रीकृष्णस्यैव स्वय भगवत्वं दर्शितम्। यस्य एकं मुख्यं "एकेमुख्यान्यकेवला" इति कोषात् नारायणाख्यं रूपं पाद्मोत्तर-खण्डादि प्रतिपाद्यं, परमव्योम्नि महावैकुण्ठे विलसति, सर्वातिशायिमहिम्ना विराजते। "परमव्योमाख्य-महावैकुण्ठाधिपतिः श्रीपतिः स्वयं भगवान्" इति पाद्मोत्तरखण्डे कथाऽनुसन्धेया। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति" श्रीभागवतप्रामाण्यमिहापि सूचितम्। "श्रीति" तदव्यभिचारिणीस्वरूपशक्तिरपि दर्शिता। इति। संवादिनोविज्ञप्त्या श्रिया राधिकया युक्तः स श्रीकृष्णः प्रेम विधत्ताम्। प्रेम; श्रीकृष्णचरणे अहैतुकप्रीत्यतिशयः। स एव परमपुरुषार्थः। एतेन मुक्त्यादेः परमपुरुषार्थत्वम् अपाकृतं बोद्धव्यम् ।।८।।

अथ विचारप्रारम्भे अनुबन्धकथनानन्तरमादौ यथार्थप्रमाणनिर्द्देशावसरे लौकिकप्रमाणानां दोषं निर्द्दिशति "अथैवमिति"। श्रीकृष्ण एव ग्रन्थस्य विषयः; तेन सह ग्रन्थस्य वाच्यवाचकतालक्षणःसम्बन्धः, तद्भजनं तच्छ्रवणकीर्त्तनादि तल्लक्षणं यद्विधेयं तत्सपर्य्यायां यदाभिधेयं तच्च तन्प्रेमलक्षणं प्रयोजनम्। श्रीकृष्ण-पदाम्भोजभजनैकाभिलाषी एव अधिकारी। एवम्भूतानामर्थानां निर्णयाय लौकिकप्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्यं त्रिनिहन्ति। "तस्यपुरुषस्येति"। प्रत्यक्षादीनां तु पुरुषपारतन्त्र्यात् पुरुषस्य हि भ्रमादिदोषदुष्टत्वात् प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं ज्ञेयम्।

यद्यपि प्रत्यक्षानुमानशब्दार्षोपमानार्थापत्त्यभावसम्भवैतिह्यचेष्ठाख्यानिदशप्रमाणानि स्वीकृतानि तथापि भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवरूपप्रमातृजीवदोषाणां शब्देतरप्रमाणे सञ्चरणात् प्रत्यक्षादीनामप्रामाख्यम-वश्यं स्वीकार्य्यम्। अथ तत्र अतस्मिन् तद्बुद्धिः भ्रमः; यथा शङ्खादौ पीतता मतिः। अनवधानतारूपान्य-चिन्तालक्षणः प्रमादः; येनान्तिके गीयमानं गानं न गृह्यते। वञ्चनेच्छा विप्रलिप्सा; इन्द्रियमान्द्यं करुणा-पाटवं, येन दत्तमनसापि यथाबद्वस्तु न परिचीयते। इति दोषचतुष्टयविभागः।। मनोबुद्धीन्द्रियपञ्चकजन्य-तया षड्विधम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं प्रत्यक्षं ज्ञानं पुरुषदोषवशाद्धि व्यभिचरति; यथा कुसुमात् भेदेन गृह्यमानेऽपि स्फटिकमणावतिस्वच्छतयाजपाकुसुमप्रतिविम्वोद्ग्राहिणिअरुणः स्फटिक इत्यारुण्यविभ्रमः। यथा वा माया-मुण्डावलोकने देवदत्तस्यैवेदं मुण्डं विलोक्यते इत्यादौ। अतः प्रत्यक्षसिद्धस्य व्यभिचार-दर्शनात् यदेव प्रत्यक्षसिद्धं तत् सत्यमित्येषपक्ष विशेषेण पराहतः।

अनुमितिकरणमनुमानं; यत्तदपि व्यभिचरति ; यथा वृष्ट्या तत्कालनिर्वापितवह्नौ चिरं धूमप्रोद्गारिणि

गिरौ "वह्निमान्धूमात्" इत्यनुमानं व्यभिचरति। ऋषिवाक्यमार्षम्। एकेन ऋषिणा समर्थितस्यार्थस्यापरेणदूषितत्वात् पारमार्थिकसिद्धान्ते अस्यापि न प्रामाण्यम्।

अपि च न चातीन्द्रियानर्थान् श्रुतिमन्तरेण कश्चिदुपलभेत। इति शक्यं सम्भावयितुं; निमित्ताभावात् शक्यम् ऋषिणां सिद्धत्वात् सिद्धानामप्रतिहतज्ञानत्वात् इति चेत्; न; सिद्धेरपि सापेक्षत्वात्; धर्मानुष्ठानापेक्षा हि सिद्धिः; स च धर्मश्चोदनालक्षणः। ततः परतन्त्रप्रज्ञस्य वाक्यस्य निरपेक्षप्रामाण्यं न सम्भवति।

सादृश्यज्ञानेन वस्त्ववधारणमुपमानम्। तत्र नगरेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य बनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिरयं पिण्डो गोसदृश इति। गोभिन्नत्वे सति गोगतभूयोधर्मवत्वात्। उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनमर्थापत्तिः। यथा पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते इत्यत्र दिवा अभुञ्जाने पुरुषे पीनत्वं रात्रिभोजनं कल्पयित्वा सिध्यति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विना विषयं नेन्द्रियानि गृह्णन्ति; घटेन सह इन्द्रियसन्निकर्षाभावात् घटो नास्ति इत्यत्र घटानुपलब्धिरूपोऽभाव एव घटाभावे प्रमाणम्।

सहस्रे शतं सम्भवतीति बुद्धिः सम्भवः। अनिर्द्धारितवक्तृकं पारम्पर्य्यप्रसिद्धमैतिह्यम्। तत्र दृष्टान्तः यथेह तरौ यक्षः वसति।

अङ्गुल्युत्तोलनतो घटदशकादिज्ञानकृच्चेष्टेति। भवतुतावदेतेषां व्यवहारिकविषयान्वेषणे प्रामाण्यं किन्तु पुरुषस्याज्ञानाच्छन्नत्वेन दोषवशात् न प्रत्यक्षादीनां परमार्थप्रमापकत्वमितिसिद्धान्ते सर्वेषामेव परीक्षकाणामविवादः।

नकेवल पृथग्जनानामेवाज्ञानाधीनत्वमपितु व्यवहारसमये परीक्षका अपि न लोकसामान्यमतिवर्त्तन्ते। यदुक्तमद्वैतवादाचार्य्येन "पश्वादिभिश्चाविशेषात्"। सुतरामलौकिकाचिन्त्यस्वभावाप्राकृतगुणगणविशिष्टवस्तुस्पर्शायोग्यत्वाच्च प्राकृतदेहिनां प्रत्यक्षादीनां न तत्र प्रामाण्यम्॥९॥

अथ प्रत्यक्षादीनां पारमार्थिकवस्त्ववधारणे अप्रामाण्यं निर्वर्ण्य सकलप्रमाणशिरोमणिरूपेण शब्दात्मकवेदस्य एव प्रामाण्यं निर्द्दिशति "ततस्तानीति"।

वेदप्रमाणवादिवैचित्र्यादस्य प्रामाण्ये प्रकारभेदो दृश्यते। तत्र ये च वैशेषिकाःखल्वर्द्धवैनाशिकाः ते लौकिकतर्कानुगृहीतवेदवाक्यस्यैव प्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्ति, न च स्वातन्त्र्येण; न तर्कानुगृहीतानां वा। क्रियापरत्वरूपेण हि वेदस्य प्रामाण्यं न स्वरूपपरत्वेन; यथा 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इत्यादिना क्रियापरत्वं वेदशास्त्रस्य प्रदर्शितम्, अपितु वेदस्य शास्त्रत्वप्रसिद्धिरस्ति; प्रवृत्तिनिवृत्तिपराणाञ्च सन्दर्भानां शास्त्रत्वं, यत्राहु मीमांसावार्तिककाराः; "प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥" इति। तस्मात् शास्त्रत्वप्रसिद्ध्या व्याहतमेषां स्वरूपपरत्वमिति मीमांसका मन्यन्ते।

प्रधानकारणवादपरिपोषकविधया तथा कापिलस्मृत्यनुगतरूपेण च वेदा व्याख्येया इति साङ्ख्या वदन्ति। अन्यत्र ये च मायावाद्यद्वैतवेदान्तवादिनः ते हि सर्वेषु वेदवाक्येषु निर्विशेषब्रह्मपरवेदवाक्यानां प्रामाण्यं न विघातयन्ति; सविशेषब्रह्मपरवेदवाक्यानां लक्षणया निर्विशेषपरत्वं साधयन्ति, जगन्मिथ्यात्वकल्पितव्याख्यापक्षे संयोजयन्ति च असामर्थ्ये तु परित्यजन्तीति अर्द्धकुक्कुटीन्यायेन मायावादीनां वेदप्रामाण्यग्रहणकौशलम्। अन्ये ये च सुगतादयः वेदमस्वीकृत्य धावन्ति ते अपि स्तेयोपायैः संगृहीतवेदवाक्यांशान् स्वमतपरिपोषणाय निवध्नन्तीति कौतुकम्।

अथ एवम्भूतानां वेदस्यामर्य्यादाकारिणां दुष्टमतनिरासकाय शब्दात्मकवेदस्याप्राकृतवचनलक्षणत्वात् अनादिनिरपेक्षस्वतः प्रामाण्यं साधयन्ति गोस्वामिपादाः 'लौकिकालौकिकज्ञाननिदानत्वादिति' भ्रमप्रमादविप्रलिप्साकरणापाटवदोषरहितवचनात्मकवेदशब्द एव मूलं प्रमाणमिति संवादिनी। अपौरुषेयत्वात् तु अस्य शब्दात्मकवेदस्य लौकिकालौकिकज्ञाननिदानत्वं भ्रमप्रमादादिदोषराहित्यं च। अपौरुषेयत्वं स्वसमानजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणकत्वम्।

न च शिष्टपरिग्रहात् भवतु वेद प्रामाण्यज्ञानं किन्तु वेदस्य सर्वश्रेष्ठप्रमाणत्वं कुतः ? अपितु ईश्वरेण सृष्टत्वात् अस्य नित्यत्वं हीयते; यत् यत् सृष्टं तदनित्यमिति व्याप्तेः, लौकिकालौकिकज्ञाननिदानत्वं वा अस्य न सम्भवति; आदिमत्वात्, इति वाच्यम्; अनधिगताबाधितासन्दिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं,तद्धि निरपेक्षम्। न च केनापि परिग्रहे अस्य कोऽपि लाभः, अपरिग्रहे वा किमपि छिद्यते, दोषरहितत्वादस्यैव हि श्रेष्ठ्यम्। तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रेण "न च ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधात् आम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचरितार्थत्वञ्चेति युक्तम्। तस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य बोधकतया स्वतःसिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्य्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्।" सर्वज्ञेनपरमपुरुषेण ईश्वरेण सृष्टत्वादस्य वेदस्य सर्वज्ञानाधायकत्वं दोषरहितत्वं च। अतः अस्यैवहि सर्वश्रेष्ठत्वं, तत्र हेतुमाह "लौकिकालौकिकज्ञाननिदानत्वात् अप्राकृतवचनेति"। ईश्वरात् ऋते अन्यतः एवम्भूतस्यास्योद्भवः न कदापि सम्भवति। यदुक्तं श्रीशङ्कराचार्य्यचरणैः "ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वाज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्यानेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्य्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदादिलक्षणस्य शास्त्रस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति।"

कारणरहितानां वेदानां सर्वज्ञात् सर्वशक्तिमतः ईश्वरादाविर्भावे अपि प्राकृतसृष्टद्रव्यादिवदस्य नानित्यत्वं प्रजायेत। अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिश्वासवत् आविर्भूतत्वात्। यत् यत् सृष्टं तदनित्यमिति न्यायस्य तु इह नावकाशः; ईश्वरेनाबुद्धिपूर्वकसृष्टत्वात्। तत्र च श्रुति 'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" इति। ध्वंसप्रागभावयुक्तत्वं हि अनित्यत्वम्। वेदस्य तु न प्रागभावः, अनादित्वात्; न वा ध्वंसः, महाप्रलये समागते ईश्वरेण मत्स्यादिरूपेण रक्षितत्वात्, महाप्रलयानन्तरमपि पुनरवभासेन प्रवाहरूपनित्यत्वमप्यव्याहतम्; एतेन स्फोटवादोऽपि निरस्तः। अतः वेदः नित्यः; सुतरां न लौकिकालौकिकज्ञाननिदानत्वे कापि आशङ्का पदं कुर्य्यात्।

न च तर्कानुगृहीतरूपेण हि वेदस्य प्रामाण्यं सम्भवति; तर्कस्यानवस्थितत्वात्। "पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिताः सम्भवन्ति; उत्प्रेक्षायानिरङ्कुशत्वात्, तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षितासन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्ते इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शकचमाश्रयितुम्; पुरुषमतिवैरूप्यात्" इति। शारीरके सिद्धान्तप्रतिध्वनिः। अतो न वेदस्य प्रामाण्ये तर्कस्यापेक्षा; इत्यनेन निरपेक्षत्वेन हि अस्य प्रामाण्यं सिद्धम्। अधिकन्तु वेदानुकूलतर्कस्यैव प्रामाण्यं नेतरेषां शुष्कतर्काणामिति शिष्टा मन्यन्ते।

निरपेक्षस्वतःप्रमाणभावस्य वेदस्य क्रियापरत्वरूपेण प्रामाण्यनिर्वाचनं न युक्तम्। देवं सेवितुं मन्दिरवर्त्मनि गम्यमानयाभिसारिकया पार्श्वस्थितं जनं देवाभिमुखं कर्त्तुं कृपयावलोकने कृते यथा मय्येवमाशक्ता इयं सुन्दरी इति कल्पयति चासौ मूढः, तथा परमपुरुषोत्तमपरे वेदे कर्मोपदेशं श्रुत्वा अस्य वेदस्य कर्मपरत्वं मूढ़कल्पना। तत्र चित्तशुद्धचर्थं हि विधिनिषेधमुखेन कर्मोपदेशः। स हि परमपुरुषार्थप्राप्तेः सहायः। यदुक्तं कर्मविधिच्छायावाकचं पूर्वपक्षीकृत्याचार्य्यशङ्करचरणैः 'किमर्थानि तर्हि' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि; स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः; योहि बहिर्मुखः प्रवर्त्तते पुरुषः इष्टं मे भूयात् अनिष्टं माभूदिति, न च तत्रात्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते; तमात्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविकात् कार्य्यकरणसङ्घातप्रवृत्तिगोचरात् विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्त्तयन्ति; "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इत्यादीनि"। अतो न कर्मपरो वेदो, न वा कर्मपरत्वेनास्य प्रामाण्यम्, अपि तु प्रदीपवत्सर्वार्थप्रकाशकत्वात् स्वतः प्रामाण्यम्।

अतः केनचित् जनेन विरचितस्मृत्यनुसारेणापौरुषेयवेदस्य व्याख्या न कार्य्या; पुरुषस्य दोषदुष्टत्वात्। अपितु "श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी" इति निदर्शनात् सर्वोपरिश्रुतेः प्रामाण्यमभिधेयं स्मृतेस्तु तदविरोधेनेति।

न च मायावादिसम्मतनिर्विशेषपरतया वेदस्य व्याख्याभिधावृत्त्या सम्भवति; निखिलवेदवाकचानां सविशेषेतात्पर्य्यदर्शनात्। श्रुत्यभीप्सितनिर्विशेषत्वं तु प्राकृतवर्जिताप्राकृतत्वं। सविशेषत्वं, प्राकृतरूपाप्राकृतत्वं; प्राकृतरूपमिव रूपं यस्येति न तु स्वरूपतः प्राकृतत्वमिति भावः। मायावादिमतेतु निर्विशेषत्वं प्राकृताप्राकृतराहित्यम्। सविशेषत्वं; प्राकृतवत्त्वमिति तेषामनुभवन्यूनत्वम्। "स ऐक्षत" "एकोऽहं बहुस्याम्" इत्यादिश्रुत्या सविशेषत्वं प्राकृतरूपाप्राकृतत्वं दर्शयति। "अपाणिपाद" इत्यादिना प्राकृतकरचरणादीनि निषेधति, तत्रैव "जवनो ग्रहीता" इत्यादिना तेषामप्राकृतत्वं साधयति। अतः प्राकृतरहिताप्राकृतत्वे निर्विशेषबोधकश्रुतीनां तात्पर्य्यम्। प्राकृतम् अविद्याकृतम्, मायिकम्। अप्राकृतं, अविद्यासम्बन्धशून्यम्, अमायिकम्। अतः केवलनिर्विशेषपरतया वेदस्य प्रामाण्यं न युज्यते। अपितु एकांशग्रहणेनापरांशत्यागेन च अर्द्धजरतीयं प्रसञ्जयति। अतः सर्वांशवेदस्य स्वतः प्रामाण्यं तुल्यमिति ज्ञेयम्। एतेन वेदप्रामाण्ये सुस्थिते यथाक्रमं निरस्तोऽन्यथाख्यातिवादिनामख्यातिवादिनां तथाकापिलानामनिर्वचनीयख्यातिवादिनां च समयः। इदानीं मुक्तकच्छानां विवसनादीनां च समयो निरस्यते।

कारणरहितानां वेदानामपौरुषेयत्वं दोषराहित्यमनादित्वं ज्ञात्वापि अस्य प्रामाण्यस्यास्वीकारो न कार्य्यः। तदस्वीकरणं हि वातुलोचितसाहसमात्रम्।

अथ विरुद्धमतानि विमर्द्द्य निखिलवेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं स्थापितं, रवेरिव रूपविषये। यद्धि संवृतिसल्लौकिकवस्त्ववधारणे वेदप्रमाणान्वेषणा भवति यथा शङ्खादेः पवित्रत्वज्ञाने, तर्हि कैव कथा अलौकिकाचिन्त्यवस्तुनिर्द्देशेषु। तदुक्तं "वेद एवास्माकं सर्वातीतसर्वाश्रयाचिन्त्याश्चर्य्यस्वभाववस्तुविविदिषतां प्रमाणम्" इतिमूले।

यदपि असाम्प्रदायिकैरुक्तं "अविद्यावद्विषयाणि शास्त्राणि" इति। तन्न; अविद्यापगमेऽपि शास्त्रस्योपयोगित्वदर्शनात्। परमेश्वराद् जीवस्य भिन्नत्वे अस्य जीवस्य जीवन्मुक्तचवस्थायां तु वेदशास्त्रस्य श्रीभगवतः सेवासहायकरूपेण सप्रयोजनत्वमस्याविद्यावद्विषयत्वं बाधते। अतो विद्यावद्विषत्वमेव वेदशास्त्राणामिति स्थितम्॥१०॥

न केवलमस्माभिः व्यसनितया सर्वश्रेष्ठत्वेन वेदस्यप्रामाण्यं व्यवस्थापितम्, अपितु श्रीव्यासादिभिः तदपि स्वीकृतं; तदाहु तच्चानुमतमिति। यदुक्तं तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वं तदपि श्रीव्यासकृतब्रह्मसूत्रे "तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः" २।१।११ इत्यत्रदर्शितम्। तर्कः, व्यापकाभाववत्वेन निर्णीते व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः; इति सारार्थः। अप्राकृतविषये तर्कस्यानवसरत्वसमर्थकप्रमाणश्लोकमाह "अचिन्त्या" इति। "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केन योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥" इति। प्रकृतिभ्यः परम्; परं, अप्राकृतं मायातीतमितियावत्। तत्रैव श्रीब्रह्मसूत्रे "शास्त्रयोनित्वात्" "श्रुतेस्तुशब्दमूलत्वात् इत्यादिसूत्रे सर्वत्र शास्त्रस्यैव सर्वोपरि प्रामाण्यं स्थापितम्। अतो "वेद एव अस्माकं प्रमाणं" इति सिद्धान्तः सर्ववादिसम्प्रतिपन्नः। "चिन्त्ये तु युक्तिरप्यवकाशं लभते चेल्लभतां न तत्रास्माकमाग्रहः। सर्वथा वेदस्यैव प्रामाण्यम्"। इति। संवादिनी।

इदमत्रानुसन्धेयम् सूक्ष्मेक्षिकापरायणैः—तर्कस्य कुत्रापि पार्थगर्थ्येन प्रामाण्यं न सम्भवति। मूलप्रमाणविशेषमुपजीव्य असम्भावनाविपरीतसम्भावना-निराकरणद्वारेण प्रमाणपरिगृहीतार्थस्यैव दार्ढ्यमनेन सम्पाद्यते। अलौकिके विषये लौकिकप्रमाणानामप्रवृत्तौ तत्र चालौकिकापौरुषेयवेदस्यैवाधिकारात् का कथा तर्कस्य; तदुपजीव्यप्रमाणानामपि तत्रानधिकारः। यदि वेदपरिगृहीतार्थस्य प्रतिबन्धकशङ्कानिराशद्वारा तर्कस्योपयोगोऽभ्युपगम्यते, तदा नास्माकं विप्रतिपत्तिः। वेदाविरोधिना तर्केण शास्त्रतत्त्वनिर्णये तु गुण एव, शुष्कतर्काश्रयेण धर्मविघातनं पापमेव इति शास्त्रमर्य्यादा। तथा च तर्काश्रयणं तन्मीमांसापरिशोधितप्रणाल्या एव कर्त्तव्यं नेतरथा॥११॥

आदौ शब्दात्मकवेदस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्य तदनन्तरं तदर्थनिर्णायकपुराणस्य प्रामाण्यं सिद्धान्तमुखेन

पूर्वपक्षवाक्यानिसमाधाय घोषयति "तत्रच" इत्यादिना।

इदमत्राकुतः—भवेदेतदेवं पुराणप्रामाण्यान्वेषणं कार्य्यं यदि वेदस्याप्राप्तयाशङ्का; पुराणस्य अस्मात् पृथग्शास्त्रत्वं वा स्यात्;वेदस्य वर्त्तमानत्वे वेदार्थव्याख्यातॄणां मुनीनाञ्च प्रसिद्धत्वे वेदार्थनिर्णायकपुराणस्य प्रामाण्यान्वेषणाप्रवृत्तेः कुतः सम्भावना! साक्षाद्वेदेनैव सर्वप्रयोजनानां सिद्धत्वात्। अत्र सिद्धान्तमाह 'वेदशब्दस्यसम्प्रति' इत्यादिना 'वेदार्थनिर्णायकश्चेतिहासपुराणात्मकः शब्द एव विचारणीयः' इत्यन्तेनेति।

सम्प्रति कलौ युगे जनानामल्पायुष्ट्वात् कलेः प्रभावात् हीनबुद्धित्वाच्च वेदस्य च दुष्पारत्वात् दुरधिगमार्थत्वञ्चेति ज्ञेयम्। 'तथाचोक्तं :—"जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः। ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्यमीयताम्॥" इति न्यायकुसुमाञ्जलौ उदयनाचार्य्यपादैः। अतः पुराणस्य प्रयोजनवत्वमितिभावः। ये के च वेदात् पुराणस्य पृथक्शास्त्रत्वं परिकल्पय अस्य प्रामाण्यं निरस्यन्ति; तेषां मतविमर्द्दनाय वेदेन सहास्याभिन्नत्वं स्थापयति "तत्र च यो वा वेद शब्द." इति। निगूढ़ार्थत्वेनास्यास्पष्टांशस्य स्पष्टीकरणाय तथा वेदस्य पूरणाय पुराणस्योपयोगः। तदुक्तं श्रीमहाभारते पूरणात् पुराणमिति। वेदं समुपबृंहयेत् इति, वेदार्थं स्पष्टीकुर्य्यादित्यर्थः, अपरिपूर्णांशस्य हि समजातीयवस्तुना पूरणं लोकाणां रीति, अन्यथा न च तत् पूरणपदवाच्यम्। तद्धि दृश्यते कनकस्य पूरणं कनकेनैव युज्यते न चान्यपदार्थैरिति। अथ पुराणेन वेदस्य पूरणदर्शनात् पुराणस्य वेदेन सह समजातीयत्वं सिद्धम्। तद्धीदं वाकयं न चावेदेनेति त्रपुणा, सीसकेन। पुराणस्य वेदरूपतायाः स्वीकारेऽपि वेदस्य पुराणात् वैशिष्ट्यं न हीयते। उभयोरपौरुषेयत्वादभेदेऽपि स्वरक्रमभेदो वर्त्तते। अतो "वैशिष्टैकार्थ्यैः"—इति सन्दर्भः। पुराणस्य वेदरूपत्वं न केवलमनुमानेनैवोपन्यस्तमपितु श्रुतिबलेनेति, वेदेन सहैकस्मात् पुरुषोत्तमात् समुद्भूतत्वात् वेदवत् पुराणस्यापि अपौरुषेयत्वं ज्ञेयम्। अतः तत्त्वतो वेदात् अभिन्नं पुराणं वेदवत् प्रमाणम्। "अस्य वा महतो भूतस्य" इति श्रुतेः॥१२॥

पुराणस्य प्रामाण्यदृढ़ीकरणाय अस्यैव तु पञ्चमवेदत्वं निर्द्दिशति। षड़ङ्गवेदपुराणानामाविर्भावकथामाह 'पुरा' इति। अनित्यत्वाशङ्कानिरासाय आह "नित्यशब्दमयः" इति। ध्वंसप्रागभावरहितत्वं हि नित्यत्वम्। ससृजे, आविर्भावयामास, अन्यथा कर्मजसृष्टिस्वीकारे अनित्यत्वप्रसङ्गात् स्ववचनविरोधः। पुराणस्य पञ्चमवेदत्वज्ञापकश्लोकाः यथाक्रमेणोद्धृताः; पुराणं पञ्चमं वेदमित्यादीनि। कार्ष्णं; कृष्णद्वैपायनव्यासेन रचितं सङ्कलितम्। न केवलं पुराणवचनबलेन पञ्चमवेदत्वं व्यवस्थापितम् अपितु "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि" इत्यादि श्रुत्या पुराणस्य पञ्चमवेदत्वं निर्द्दिष्टम्। पुराणादौ शूद्राणामधिकारदर्शनात् न चैषां वेदरूपत्वं इति यः पूर्वपक्षिणामाक्षेपः सोऽप्यनेन निरस्तः॥१३॥

यद्धि पुराणस्य वेदत्वंसाधितं न च तत् लक्षणया वा गौण्या। तत्र मुख्यालक्षणागौणीभेदेन त्रिधा शब्दवृत्तिः। मुख्यापि रूढ़ियोगभेदेन द्विधा; रूढ़िः स्वरूपे जात्या गुणेन वाऽनर्द्दिशार्हेवस्तुनि संज्ञा-संज्ञिसङ्केतेन प्रवर्त्तते, डित्थः, गौः शुक्लः। इति। लक्षणा तु तेनैव सङ्केतेनाभिहितार्थसम्बन्धो यथा गङ्गायां घोषः। इयं पुनस्त्रिधा; अजहत्स्वार्था, जहत्स्वार्था, जहदजहत्स्वार्था च यथा श्वेतो धावति; गङ्गायां घोषः, सोऽयं देवदत्तः। गौणी चाभिहितलक्षितगुणयुक्ते तत्सदृशे यथा सिंहोदेवदत्तः। यदुक्तम् वाचस्पतिमिश्रेण "परशब्दः परत्रलक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्त्तते इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोः सम्प्रतिपत्तिः स गौणः।" अत्र तु लक्षणादीनां नावकाशः, पुराणस्य वेदत्वं मुख्यवृत्त्यैव तु भवति। यद्येवं तथाप्यत्रभवान् प्रष्टव्यः—चतुर्णां वेदानां प्रसिद्धत्वे पञ्चमस्य किं प्रयोजनम्? कुत्र वास्योपयोगः? वेदत्वपुरस्कारेनाभिन्नत्वे कथं न वास्यचतुर्षु अन्तर्भावः इति अपेक्षायां सिद्धान्तसन्दर्भमाह गोस्वामिपादः "पञ्चमत्वे" इति। यजुर्ऋग्सामाथर्वपुराणानि इति भागपञ्चकेन वेदो विभक्तः। तत्र यजुर्ऋग्सामाथर्वभिः आध्वर्य्यवहोत्रौद्गात्रब्रह्मत्वादिचतुर्भिः ऋत्विग्भिः यथाक्रमेण सम्पाद्यं कर्म भवति। पुराणेन तत्र साध्यम्, अतस्तद्भागस्य पञ्चमत्वम्। अस्मिन् पुराणे सर्वेषामेव अधिकारः। अन्यत्र तु केवलद्विजातीनामित्यस्य वैशिष्ट्यम्।

आदौ लौकिकरीत्यनुसारेण "अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतत्" "ऋग्वेदो भगवो" इत्यादिश्रुतया च पुराणस्य पञ्चमवेदत्वं प्रतिपाद्य अधुना तद्विशेषमाह "आख्यानैः" इति। अनन्तरं पुराणस्य वेदवत् व्यवहार-रूपं प्रामाण्यं दर्शयन्नाह "ब्रह्मयज्ञाध्ययने" इति। ब्रह्मयज्ञे वेदाध्ययने अमीषां पुराणानां विनियोगः अस्ति। एतेनास्यापि वेदत्वं समर्थितम्। पुराणस्य सङ्कलनकथामाह 'यदाह भगवान् मात्स्ये'। इति। स्फुटमन्यदिति॥१४

अथ वेदपुराणानां खिलीकरणवार्त्तामाह "संक्षिप्य चतुर" इति। व्यस्ताः विभक्ताः वेदाः येन सः वेदव्यासः प्रोक्तः। न च स्कान्दमाग्नेयमिति समाख्यादर्शनात् स्कन्देन कृतं पुराणमिति कर्त्तृ बुद्धिमोहेन पुराणस्यानित्यत्वमप्रामाण्यञ्चेति वाच्यम्, काठकादिसमाख्यावदस्योपपत्तेः। स्कन्देन प्रोक्तं न कृतमिति प्रवत्तृहेतुका स्कान्दादिसमाख्या कठेन प्रोक्तं काठकमित्यादिसमाख्यावत्; उक्तं च जैमिनिना, आख्या-प्रवचनात् १।१।३० तस्मादस्यानित्यत्वापत्तिर्न सम्भाव्यते।

पुराणादेर्वेदत्वेऽपि तत्र स्त्रीशूद्रादीनामधिकारः। "सूतादीनाम्" इति। तदस्योत्कृष्टत्वं व्यञ्जयति प्रभासखण्डसम्वादेन। दुर्गमार्थस्य विस्तृतसरलव्याख्यानात् छिन्नापरिपूर्णभागस्य सन्निवेशेन पूरणादस्मिन् पुराणे वेदाः प्रतिष्ठिताः। किञ्चेति; वेदार्थदीपकानां मानवीयादीनां मध्ये यद्यपीतिहासपुराणयोः स्मृतित्वेनाभ्युपगमस्तथापि व्यासस्येश्वरस्य तदाविर्भावकत्वात्तदुत्कर्ष इत्यर्थः। तत्र प्रमाणं द्वैपायनेनेत्यादि। इति बलदेवः॥१५॥

श्रीव्यासदेवस्य ईश्वरत्वज्ञापकप्रमाणश्लोकमाह 'व्यास इति' श्रीविष्णुपुराणधृतपराशरवाक्यबलेन बादरायणस्य सर्वज्ञत्वं निष्पादयति। "ततो अत्र इति"। अनेन वेदव्यासस्य ईश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं च प्रतिपादितम्, भगवतो हरेः ज्ञानशक्त्यवतारत्वात्; तदुक्तं श्रीवाचस्पतिमिश्रेण "ज्ञानशक्त्यवताराय नमो भगवतो हरेः।" उक्तञ्च पराशरोपपुराणे "द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने। वेद मेकं स बहुधा कुरुते जगतो हितम्॥" ऋषे गौतमस्याभिशापसम्बन्धीयवराहपुराणीयवार्त्ताप्रसङ्गेन वेदव्यासस्याविर्भाव-कथामाह गौतमस्य इति। पुराणावज्ञाकारिणां तत्प्रत्यवायात् परिणाममाह "तिर्य्यगयोनि" इति॥१६॥

"वेदेति" पुराणस्य वेदवत् प्रामाण्यं साधयति। पुराणज्ञानस्यावश्यकर्त्तव्यतामाह "यो वेद" इति। पुराणे विविधदेवतादीनां निर्द्देश दृष्ट्वा क्षुद्रबुद्धीनामस्य प्रामाण्ये सन्दिहानानां सन्देहनिराकरणाय श्लोकमाह "सात्त्विकेषु" इति। सत्त्वरजस्तमादिगुणभेदात् देवताभेदा। सर्वासु देवतासु श्रीहरिरेव श्रेष्ठः इत्यत्र प्रतिपादितम्॥१७॥

पुराणेष्वपि श्रीमद्भागवतस्य श्रेष्ठत्वं व्यवस्थापयति, "तदेवं सति" इति। इदमत्रावधेयम्; आदौ यत् सत्त्वगुणानुसारेण पुराणानां तथा तत्प्रतिपाद्यदेवतानां विभेदो वर्णितः; अत्र पुनः तेषां पुराणानां तासां देवतानाञ्चोत्कृष्टत्वापकृष्टत्वे अवधारयति। तत्र सत्त्वं हि गुणेषु श्रेष्ठम्।

यद्धि ज्ञानं मन्यसे स सत्त्वधर्मः "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" इति स्मृतेः; सत्त्वधर्मेन हि ज्ञानेन कार्य्य-करणवन्तः पुरुषाः सर्वज्ञा योगिणः प्रसिद्धाः; सत्त्वस्य निरतिशयोत्कर्ष सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धं एवञ्च सत्त्वगुण एव श्रेष्ठः। परमार्थनिर्णयाय ज्ञानस्यात्यावश्यकत्वात् सात्त्विकपुराणमेवोत्कृष्टमिति विचिन्त्य स्वयं सिद्धान्तमाह सत्त्वादिति। "तथापि" इति परमार्थनिर्णायकपुराणानां स्वीकारेऽपि बहूनि सात्त्विक-पुराणानि दृष्ट्वा तत्र परमार्थतत्त्वनिर्द्देशार्हे सिद्धान्ते बुद्धिवैक्लव्यात् जातायां विप्रतिपत्ती वेदपुराणानां सारभूतश्रीव्यासरचितब्रह्मसूत्रमादरनीयं गौतमादीनां सूत्रानि परित्यज्य इति।

तस्य ब्रह्मसूत्रस्य खलु अल्पाक्षरत्वात् विभिन्नाचार्य्यकृतव्याख्यावैषम्यं तत्त्वनिर्द्देशोचितं बुद्धेर्विशुद्धत्वं विघातयति। अथैवम्भूते सङ्कटे सञ्जाते अविरोधेन परमार्थतत्त्वनिर्द्देशाय सर्ववेदेतिहासपुराणसारं ब्रह्म-सूत्रोपजीव्यकं ब्रह्मसूत्रस्य भाष्यभूतं सर्वप्रमाणानां चक्रवर्त्तिश्रीव्याससङ्कलित महापुराणं श्रीमद्भागवतमेव शरणम्। अविसम्वादे तु तद्वचनमेव प्रमाणरूपेण सर्वोपरिग्रहणीयमिति श्रीगोस्वामिसिद्धान्तः॥१८॥

आदौ श्रीमद्भागवतस्य प्रामाण्यं व्यवस्थाप्य पुराणस्य सङ्कलनवार्त्तामाह "यत्खलु" इति। पुराणानि सङ्कलस्य तदनन्तरं निखिलवेदमामथ्य श्रीमताव्यासेन परतत्त्वनिर्द्देशाय ब्रह्मसूत्रं रचितम्। "लघूणि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च। सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः।" इति सूत्रलक्षणात् अस्यालपक्षरत्वेन ब्रह्मसूत्रे तथान्यपुराणादौ च भगवत्पारमैश्वर्य्यमाधुर्य्यलीलागाथादीनां तथापरमपुरुषार्थभक्तिसिद्धान्तस्य च गूढ़तया उक्तेः श्रीव्यासदेवस्यापरितोषः सञ्जातः। तदन्तरं श्रीनारदस्योपदेशेन श्रीभगवत्पारमैश्वर्य्यमाधुर्य्यलीलाकथामयतया परमपुरुषार्थभक्तिसिद्धान्तसमन्वितस्वरचितब्रह्मसूत्राणां भाष्यभूतश्रीमद्भागवतस्य सङ्कलनं कृत्वा परमपरितोषमवाप। परिपूर्णानन्दलीलामयविग्रहस्य भगवतः भक्तिगाथावारिधौ अवगाहनात्।

दृश्यते हि लोके अद्वैतसिद्धिग्रन्थप्रणयने असञ्जाततुष्टेर्मधुसूदनसरस्वतिपादस्य उत्तरे काले भागवतपद्यसम्वादेन भक्तिपरमपुरुषार्थसिद्धान्तपूर्णश्रीभक्तिरसायणग्रन्थरचनानान्तरं परितोषप्राप्तिः।

"अकृत्रिम् भाष्यभूतम्", न कृत्रिमम् अकृत्रिमम्; कुतर्कजालकालुष्यरहितम्; "भाष्यभूतम्" इत्यत्र "भाष्यरूपम्" इतिकथं वा न लिखितं? लेखने च का हानिः, "भाष्यभूतम्" "भाष्यरूपम्" इति पदयोः एकार्थज्ञापकत्वात् उभयोर्न भेदः। इति पाप्ते ब्रूमः; न च तौ एकार्थपरिपोषकौ; "भाष्यरूपम्" इत्यनेन भाष्यस्य रूपमिव रूपमस्य न तु स्वरूपतः भाष्यम् इति दुष्टबुद्धिना कल्पयितुं शकचेत, तन्माभूत्; इति तत्पदं परित्यज्य ब्रह्मसूत्रस्य यद्धि अकृत्रिमभाष्यमेव श्रीमद्भागवतमिति ज्ञापनाय अत्र सन्दर्भे 'भाष्यभूतम्' इति पदं उपात्तम्। अतः श्रीमद्भागवतं हि ब्रह्मसूत्राणां यथार्थसद्भाष्यं सूत्रकृत्सङ्कलितत्वात्। अथ भाष्यलक्षणं, "सूत्रार्थो वर्णते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदोविदुः।" पुनः 'अकृत्रिमभाष्यभूतं श्रीमद्भागवतं' इत्यनेन श्रीमद्भागवताननुगतशारीरकश्रीकण्ठभाष्यादीनां कृत्रिमत्वं स्वबुद्धिकल्पितत्वं सूचितम्; सूत्रनिहितनिगूढ़संक्षेपविषयस्याभिधावृत्त्या लब्धव्याख्यां परित्यज्य लक्षणाबलेन स्वीयमतानुगतान्यार्थावलम्वनात्। अनन्तरमस्मिन् भागवते सर्वशास्त्रस्य समन्वयं दर्शयति 'सर्ववेद' इति। श्रीमद्भागवतस्य स्तुतिमुखेन स्वरूपं निर्द्दिशति; यत्राधिकृत्येति स्फुटमन्यत् ॥१९॥

निखिलपुराणानां मध्ये श्रीमद्भागवतमेव सर्वश्रेष्ठं पुराणं परमसात्त्विकत्वात् स्कन्दवचनसम्वादेनास्य लक्षणमाह "ग्रन्थोऽष्टादश" इति। यद्यपि पाद्मादीनि पञ्चसात्त्विकपुराणानि सन्ति; तथापि सर्वपुराणचक्रवर्त्तिभूतं श्रीमद्भागवतमेव परमसात्त्विकत्वात् अनपेक्षितप्रमाणं स्वीकरणीयम्। परमसात्त्विकत्वे कारणमाह "श्रीमद्भागवतस्य भगवत्प्रियत्वेन भागवताभीष्टत्वेन' इति। पुराणं त्वम् इत्यादीनि विभिन्नवचनानि उल्लिख्य भागवतस्य श्रीभगवत्प्रियत्वं भागवताभीष्टत्वं च साधयति ॥२०॥

यदुक्तं प्राक् श्रीमद्भागवतं हि ब्रह्मसूत्राणामकृत्रिमभाष्यं तदधुना पुराणवचनबलेन दृढ़ीकृत्य गारुड़वचनैश्चास्य परमसात्त्विकत्वं व्यञ्जयति "पूर्णःसोऽयम्" इत्यादिभिः। एतावतास्य स्वरूपं च व्यक्तम्।

अथ भागवतस्य नित्यत्वज्ञापनाय अस्याविर्भावकथामाह "पूर्वं सूक्ष्मत्वेनेति" अत्रायमभिसन्धिः। दृश्यते हि लोके यत् यत् सृष्टं तदनित्यं, जन्यतया अनित्यत्वात्; भागवतं हि न सृष्टं न वा अनित्यं "मनसि सूक्ष्मत्वेनाविर्भूतत्वात्" अतो नित्यम्।

तस्मात् तद्भाष्यभूते इति। ब्रह्मसूत्राणां स्वतःसिद्धभाष्यमिदं भागवतं सर्वोपरिप्रमाणम्।

अन्यद्वैष्णवाचार्य्यरचितम् आधुनिकं भाष्यं तदनुगतं श्रीमद्भागवताविरुद्धमेवादरणीयं तद्विरुद्धं शङ्करभट्टभास्करादिरचितं तु हेयमिति बलदेवः। भारतार्थविनिर्णयः, इतिपदस्यार्थं प्रकाश्य, भारतवचनेन भारतस्य स्वरूपं वर्णयति। "निर्णयं सर्वशास्त्रानाम्" इति। भारतस्य भागवततात्पर्य्यकत्वे प्रमाणश्लोक माह "इदंशतसहस्रम्" ॥२१॥

मैत्रेयविदुरसम्वादेन श्रीमद्भागवतस्य भारतार्थनिर्णायकत्वं दर्शयति; "मुनिरिति"। ग्राम्यकथानुवादैरिति

गृहिधर्मकर्त्तव्यतादिलक्षणैर्व्यावहारिकमुषिकविड़ालादिदृष्टान्तोपन्यासेन च। परिवृंहणं। वृद्धिकर्मणो वृहिधातोर्निष्पन्नम्। सामरूपः इति श्रीमद्भागवतस्य सर्वश्रेष्ठत्वं व्यनक्ति ।।२२।।

श्रीमद्भागवतस्योत्कर्षं घोषयति "अतएव" इति। प्राचीनऋषीणां वर्त्तमानानाञ्च साधुनामादरणीयमिदं भागवतं यतः आह यस्यैवेति। "यदेवहेमाद्री"त्यन्येन धर्मशास्त्रकृताञ्चोपायदेयमिदं भागवतमिति दर्शयति। कलौ श्रीहरिसङ्कीर्त्तनं हि धर्मः। यद्यपि श्रीशङ्कराचार्य्यपादः "जनान् मद्‌विमुखान् कुरु" इति श्रीभगवदाज्ञापालनाय कल्पितमायावादमरचयत् तथापि तत्कृतकाव्ये विश्वरूपदर्शनकृतव्रजेश्वरीविस्मयश्रीव्रजकुमारीवसनचौर्य्यादिकं गोविन्दाष्टकं तेनैव हि निबद्धम्। अतो तेनापि चादृतं भागवतम्। अथ सर्वमान्यं श्रीमद्भागवतम् ।।२३।।

श्रीमध्वमुनेस्तु परमोपास्यं श्रीमद्भागवतमित्याह "यदेवकिलेति"। श्रीमद्भागवतस्य सर्वेतिहासपुराणसारत्वं सर्ववेदान्तसारत्वं च निर्द्दिष्टम्। गलितं फलं सुपक्कं फलम्; अतो स्वयमेव पतितम् अन्यथा अगलितत्वसम्भावनास्यात्। सर्ववेदसारं हि भागवमित्यायाति ।।२४।।

अथ प्रमाणचक्रवर्त्तिभूतश्रीमद्भागवतस्य श्रीशुकदेवमुखपद्मात् आविर्भावकथामाह "तत्रोपयग्मुरिति"।।२५।।

निखिलपुराणानां मध्ये श्रेष्ठमिदं श्रीमद्भागवतं हि श्रीकृष्णप्रतिनिधिरूपम्। अथास्य सर्वगुणयुक्तत्वं दर्शयति 'कलौनष्टदृशां' इत्यादिना, त्रिवित् गुणत्रययुक्तमित्यर्थः। श्रीमद्भागवतस्यश्रुतिरूपत्वं हि साधितम्।।२६

अथ एवम्भूतं भागवतं परमार्थनिश्चयाय सर्वथा आदरनीयम्। अस्य वाक्यं प्रमारूपेण सर्वोपरिग्रहणीयमितिनिर्द्दिश्य प्रमेयप्रकरणारम्भे प्रमाणप्रकरणव्याख्यां समापयति। "तदेवेदमिति"।।

न च "वेद एवास्माकं प्रमाणम्" इति प्रतिज्ञाय प्रमेयप्रकरणारम्भे अवश्यं विचारणीयं तद्‌वेदवाक्यं विहाय "श्रीभागवतमेव पौर्वापर्य्याविरोधेन विचार्य्यते," इति कर्त्तव्यप्रणालीनिर्द्धारणात् स्ववाक्यविरोधापत्तिः; नवा भ्रमः, पुराणस्य वेदत्वाभिधानात्; पुराणेषु श्रीभागवतस्य श्रेष्ठत्वात्। श्रीमद्भागवतवाक्यं हि अस्य सन्दर्भात्मकग्रन्थस्य विषयवाक्यं तद्धि सूत्ररूपं; सन्दर्भोहि अस्य भागवतस्य भाष्यरूपः। अत्रायमभिसन्धिः श्रीधरस्वामिपाद हि परमभागवतवैष्णवः; अतः तत्कृतटीकायां भगवद्‌विग्रहविभूतिधाम्नां नित्यत्वं भक्तेस्तु परमपुरुषार्थत्वं सिद्धान्तरूपेण निर्द्दिष्टं, किन्तु; योऽपि मायावादः तेनोल्लिखितः स हि वड़िशामिषार्पणन्यायेनाद्वैतमायावादिनां भक्तिमार्गे आकर्षणाय कृतम्। अतो न मायावादः साधुसिद्धान्तः। सूत्रं हि श्रीमद्भागवतवाक्यं षठ्‌सन्दर्भात्मकोऽयं ग्रन्थः हि तस्य भाष्यरूपः। भाष्यरूपा इयं व्याख्या स्वकपोलकल्पनादिदोषवर्ज्जिता; तदेवाहु "शुद्धवैष्णवसिद्धान्तानुगता क्वचित् तेषामेवात्र"इति ।।२७

अस्मिन् सन्दर्भे यानि यानि वचनानि उल्लिखितानि तानि किं श्रीभागवतग्रन्थसिद्धान्तपरिपोषणाय उत स्वव्याख्या प्रामाण्याय इति सन्देहे सञ्जाते तत्भञ्जनार्थं "अत्र च" इति ग्रन्थः। स्वकृतव्याख्यापोषणायैव प्रमाणानामुल्लेखः; न तु भागवतवाक्यप्रामाण्याय; श्रीभागवतवाक्यस्य स्वतः प्रमाणत्वात्। यस्मात् ग्रन्थविशेषात् वचनानि गृहीतानि तेषां निर्द्देशमाह "क्वचिदिति"।।२८।। इति प्रमाणप्रकरणं समाप्तम्।।

अथ प्रमेयप्रकरणमारभते; नमस्कुर्वन्नाित। यदुक्तं श्रीकृष्णएवास्य ग्रन्थस्य तात्पर्य्यतः प्रतिपाद्यो विषयः, तद्‌भक्तिलक्षणं अभिधेयम्; तत्प्रेमलक्षणं प्रयोजनम्, तदधुना श्रीभागवतपद्यसम्वादेन विशेषेण व्यनक्ति। श्रीभागवतस्यतात्पर्य्यमाह श्रीसूतप्रोक्तनमस्कारश्लोकेन "स्वसुखनिभृतचेत"।।

इति टीका च तत्र स्वसुखेनैवेति। श्रीभगवद्दासत्वं हि जीवस्य स्वरूपं, भगवद्दासोऽहम् इति स्वरूपानुभवानन्दो हि जीवस्य स्वसुखम्। "एव" इति पदेन ब्रह्मानन्दादीनि इतरसुखानि व्यावर्त्तयति। तत्त्वदीपः इति परमार्थप्रकाशकं श्रीभागवतम्। व्याससूनुं इति श्रीशुकदेवमिति शेषः। किं तावदखिलवृजिनं इति निर्द्दिशति तादृशभावस्येति; भगवद्भक्तिबाधकशुभाशुभकर्माणि इति फलितार्थः। श्रीमान्‌अजित एव, पुरुषोत्तमः

श्रीकृष्ण:, "एव" इत्यनेन इतरं व्यवच्छिनत्ति। तदनन्तरं पुरुषार्थं निर्दिशति प्रयोजनाख्य इति। भगवत्-प्रेमसुखमेव हि पुरुषार्थ:; इदमत्र प्रष्टव्यं। यद्धि भगवत: प्रेमसुखं हि परमपुरुषार्थ: तर्हिकथं "धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थ:," इति लोके प्रसिद्धि: ? इति पूर्वपक्षे प्राप्ते निखिल मोक्षवादिन: आहूय सिद्धान्तमाहाद्वैतवादाचार्य्यकेशरि श्रीमधुसूदनसरस्वतीपाद: "दु:खासम्भिन्नसुखं हि परमपुरुषार्थ:; इति सर्वतन्त्रसिद्धान्त:; धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वार: पुरुषार्था इति प्रसिद्धिस्तु लोके लाङ्गलं जीवनं इति साधने फलत्ववचनादौपचारिकी, एवन्तर्हि सर्वदु:खशून्यस्य मोक्षस्य पुरुषार्थत्वं न स्यात्; इति चेत् दीयतां जलाञ्जलि तस्मै" इत्यादिग्रन्थे जीवब्रह्मैकचरूपं मोक्षं परमपुरुषार्थ:; इति मतं निराकृतम्। अभिधेयमाह तद्भजनम् इति शान्तदास्यसख्यवात्सल्यमधुराणां रसानां एकमपि आश्रित्य तदनुसारेण श्रीभगवद्भजनमेवाभिधेयमिति ज्ञेयम् ।।२९।।

प्राक् शुकदेवस्य हृदयनिष्ठां पर्य्यालोच्य तदनुगततया श्रीमद्भागवतस्य तात्पर्य्यं दर्शितम्। अधुना श्रीव्यासदेवस्य समाधौ अपि तादृशमेव तात्पर्यं निर्द्धारयति; "तादृशमेवेति"। तत्त्वनिर्णयकृते इति तत्त्व-निर्णयकरणार्थम्। श्लोकमाह भक्तियोगेनेत्यादि विष्णजनप्रिय इत्यन्तेन इति। तत्र व्याख्या भक्तियोगेन, प्रेम्ना इति। अत्र भक्तियोगेनेतिनिर्द्देशात् इतरयोगाश्रयेन श्रीभगवत्साक्षात्कारस्य असाध्यत्वमिति-सूचितम्। भक्तियोगस्यात्यन्तदुर्ल्लभत्वं च उक्तं सिद्धान्ते; मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगमित्यत्र प्रसिद्धे:। मुक्तप्रग्रह इति यथाश्वा: प्रग्रहे (प्रग्रह: बल्गा, लागाम इति भाषा) मुक्ते बलावधि धावत्येवं पूर्णशब्द: पूर्णत्वावधि प्रवर्त्ततेति वक्तुमिति बलदेव:। स्वयं भगवानिति यस्य भगवत्त्वं गृहीत्वा अन्येषां भगवत्त्वं सिद्धं स्वयं भगवानिति पदस्य तत्रैव तु तात्पर्य्यम् ।।३०।।

क्वचित् तु पूर्वमिति पाठान्तरं दृश्यते, अतो श्रुतिनिर्द्देशात् ईश्वरस्यैव तु पूर्ववर्त्तित्वं व्यवस्थाप्य तस्यैव हि पुरुषोत्तमत्वं साधयति, पूर्वमेवाहमिति श्रुते:। अथ स एव परमपुरुष: स्वयं भगवान् यं श्रीवेद-व्यास: समाधौ अपश्यत्; "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रौत-निर्वचनात्। "अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्" इति ग्रन्थनिर्द्देशात् स्वरूपशक्तियुक्तत्वञ्चास्य साधितम्। पुनरपि दृष्टान्तोपन्यासेनास्य भगवत: स्वरूपशक्तिमत्त्वं दर्शयति "पूर्णचन्द्र" इति। मायात: अन्या इयं स्वरूपशक्ति:; अतो श्लोकमाह "मायाञ्च" इति। "मायाञ्चतदपाश्रयामिति", अपकृष्ट: निकृष्ट: आश्रयो यस्या: सा माया श्रीभगवत: सन्निधौ न तिष्ठति। अतो अस्या न तत्स्वरूपभूतत्वम्। तद्धि "नाविद्या ब्रह्माश्रया" इति भामत्यामपि। अत: स्वरूपशक्तेरत्यन्तभिन्नेयं माया। भगवद्भक्तेर्भगवद्गुणाञ्च स्वरूपशक्तिसारांशत्वं सयुक्तिकमाह "पूर्वत्रहि" इत्यादिना इति बलदेव:। जीवस्य तु। भगवदंशत्वात् ब्रह्मणश्च भगवन्निर्विशेषा-विर्भावित्वात् तौ ब्रह्मजीवौ पृथक् न दृष्टौ व्यासेनेति सिद्धान्त: ।।३१।।

परमेश्वरात् जीवस्य स्वरूपत: भेदनिर्द्देशार्थं सन्दर्भमारभते "अथेति" श्रीग्रन्थश्लोक: "यया सम्मोहित" इति। मायया सम्मोहितत्वं हि जीवस्य ईश्वरात् विभिन्नत्वम् इत्यनेन मायाधीन: हि जीव: इति व्यनक्ति। जीवस्य स्वरूपमाह स्वयं चिद्रूप:; एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति श्रुते:। अथ एवम्भूतजीवस्य मायाधीनत्वात् तु यत् कष्टं सञ्जातं तदाह त्रिगुणात्मकाज्जरादित्यादिग्रन्थेन। संसारव्यसनञ्चाभिपद्यते इति ममेदं जरामरणपशुपुत्रादिव्यवहारव्यपदेशात् क्लेशमवाप्नोति। न च इत्येवं मात्रं, अपितु मायाप्रभावेन स्वरूपं विस्मृत्य जननमरणादिसंसारानलसन्तप्त: सन् असकृत् कर्मानुरूपं देहं परिगृह्य यद्दु:खमनुभवति तदेव सुखत्वेन कल्पयति इति चित्रम्; मायाच्छन्नत्वात् न कदापि आत्यन्तिकं सुखं लभते, तत्र श्रुति: "अनृतेन हि प्रत्यूढ़ा"।

अथैवं दर्शनात्; यदपि केचित् जीवस्य स्वरूपभूतज्ञानशालित्वं न स्वीकुर्वन्ति तन्मतस्य निरसनाय आह "तदेव जीवस्य" इति। एतेन सन्दर्भेन जीवस्य स्वरूपभूतज्ञानशालित्वं प्रतिपादितम्। अथ "जीवो

हि नाम देवताया आभाषमात्रं बुद्धयादिभूतमात्रासंसर्गजनितः आदर्शे इव प्रविष्टपुरुषप्रतिविम्वः जलादिष्विव च सूर्य्यादीनाम्" इति यदेकदेशिमतं तत् परिहारार्थमाह "तदेवं उपाधेरेव" इति। स्वयं चिद्रूपत्वेऽपि ईश्वरात् जीवस्य महान् भेदो वर्त्तते। कोऽसौ भेदः, सेवकत्वसेव्यत्वाणुत्वविभुत्वमायाधीनत्वमायाधीशत्वरूपपारमार्थिकधर्महेतुकः जीवेश्वरयोः परस्परः भेदः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः श्रुतिस्मृतिइतिहासपुराणादिषु गीयते। अथ मायासम्बन्धिअपराणि वाक्यानि आहु; अत्र यया सम्मोहित इति, अत्र इति, जीवस्य सम्मोहनविषये; तस्या इति मायायाः; एव शब्दः इतरव्यवच्छेदार्थकः, नापरस्येत्यर्थः। जीवानामनादिभगवद्बहिर्मुखत्वात् रुष्टा माया जीवस्य स्वरूपावरणमस्वरूपावेशं च करोति। "अहं भगवद्दासः" इत्येवं ज्ञानस्यावरणं; स्वरूपावरणम्। तथा भगवत्सेवातिरिक्तविषये अभिनिवेशम्; अस्वरूपावेशम् ।।३२।।

यदुक्तं प्राक् अविद्यायाः जीवसम्मोहनं श्रीभगवते न रोचते, तत्पुनः दर्शयति "श्रीभगवान्" इति। यदि भगवते न रोचेत, कथं तर्हि सर्वशक्तिमता श्रीभगवता अस्या अविद्यायाः विनाशो न कृतः? आहोस्वित् मायायाः सामर्थ्यं कथं न वा विमर्द्दितम्? येन सा पुनः सम्मोहयितुं न शक्नुयात्। इति प्राप्ते; कथमस्या जीवसम्मोहनं कार्य्यं ईश्वरः सहते, तत्सिद्धान्तमाह "श्रीभगवांश्चानादितः" इति।

आदौ श्रीभगवता प्रपञ्चाधिकारः मायायै दत्तः, अथ भगवदादिष्टं जीवसम्मोहनं कुर्वती बहिर्मुखान् जीवान् विविधदुःखसागरे निक्षिपन्ती माया "कथमहं परित्राणं प्राप्स्यामि" इति सञ्जातबुद्धीनां जीवानां तेषां भवद्भक्त्युद्रेकाय साहाय्यं एव करोति। अतः भक्तिमती हि सा माया, तदुक्तं "भक्तायां" इति। मायापाशच्छेदनस्य तथा निखिलदुःखातीतपरमसुखप्राप्तेश्चोपायो हि भक्तिः अहैतुकी। तत एव श्रीभगवच्चरणकमललाभः, तदुक्तं "मामेव ये" इति। अनेन भगवद्वाक्येन भक्तियोगेन श्रीभगवच्चरणाश्रयाद् ऋते इतरपथाश्रयेन शुष्कज्ञानकर्मादियोगेनाविद्यामोचनं तथा परमसुखप्राप्तिश्च न कदापि सम्भवति इति दर्शितम्; दृश्यते च शास्त्रे "भ्रश्यन्ति मार्गादनादृत युष्मदङ्घ्रयः" इति।

श्रीभगवच्चरणाश्रयेण अविद्याग्रासान्मुक्तः सन् जीवस्य निखिलानन्नर्थनाशो भवति। अविद्यानाशो हि भक्तेरवान्तरफलं, तदुक्तं अनर्थोपशमं साक्षादिति। "ननु मायाशक्तिः" इत्यादिग्रन्थेन मायायाः लज्जादिशीलत्वं दर्शयति, केनोपनिषत्सम्वादेन च तदेव द्रढ़यति। दृश्यते च श्रुतौ "ता आप ऐक्षन्तः" इत्यादिस्थलेषु तदधिष्ठातृदेवतायाः ईक्षितृत्वम् ।।३३।।

अथ कश्चित् जीवस्य चिद्रूपत्वोक्तिविप्रलब्धबुद्धिः चिद्भेदकान् शतशो धर्मान् श्रुतियुक्त्यनुभूतिसिद्धान्परिगणयन् कुसृष्टिकल्पनया जीवेश्वरैक्यमाह तादृशानां असहृदयानां मुखमुद्रणाय जीवेश्वरयोर्भेदस्तत्स्वरूपकथनगर्भास्वादप्रकारश्च कथ्यते। "अत्र जीवस्येति"। तादृशचिद्रूपत्वेऽपि इति तादृश इत्यनेन जीवस्य नित्यत्वं बोधयति, न तु तस्य विभुत्वादिकं, यादृश चिद्रूपो हि परमेश्वरः तादृश चिद्रूपो हि जीवः इति भावः; तथापि परमेश्वरादस्य जीवस्य महद्वैलक्षण्यं श्रीव्याससमाधिज्ञापकश्रीमद्भागवतश्लोकद्वयेन ज्ञापितम्। "तदपाश्रयाम्" "यया सम्मोहित" इति। अपकृष्टाश्रया या माया विलज्जमानासती श्रीभगवतः साम्मुख्यं नोपैति अपितु श्रीभगवता नियन्त्रिता सती जीवस्योपरि स्वीयं प्रभावं विस्तारयति। तन्मायाधीनत्वं हि जीवस्य ईश्वरात् वैलक्षण्यम्। मायाधीशो विभुचैतन्यरूपः ईश्वरः; मायाधीनो अणुचैतन्यरूपो जीवः, इत्युभयोः स्वरूपतो हि भेदः स्फुटः ।।३४।।

उक्तं हि जीवेश्वरयोर्महद्वैलक्षण्यं तत् पुनः विशेषेण प्रतिपादयति; पूर्वपक्षिणां युक्तिखण्डनेन 'यद्यप्येवमिति'। स्वीकृतो हि विरुद्धवादिना जीवस्य व्यवहारिको भेदो परमेश्वरात्, घटाकाशादिवाकाशस्य; किन्तु स भेदो न पारमार्थिकः।

एकमद्वितीयं चिद्रूपं ब्रह्म मायाशवलितं सत् विद्यामयः ईश्वरः, तदेव पुनः मायाग्रस्तं अविद्यापरिभूतं सत् जीवः भवति इत्युभयोर्व्यवहारिको भेदः। अथ ब्रह्म हि विद्योपहितमीश्वरचैतन्यम्; अविद्योपहितं

जीवचैतन्यम्. विद्याविद्यामायापगमेतु अद्वयं ब्रह्म एव शिष्यते। अतो अत्र परमार्थतः कोऽपि भेदो न वर्त्तते। इति मायिशाङ्करीयाः मन्यन्ते।

एतन्मतं निराकरोति; यर्ह्येवमित्यारभ्य इत्ययुक्तमित्यन्तेनेति। पारमार्थिकं भेदमस्वीकृत्य यया प्रणाल्या व्यवहारिको भेदः व्यवस्थापितः तन्न युक्तः। य एव मायाधीशः ईश्वरः स एव मायाधीनः जीवः इति युगपदसम्भवात्। श्लाघनीयप्रज्ञो भवान् व्यवहारिकभेदवादी यः त्वं मायावादव्यसनितया नित्यशुद्ध-ब्रह्मणोऽपि मायाधीनत्वं कल्पयितुं न शङ्कसे; अच्छेद्यं भवतु तावत् मायया सार्द्धं तवेदम् अवैधप्रणयबन्धनं यावन् परमभागवतस्य कृपाकटाक्षं न लभसे। ईश्वरात् जीवस्य पारमार्थिको भेदः हि श्रुतिस्मृतिइतिहास-प्रसिद्धः स हि श्रीव्यासद्दष्टरीत्यैवावगतः इत्यर्थः॥३५॥

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" 'सदेव सौम्येदमग्रआसीत्' इत्यादि श्रुत्यनुसारेण इदं स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्च-भूतं परिद्दश्यमानं जगत् सृष्टेः प्राक् अद्वितीये ब्रह्मणि लीनमासीत्, तदनन्तरं तस्मात् जातमित्यवश्यं स्वीकार्य्यम्; अपितु "यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादिवाक्यानि अन्ते ब्रह्मातिरिक्त-वस्तुनोऽस्तित्वं विघातयन्ति, अतो द्दश्यते हि आद्यन्ते ब्रह्माभिन्नस्य अस्तित्वाभावः। "त्वया ततं सर्वमिद-मनन्तम्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादीनि च सर्वं हि अद्वितीयं ब्रह्ममयमित्युपदिशन्ति। किन्तु ये तु मुग्धाः ते ब्रह्मातिरिक्तं विभिन्नं पश्यन्ति; तद्धि सुष्ठूक्तं पुराणश्रेष्ठे श्रीमद्भागवते, पश्यन्ति नाना अविपश्चितो ये इति।

सुतरां द्दश्यते हि तत्र भवताम् परस्परविवदमानानामपि परमदार्शनिकानां "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इत्यत्र ऐकमत्यम्। अन्यथा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं नोपपद्यते।

अत्र जीवेश्वरभेदवादी प्रष्टव्यः; योऽयं भेदो अङ्गीक्रियते, सोऽयं भेदः उपाधिभेदादेव खलु सम्भाव्यते; वयमपि तु तथा मन्यामहे। जीवेश्वरभेदः किं भामतीरीत्या अवच्छेदभावेन? उत विवरणोक्तरीत्या प्रतिविम्वभावेन?

तत्राद्ये विद्यया परिच्छिन्नः ईश्वरः, अविद्यया परिच्छिन्नः जीवः; यथा वनावच्छिन्नवृक्षावच्छिन्नाकाशौ अवच्छेदभेदात् परस्परं विभिन्नौ सन्तौ महदल्पतामाप्नुतः; तथा महान् ईश्वरः, क्षुद्रः जीवः। द्दश्यते च श्रुतौ "इन्द्रमायाभिः पुरुरूप इयते।" ततो ब्रह्मणो मायया परिच्छेदात् जीवेश्वरविभागः सम्भवति।

द्वितीये प्रतिविम्वपक्षे तु विद्यायां प्रतिविम्वः ईश्वरः, अविद्यायां प्रतिविम्वः जीवः यथा सूर्य्यस्य जलाशये तथा सरावोदके प्रतिविम्वः महदल्पतां प्राप्नोति। श्रुतौ च "यथाऽयं ज्योतिरात्मा विवस्वानापो भिन्ना वहुधैकोनुगच्छन्" इति। अतो प्रतिविम्वभावेन जीवेश्वरविभागोऽपि संगच्छते, इति यावदुपाधिसत्त्वं भेदो व्यवह्रियते।

अनन्तरं ब्रह्मज्ञाने सञ्जाते अविद्याप्रयुक्तद्दश्यमात्रनाशात् उपाधेरवच्छेदकस्य वा अपगमे एकमद्वितीयं ब्रह्ममात्रमवशिष्यते। इति पूर्वपक्षेप्राप्ते, अविद्यापटलपिहितनयनैरन्यैरन्यथाव्याख्यातान् अपसिद्धान्तान् खण्डयितुं यथाश्रुतिसिद्धान्तमाह आचार्य्यपादः "न चोपाधि" इति॥३६॥

अथ कस्मान्नैतद् सङ्गच्छते, तत्रासङ्गतेः कारणमाह "तत्र यद्युपाधे" इति। द्दश्यते हि जगति द्विविधोपायेनोपाधिः सम्भवति। तत्र आद्यः अनाविद्यकोपाधिः, स हि वास्तवः यथार्थः, अज्ञानसम्बन्ध-शून्यः यथा कुम्भकारेण रचितकम्वुग्रीवादिमदाकारविशिष्टमृत्पिण्ड एव घटः। द्वितीयः आविद्योकोपाधिः, स हि अवास्तवः, मिथ्या, अज्ञानप्रयुक्तः, यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्जौ सर्पत्वकल्पना।

आदौ अनाविद्यकपरिच्छेदपक्षं व्यावर्त्तयति "तर्ह्यविषयस्य" इति; अविषयस्य तस्य ब्रह्मणः टङ्कच्छिन्नपाषाणखण्डवत्वास्तवोपाधिविच्छेदेन ईश्वरजीवरूपता न कदापि सम्भवति, ब्रह्मणः विषयत्वा-भावात्; तत्र च श्रुतिः "अगृह्यो न हि गृह्यते" इति। न केनाप्युपायेनास्य परिच्छिन्नत्वसम्भवः।

अनन्तरं अनाविद्यिकप्रतिविम्वपक्षकं निषेधति, "निर्धर्मकस्येत्यादिना", प्रसिद्धं हि ब्रह्मणः निर्धर्मकत्वं व्यापकत्वं निरवयवत्वं श्रुतिस्मृतिइतिहासादिषु ।

निर्धर्मकस्योपाधिसम्बन्धराहित्यात् व्यापकस्य विम्वप्रतिविम्वभावाभावात् ब्रह्मणः प्रतिविम्वो न च ईश्वरः न वा जीवः । यदपि केचित् मन्यते निरवयवस्याकाशस्य हि प्रतिविम्वोदृश्यते जले, तद्वत् ब्रह्मणोऽपि प्रतिविम्वः कथं न सम्भवति; इति न च वाच्यम्, उपन्यस्तदृष्टान्तस्यैवासिद्धेः । उपाधिपरिच्छिन्नाकाशान्तर्वर्त्तिज्योतिरंशस्यैव हि प्रतिविम्वो दृश्यते, न तु निरवयवस्याकाशस्य, दृश्यत्वाभावादरूपत्वाच्च ।

न हि कदापि ब्रह्मणः प्रतिविम्वः सम्भवति । यदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः भामत्यां "रूपवद्धिद्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतोद्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमानस्यापि च्छायां गृह्णीयात् चिदात्मा तु अरूपो विषयी, न विषयच्छायामुद्ग्राहयितुमर्हति"; यथाहु 'शब्दगन्धरसानाञ्च कीदृशी प्रतिविम्वता' श्लोकवार्त्तिकनिरालम्बनवादः । इत्यनेन अनाविद्यकपरिच्छेदेन अनाविद्यकप्रतिविम्वभावेन च विभागवादः पराहतः ॥३७॥

यदपि केचित् वदन्ति "सोऽहम्" "ब्रह्मैवाहम्" इत्याकारज्ञानमात्रेण ब्रह्माभेदो घटते; तन्न, उपाधेर्वास्तवत्वपक्षे असम्भाव्यमानत्वात् । अथाह आचार्य्यपादः "तथा वास्तवपरिच्छेदादौ" इति । वास्तवः अनाविद्यिकः यथार्थः, न मिथ्या इति यावत् । परिच्छेदः अवच्छेदः, अवच्छिद्यते इति अवच्छेदः, इतरेभ्यो भेदः इति । सामानाधिकरण्यज्ञानमात्रेण, इति, एकाधिकरणवृत्तित्वसम्प्रत्ययमात्रेण, येन ऐकत्वविज्ञानं सम्भवति अभेदविज्ञानं वा इति । तत् त्यागः, उपाधेस्त्यागः इति ।

अत्रायमभिसन्धिः—यदि यथार्थतः यत्धर्मविशिष्टं तद्धि चिरं अन्यथारूपेण चिन्तया न कदापि स्वधर्मं परित्यज्यान्यथात्वं भजते । यथा "वास्तवः घटः मठः भवतु" इत्याद्याकारचिन्तया कदापि न चासौ घटः मठरूपेण पर्य्यवस्यति ।

दृश्यते हि श्रुतौ "पुरुषो वाव गोतमाग्निः" "योषा वाव गोतमाग्निः" इति क्रियासमभिहारेण चिन्तया वास्तवपुरुषत्वं योषित्त्वं परित्यज्य न कदापि पुरुषो योषाः वा अग्नित्वं भजते, एषा हि आहार्य्यबुद्धिः । स्वविरुद्धधर्मधर्मितावच्छेदककस्वप्रकारकज्ञानमाहार्य्यम् । या तु प्रसिद्धेः अग्नौ अग्निबुद्धिः सा तु अनाहार्यबुद्धिः । अथ येन भेदकधर्मेण जीवः ब्रह्मणः भिद्यते, यदि स वास्तवः स्यात् तर्हि "ब्रह्मैवाहम्" इति भावनया न कदापि जीवः ब्रह्मस्वरूपतां प्राप्नोतीतिभावः । तथा चोक्तं, न खलु निगड़ितः कश्चित् दीनो राजैवाहमितिभावनामात्रेण राजा भवेदिति दृष्टम् । "तत् पदार्थप्रभावः" इति, तत् तस्य ब्रह्मणः इति । प्रभावः शक्तिः । यदि "ब्रह्मप्रभावेनैतत् सम्भवति" इति त्वया स्वीक्रियते, तद्धि अस्माकं मतसम्मतम् । किन्तु श्रीभगवतः सर्वशक्तिमत्वं त्वया न स्वीकृतम् । असम्भवोऽपि सम्भवति श्रीभगवतः कृपया इति वयं मन्यामहे ॥३८॥

अथ आविद्यिकोपाधितारतम्यमयपरिच्छेदप्रतिविम्वत्वादिव्यवस्थया तयोर्विभागपक्षं निराकरोति ; "उपाधेराविद्यिकत्वे तु" इत्यादिना । आविद्यिकत्वे, मिथ्यात्वे, स्रग्भुजङ्गवत् इति । तत्परिच्छिन्नत्वादेः; मिथ्योपाधिना परिच्छिन्नत्वप्रतिविम्वत्वयोरघटमानत्वादनुपपद्यमानत्वात् असङ्गतम् ।

इदमत्रबोद्धव्यं, दृश्यते हि कारणसमवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, यथा शुक्लैस्तन्तुभिरारब्धः पटः शुक्लो न जात्वसौ कृष्णो भवति । तथा अत्रापि उपाधेर्मिथ्यात्वे मिथ्योपाधिना रचितो ब्रह्मणः परिच्छेदः प्रतिविम्वश्च मिथ्यैव स्यात् न कदापि सत्यं भवितुमर्हति । अतो परिच्छन्नत्वादेरघटमानत्वात् उपहितं ब्रह्मैव ईश्वरः जीवश्च इति परिकल्पना न साधीयसी, न वा एवम्भूतयोरनयोर्जीवेश्वरयोः ब्रह्मातिरिक्तत्वरूपेणानुभवः सम्भवति ।

यदपि परपक्षीया मन्यते, उपाधेर्मिथ्यात्वे अपि यथा शुक्तिका रजतवदवभासते, शुक्तिकायां रजतानुभवात् रजतार्थिप्रवृत्तिरपि सञ्जायते; तथा अत्रापि "उपहितं ब्रह्मैव ईश्वरः जीवश्च" ; रजतवदेव तयोरनुभव-

गोचरत्वं न हीयते, अपितु अत्र जीवेश्वरयोःसत्त्वेऽपि तयोरनुभवविषयत्वम्।

यद्यसन्तो नानुभवगोचराः, कथं तर्हि-मरुषुमरीचिचयमुच्चावचमुच्चलत्तुङ्गतरङ्गभङ्गमालेयमभ्यर्णमवतीर्णा-मन्दाकिनीतिमरीच्यादीनामसतां तोयतयानुभवगोरत्वम्? अपितु यथा घटेन परिच्छिन्नमहाकाशस्यैव घटाकाशत्वं; यथा वा जलाशये प्रतिविम्बितमहाकाशस्यैव जलाशयाकाशत्वं; तथा उपहितं ब्रह्मैव ईश्वरः जीवश्च।

इति पूर्वपक्षे प्राप्ते; तत्खण्डनार्थं सिद्धान्तग्रन्थमाह, घटाकाशादिषु इत्याद्या तत्तद्व्यवस्थापयितुमशक्य-मित्यन्तेन। यो हि सिद्धान्तः पूर्वपक्षिणा दृष्टान्तबलेन स्थापितः, स न संगच्छते। उपन्यस्तदृष्टान्तानाम्-समानजातीयत्वात्; समानजातीयदृष्टान्तस्याभावात्। घटादिर्हि उपाधिर्वास्तवः, अतः घटमानः; सुतरां तद्दृष्टान्तबलेन अवास्तवाघटमानोपाधिसम्बन्धिसिद्धान्तः न स्थापनार्हः, तदुक्तं "घटमानाघटमानयोः" इति।

यदुक्तं यथा शुक्तिका हि रजतवदवभासते तद्वदुपहितं ब्रह्मैव ईश्वरः जीवश्च; तन्न साधु; तत्रास्ति वस्तुसत् रजतं; यद्धि अनुभवगोचरम् अथ मन्दान्धकारे शुक्तिदर्शनसमये दोषवशात् तद्गतशुक्तित्वसामान्य-विशेस्याग्रहात् सदृशतया रजतसंस्कारोद्बोधेन रजतमिदमिति व्यवहारः। यदुक्तं विविक्तयोर्वस्तुसतोर्भेदा-ग्रहनिबन्धनस्तादात्म्यविभ्रमो युज्यते, किन्तु अत्र नैवं सम्भवति; तव मते ब्रह्मातिरिक्तवस्तुनोऽत्यन्ता-सत्त्वात् ब्रह्मातिरिक्तवस्तुस्वीकारे अद्वैतहानिः।

असतोः अनुभवगोचरत्वपक्षे यो दृष्टान्तः उपन्यस्तः; सोऽपि न सम्भवति; तत्र मरीचिरूपेण सलिलम-वस्तुसत् किन्तु स्वरूपेण तु परमार्थसदेव; प्रकृते तु जीवेश्वरयो स्वरूपेणाप्यसत्त्वात् कथमनुभवगोचरत्वम्।

अत्यन्तासतोः नानुभवगोचरत्वम्; दृष्टान्ताभावात् असम्भवाच्च। आकाशकुसुमादिस्थले तु अन्यत्र सतः कुसुमादेः आकाशादौ परिकल्पनम्।

ननु अस्मिन् उपाधिपरिच्छेदप्रतिविम्बवादिव्यवस्थया जीवेश्वरविभागोपपत्तिः लौकिकानां कैवकथा शास्त्रचिन्तकानामपि सङ्गच्छते; अनादिसिद्धाज्ञानप्रयुक्ताध्यासधाराया अविच्छेदात्; पूर्वपूर्वाध्यासोपदर्शित-जीवेश्वरस्वरूपापेक्षत्वादुरोत्तरजीवेश्वराध्यासस्येति; नोद्भावितदोषावकाशोऽध्यासमाहात्म्येनाखिलविरोधस्य परिहरणीयत्वात्; इति न च वाच्यम्, अधिष्ठानारोप्यलक्षणप्रमाणसामाग्र्याद्यभावेन दृग्दृश्ययोराध्यासिक-सम्बन्धानुपपत्तेश्चाध्यासस्यैवासम्भवात्। अतो "उपहितं ब्रह्मैव ईश्वरः जीवश्च" इति परपक्षीयमतं व्याहतम्॥३९॥

अतः पूर्वोक्तप्रकारेण परिच्छेदवादे प्रतिविम्ववादे च निराकृते सति पूर्वपक्षिणां योऽस्वरसः संघटितः तं दूषणमुखेन निर्दिशति "ब्रह्माविद्ययोः" इत्यादिना। उल्लिखितदिशा परिच्छेदप्रतिविम्ववादद्वयनिरसने सञ्जाते; ब्रह्म च अविद्या चेति तयोः पर्यवसाने सतीत्यर्थः। यद् ब्रह्म शुद्धं, इति; ब्रह्मणः विशुद्धत्वे हेतुमाह चिन्मात्रत्वात्; ब्रह्मणि अविद्यायोगस्यात्यन्तासम्भवात् इति, यस्मिन् ब्रह्मरूपे आस्पदे, अविद्यायोगस्य अत्यन्ताभावः वर्त्तते इति; नित्यसंसर्गाभावत्वं हि अत्यन्ताभावत्वम्। तदेव इति, एवम्भूतशुद्धब्रह्म एव। तद् योगात्, अविद्यायोगात्; अशुद्धः जीवः। पुनस्तद्ब्रह्म एव, कल्पितमायाश्रयत्वात् मायायाः आश्रयो भूत्वा ईश्वरः भवति। तदेव ब्रह्म एव; तन्मायाविषयत्वात्; तस्य ईश्वरस्य मायया परिभूतत्वात् जीवः इति, इत्यादीनि न कदापि सम्भवति।

पुनरप्यसामञ्जस्यं दर्शयति "तत्र च शुद्धायां चिति" इत्यादिना। विशुद्धे ब्रह्मणि अविद्याकल्पनं, पुनस्तदविद्याबलेन ब्रह्मणः एव जीवेश्वरत्वकल्पनं; तत्र जीवे अविद्या; विद्या च ईश्वरे; पुनः विद्यावत्त्वेऽपि अस्येश्वरस्य मायिकत्वप्रतारकत्वेत्यादिकल्पना असमञ्जसा स्यात्। अविदुषामेवेयं कल्पना, न तु शास्त्र-निष्णातानामितिभावः। अथ नाभिन्नं ब्रह्म जीवेश्वराभ्याम्।

यदपि केचित् मन्यन्ते; जीवात् ब्रह्मणः भेदे सति "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादीनि वचनानि बाध्येरन्; तन्न; ब्रह्मायत्तवृत्तिकत्वब्रह्मव्याप्यत्वाभ्यां ब्रह्मणोऽनतिरिक्तो जीवः; सुतरां नोक्तदोषावकाशः। तदुक्तं

शास्त्रदीपिकायां "तदधीनत्वाद्द्श्यतात्स्थ्यताद्धर्मपूर्वकैः निमित्तैस्तत्त्वमस्यादिसामानाधिकरण्यगीयते" इति ।।४०।।

अथ पूर्वपक्षिणां सिद्धान्तगतं असामञ्जस्यं तद्वाक्यबलेनैव युक्त्या च व्यवस्थाप्य स्वसिद्धान्तदार्ढ्याय आदौ "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इत्यादिभागवतपद्यसम्वादेनान्वयमुखेन व्यासदृष्टरीत्या जीवब्रह्मणो यो भेदो व्यवस्थापितः; पुनस्तं भेदं अधुना व्यतिरेकमुखेनोपपादयति "किञ्चेति"।

न खलु भागवते एवम्विधं किमपि वाक्यमस्ति, यदेकमेव ब्रह्म अविद्यया भिन्नं; पुनर्ज्ञानेन तस्य जीवत्वादिप्राप्तिरूपं दुःखं संसारादिलक्षणं विलीयते, इत्यादि व्यासेन दृष्टः समाधिकाले । अपितु तद्विपरीतस्य ब्रह्मतत्त्वात् पृथग्जीवतत्त्वस्यैवानुभवस्तस्य व्यासस्य सञ्जातः समाधौ इत्यस्तिकथा श्रीमद्भागवते "अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्" इति । तस्मान्न कदाप्यभेदेतात्पर्यं अपि तु भेदे एव इति बोद्धव्यम् ।।४१।।

परिच्छेदप्रतिविम्ववादौ निराकृत्य तत्प्रतिपादकशास्त्राणां तु मुख्यवृत्तेः असम्भवात् तेषां गौण्या वृत्त्या प्रवृत्तेः सम्भाव्यमानत्वं समर्थयति "तस्मादिति"। तत्साहश्येन; परिच्छिन्नप्रतिविम्वतुल्यत्वेनेति गौर्वाहिक इतिवत् । सूत्रकृताव्यासेन निर्णीतत्वात् हि एवं तात्पर्यावधारणम् । वैयासिकसूत्रद्वयमाह "अम्वुवद्" इत्यादि । अम्वुवदग्रहणात्तु न तथात्वमिति सूत्रेण, सूर्यादम्वुदूरस्थं गृह्यते तद्वदर्शिनः सकाशात् स्थानस्य ग्रहणाद्दृष्टान्तवैषम्य तथा नीरूपत्वाद्दूरस्थोपाध्यभावाच्च मायया बुद्धयादिषु प्रतिविम्वभेदो न युक्तः इति व्यवस्थापितम् । एवं तर्हि आपो भिन्नाबहुधैकोऽनुगच्छन् इत्यादि प्रतिविम्वशास्त्रस्य का गतिः ? अत आह सूत्रकारः ; वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् इति; अत्राह स्थानिनः स्थानान्तर्भावात्तत्प्रयुक्तवृद्धिह्रासभाक्त्वं दृष्टान्तेन निराक्रियते; उभयसामञ्जस्यादेवं विवक्षितांशमात्र गृह्यते; सिंहो मानवकः इति लोके दर्शनाच्चैवम् । अथ गौण्यैव वृत्त्या तच्छास्त्राणां प्रवृत्तिः सङ्गता । पूर्वोत्तरपक्षन्यायाभ्याम् इति; पूर्वन्यायेन; आत्मन्युक्तदृष्टान्तवैषम्याशङ्कासूत्रेण; उत्तरन्यायेन, उपाध्यन्तर्भावेन तत्कल्पितधर्मवत्त्वमात्रविवक्षितांशेन साम्येन समाधानसूत्रेण ।।४२।।

अथ यथोक्तप्रकारेण जीवेश्वरभेदे व्यवस्थापिते अभेदशास्त्राणामानर्थक्यं स्यात् तच्च न युक्तम् । इति तेषां अभेदशास्त्राणां सङ्गमप्रकारमाह "तदेवाभेदशास्त्राणि" इति "नेह नानास्ति किञ्चनः" "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादीनि ।

उभयोर्जीवेश्वरयोः, चिद्रूपत्वेन, हेतौ तृतीया; जीवसमूहस्य तद्रश्मिपरमाणुगणस्थानीयत्वात् यथा रवेः किरणेषु रजः इत्यादिवत् । "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानवलक्रिया च" "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा" इत्यादीनि च श्रूयन्ते । वह्नेर्यथा विस्फुलिङ्गं वह्नित्वेनाभिन्नमपि महत्त्वानुत्वाभ्यां भिन्नं; तथा अत्रापि जीवस्य ब्रह्मणोऽपि भिन्नत्वम्; अणुत्वविभुत्वाभ्याम् । अथ "अपश्यत् पुरुषं पूर्णं" 'यया सम्मोहितो जीवः' इति व्याससिद्धान्तानुगुण्येन अभेदशास्त्राणि योजनीयनीति सिद्धान्तः।।४३

अथ "अपश्यत् पुरुष पूर्णं" इत्यादिना भगवतः पूर्णत्वं च परिच्छेदराहित्यम्; "ययासम्मोहितः जीवः" इत्यादिना जीवस्य परमेश्वरात् भिन्नत्वं मायापारवश्यम् अणुत्वं, "मायाञ्च तदपाश्रयाम्" इत्यादिना परमेश्वरस्य मायाधीशत्वं सम्यग्व्यवस्थाप्य जीवान्यत्वं बहुकृत्वः प्रतिपादितम् । तदनन्तरं "अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे" इत्यादिना मायानिवारकः य उपायः प्रागुक्तः ; तमधुना विशेषेण निर्द्दिशति "तदेवमिति" । तयोर्भेदे इति; जीवभगवतोर्भेदे, तद्भजनस्यैवाभिधेयत्वं आयातम् । तद्भजनस्य, श्रीभगवद्भजनस्य, मायानिवारकस्येति । एवकारेण इतरव्यवच्छेदः ; भगवद्भजनस्यैवाभिधेयत्वं मायानिवारकत्वं नान्येषां ज्ञानकर्मयोगादीनामिति ज्ञेयम्; "मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतान्तरन्ति ते", इति निर्वचनात् । अनेन भजद्भ्यो भजनीयस्य भेदः प्रतिपादितः ; इतरथा स्वाभेदावभासे स्वस्मिन्नाराध्यत्वबुद्धेरनुदयाद्भक्तिर्नोपजायते । इत्यभिधेयप्रकरणम् ।।४४।।

अथ महामोहनिवारकस्य श्रीभगवतः परमप्रेमयोग्यत्वमादौ प्रतिपाद्य प्रयोजनञ्च स्थापयति "अतः" इत्यादिना। परमप्रेमयोग्यत्वे हेतुचतुष्टयमाह "सर्वहितोपदेष्टृत्वात्" इत्यादि। अनाशङ्कनीयमेव भगवतः सर्वहितोपदेष्टृत्वम्। अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्‌ऋग्वेदः" इत्यादि श्रौतनिर्वचनात् श्रीभगवान् हि वेदस्य आविर्भावयिता। यतः सर्वोऽप्ययं वेदः इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारोपायप्रकाशनपरः; अतो वेदाविर्भावयिता श्रीभगवान् हि सर्वहितोपदेष्टा भवति। वेदान् आविर्भावयन् हि आपदामास्पदस्याज्ञानस्य येन नाशः भवति तत्‌भगवद्भजनं अर्ज्जुनं उपलक्षीकृत्य जीवानां मङ्गलार्थं श्रीभवतेदमुक्तं "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान् तरन्ति ते। इति। अतः सिद्धं हि भगवतः सर्वहितोपदेष्टृत्वम्।

"सर्वदुःखहरत्वात्" इति। स्वरूपविस्मृतिः हि सर्वदुःखानां कारणम्। स्वरूपविज्ञाने तेषां विरामः। श्रीभगवान् हि कृपाकटाक्षेण जीवहृदये स्वरूपानुभवमुद्बोध्य सर्वदुःखानि नाशयति। एतेन सिद्धं तस्यसर्वदुःखहरत्वम्।

"परमस्वरूपत्वात्" इति, यथा रश्मीनां रश्मय एव स्वरूपम्; सूर्य्यस्तु तेषां परमस्वरूपएव भवति, तथा जीवानां भगवान् इति। अनेन स्वरूपैक्यं निरस्तम्।

"सर्वाधिकगुणशालित्वात्" इति, सर्वगुणाधारत्वाद्धि भगवतः सर्वाधिकगुणशालित्वम्। एतेन श्रीभगवतः एव परमप्रेमयोग्यत्वम् दर्शितम् नान्येषाम्। अत एतस्मिन् श्रीभगवति परप्रेम हि प्रयोजनम्। प्रतिपादितं हि प्राग् नन्दनन्दनश्रीकृष्ण हि भगवान्; श्रीगौराङ्ग एव तस्याविर्भावविशेषश्च। अतो श्रीगौराङ्गभजनं हि अभिधेयम्; श्रीगौराङ्गे परप्रेम हि प्रयोजनम्॥४५॥

अत्राभिधेयश्चेति, तादृशत्वेनेति; मायानिवारकत्वेन। दृष्टवानपि श्रीव्यासः इति ज्ञेयः। "भक्तियोगः" इति; श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ इति, नवधा साधनलक्षणा भक्तिः। उक्तं हि भक्तिलक्षणं; पञ्चरात्रे; सर्वोपाधिविनिर्म्मुक्तं तत्परत्वेन निर्म्मलम्। हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते। इति। "योगः" इति अप्राप्तेर्या प्राप्तिः सैव योगः कथ्यते। अथ साधनभक्तिलक्षणं श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ "कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा। नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदिसाध्यता"॥ वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा॥ यत्ररागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते। शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥ विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु। रागात्मिकामनुसृत्य या सा रागानुगोच्यते॥ इति॥ प्रेमलक्षणभक्तिस्तु श्रीभगवत्कृपामपेक्षते॥४६॥

अनर्थोपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोक्षजे। लोकस्याजानतोव्यासश्चक्रेसात्वतसंहिताम्॥ इति श्लोकं वर्णयित्वा तदनन्तरं; यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपुरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहमलापहा॥ इति श्लोकं विशेषेण वर्णयति "अथपूर्ववदेव" इत्यादिना। प्रयोजनं, श्रीभगवत्प्रेमलक्षणम्। भक्तिः; प्रेमा। प्रेमलक्षणं श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ; यथा सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥ तत्र भावभक्तिलक्षणं यथा, शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्य्यांशुसाम्यभाक्। रुचिभिश्चित्तमासृण्य कृदसौ भाव उच्यते॥ इति।

न चैतत् प्रेम अनुष्ठेयफलरूपं, न वा श्रवणादिजन्यापूर्वजनितमिदम्; पुरुषव्यापारातन्त्रत्वात्; अनुष्ठेयफलविलक्षणत्वात्, नित्यसिद्धत्वात् च। वाचिकमानसकायिककार्य्यस्यानपेक्षत्वात् नोत्पाद्यं प्रेम। न वा विकार्य्यं, सर्वदैकरूपत्वात्। आत्मधर्मविशेष एव सन् तिरोभूतं प्रेम न केनापि क्रियया आत्मनि संस्क्रियमाणे प्रकाश्यते यथा दर्पणे निघर्षणक्रियानन्तरं भास्वरत्वधर्मः; अनाधेयातिशयभगवत्स्वरूपत्वाद्धि प्रेम्णः। तस्मात् प्रेमाणं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं दर्शयितुम्। न चैष प्रेमा मानसी क्रिया; क्रियाया अस्य महद्वैलक्षण्यात्। अथ परासारांशत्वेनोत्पत्त्यसम्भवः प्रेम्णः, तदुक्तं, "आविर्भवति"। इति। प्रेम्णः आनुसङ्गिकं गुणमाह "शोकेति"। अनेन शोकादीनामुच्छेदाय इतरसाधनानामनावश्यकत्वं स्थापितम्। अनन्तरमेवम्भूतप्रेम्णः विषयमाह "परमपुरुषः" इति। परमपुरुषे प्रेमा कार्य्य इति निष्कर्षः। कोऽयं

परमपुरुषः ? इति सञ्जातसन्देहे उत्तरमाह, पूर्वोक्तपूर्णपुरुषः इत्यर्थः ।

तद् यथा बुद्धिभ्रंशात् उपास्यपरमपुरुषनिर्द्देशे महान् प्रत्यूहो न स्यात् तथा विशेषेण व्यनक्ति । किमाकारे इत्यपेक्षायामाह "कृष्णे" इति । "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्याद्या "रुचिरितीत्यन्तेन" विशेषतः वृन्दाबनीयराधानाथश्रीकृष्णस्यैव उपास्यत्वं विज्ञापयति; माधुर्य्यातिशयवत्त्वात्, न द्वारकास्थस्य श्रीकृष्णस्य; न वा मथुरास्थितस्य, ऐश्वर्य्यमयत्वात् ।

अथ श्रीराधामिलिततनुः ललितादिसखिभिः सेवितः द्विभुजमुरलीधरः श्रीकृष्ण एव विशेषतः उपास्यः इति हृदयम् । अनेन श्रीमन्महाप्रभुगौराङ्गस्यापि उपास्यत्वं विघोषितम् । य एव श्रीकृष्णः स एव श्रीगौराङ्गमहाप्रभुः ; या श्रीराधा सा हि श्रीविष्णुप्रिया; अनयोरैक्यं युक्तिभ्यां महाजनैः प्रतिपादितम् विद्वदनुभवसिद्धं च । यथा श्रीवृन्दाबनीयश्रीकृष्णस्य राधया सह उपास्यत्वं विशेषेणादरणीयम्; तथा श्रीधामनवद्वीपस्थरसराजश्रीमन्महाप्रभुगौराङ्गस्य प्रेयस्याश्रीविष्णुप्रियया सह एव उपास्यत्वं विशेषतः आदरणीयं; गोस्वामिसिद्धान्तनिर्द्देशताकं, परमपुरुषार्थप्राप्तिरूपत्वात् ।।४७।।

अथ श्रीशुकस्य भागवताध्ययनकथासम्वादेन प्रेम्नः ब्रह्मानन्दात् परमत्वं व्यनक्ति 'अथ तस्यैवेत्यादिना' । परमत्वं उत्कृष्टत्वम् । अनुभूतवान्, श्रीव्यासः । तादृशं, ब्रह्मानन्दानुभविनम् । तदानन्देति, श्रीभगवत्-प्रेमानन्देति । "ससंहितां भागवतीं कृत्वानुक्रम्यचात्मजम् । शुकमध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्" ।। इति श्लोकं व्याचष्टे । कृत्वानुक्रम्येति, इदमत्र बोद्धव्यम्; श्रीव्यासेनादौ अष्टादशपुराणेषु तत्तत्पुराणान्तर्गत-रूपेण संक्षिप्य श्रीभागवतमपि समङ्कलयत्, तदनन्तरं महाभारतमरचयत् । तत आत्मप्रसादमलभमानो श्रीनारदनिर्द्देशेन विस्तरेण श्रीभागवतं सङ्कलय्य परमपरितोषमवाप ।।४८।।

समाधौ श्रीव्यासेन यद् दृष्टं तद्धि तत्त्वज्ञैः समाहृतम्; इति दर्शयति, "तमेतम्" इत्यादिना । आत्मारामं; ब्रह्मानन्दानुभविनं शुकं येनोपायेनाकृष्य श्रीभागवतमध्यापयत् तद्धि निर्द्दिशति । इतरत् निगदव्याख्यातम्।।४९

आदौ सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि संक्षेपेण निर्द्दिश्य अधुनाविस्तरेण तान्येव दर्शयितुमुपक्रमते । अथ क्रमेणेत्यादि । तथैव श्रीव्यासशुकादीनां हृदयानुसारेणेत्यर्थः ।।५०।।

यदुक्तं प्राक् "वास्तवं परमार्थभूतं वस्तुवेद्यम् ।" इति । तदधुना वस्तुस्वरूपावधारणपूर्वकं तत्त्वं निर्णेतुमारभते "अथ किमिति" ग्रन्थेन । ज्ञानस्य स्वरूपमाह चिदेकरूपमद्वयम्; अद्वयत्वे हेतुमाह स्वयं सिद्धेति, साधनान्तरमनपेक्ष्य आत्मनैव सिद्धं स्वयं सिद्धम् । तादृशः—स्वजातीयः ; अतादृशः— विजातीयः । अन्यत् तत्त्वं इति तत्त्वान्तरं, तस्याभावः तस्मादिति । अद्वयशब्दस्य न द्वितीयरहिते तात्पर्य्यम्; अपितु यस्य सदृशः नास्ति द्वितीयः स एव अद्वयः तस्मिन्; तस्मै तात्पर्य्यं बोद्धव्यमिति ।

न च शक्तिमतेः शक्तेर्भेदकल्पनयास्याद्वयत्वं हीयते; शक्तेरनतिरेकात् कल्पितत्वाच्च । स्वशक्त्येक सहायत्वात् इति । तदुक्तं स्वशक्त्येकसहायेऽप्यद्वयपदं प्रयुज्यते । "तत्त्वमिति", अबाधिते वस्तुनि तत्त्व-शब्दस्य तात्पर्य्यमवध्रियते । अस्य परमपुरुषार्थत्वम् परमसुखरूपत्वं सिद्धम्; विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुति निर्द्देशात् । असाक्षिकक्षणिकत्वाशङ्काया अनुदयादनन्तमितिश्रुतेश्च नित्यत्वं सिद्धम् । सर्ववेदान्तसारं हि, इति । एवञ्च तादृशतत्त्वसम्बन्धीदं शास्त्रमित्युक्तम् । व्याख्यामाह सत्यमित्युपक्रम्य "अनुषङ्गः" इत्यन्तेन । दृष्टान्तेनाभिव्यनक्ति यथा जन्मप्रभृति इति । कैवल्यपदस्य तात्पर्य्यमाह 'कैवल्यैक' इत्यादिना ।।५१

अथ 'त्वं' पदवाच्य जीवात्मनः ज्ञाने सञ्जाते परमात्मापि सम्यग्ज्ञातः स्यात् इति सुचिन्त्य आदौ 'त्वं' पदवाच्यजीवात्मनो ज्ञानरूपत्वं नित्यत्वं च प्रसाध्य तस्य विशेषं दर्शयति । तत्र यदि इत्यादिना । "अन्यार्थश्च परामर्शः" इति ब्रह्मसूत्रेण तथा छान्दोग्योपनिषदि या दहरविद्या तदनुसारेण च जीवात्मनः ज्ञानस्वरूपत्वं नित्यत्वं च प्रतिपादयति, "नात्मा जजान" इत्यादिना । ज्ञानस्य क्षणिकत्वपक्षं निराकरोति "ननु नीलज्ञानम्" इत्यादिना ।। ५२।।

अथ विभिन्नदेहेषु ऐकरूपात् जीवात्मनः सदैकरूपत्वं निर्विकारत्वं प्रतिपाद्य निर्विकारात्मोपलब्धि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकेनानुसञ्जयति "अण्डेषु पेशिषु" इत्यादिना; इत्यनेन देहातिरिक्तात्मास्तित्वमायाति। श्लोकव्याख्यामाह "अण्डेषु, अण्डजेषु" इत्यादीनि। इन्द्रियादीनां आत्मत्ववादं विमर्द्य तदतिरिक्तः पृथग्-नित्यात्मास्तित्ववादः स्थापितः।

"नन्वहङ्कारपर्य्यन्तस्य" इत्यादिग्रन्थे शून्यवादं निराकृत्य साक्षिरूपकूटस्थचिन्मात्रस्यात्मनोऽस्तित्वं व्यवस्थापयति; परिशेषे च तर्कप्रकारोपन्यासेन सूर्य्यवत्स्वप्रकाशात्मानः उपलब्धि स्वाश्रये अस्त्येवेति निर्णीय निर्विकारात्मोपलब्धिसिद्धान्तं समापयति "अतः स्वप्रकाशः" इति ।।५३।।

अथ श्रीमद्भागवतश्लोकसिद्धान्तव्याख्याने चत्वारः स्तर्काः योजितास्तान् विभजते श्रीग्रन्थश्लोकद्वारेण "तदुक्तम्" इति। तत्सत्त्वे तत्सत्त्वं अन्वयः। तदसत्त्वे तदसत्त्वं व्यतिरेकः।।५४।।

आदौ जीवस्वरूपमुक्त्वा तत् साम्येन ईश्वरस्वरूपं निर्द्देष्टुं योजयति "एवम्भूतानामिति"। व्यष्टि-समष्टिनिर्द्देशद्वारा यत् आश्रयसंज्ञकं तत्त्वं वाच्यं तदधुना निर्द्दिशति "द्वाभ्यामिति" श्लोकमाह "अत्र सर्गो", इति, तस्यव्याख्यामाह मन्वन्तराणि इति ।।५५।।

महापुराणलक्षणमध्ये यदाश्रयाख्यं दशमं तद्विशेषेण निर्णेतुं सर्गादीन् व्युत्पादयति "तदैवमित्यादीना। व्याख्याया सह श्लोकमाह भूतमात्रेति उपक्रम्य व्यवस्थितिर्मुक्तिः इत्यन्तेन च ।।५६।।

सामान्येन व्याख्यया सह आश्रयतत्त्वमाह "आभासश्च" इति ।।५७।।

परमात्मा एव आश्रय इति आदौ निर्द्दिश्याधुना पुनस्तंपरमात्मानं आश्रयस्वरूपं प्रत्यक्षानुभवेन व्यष्टि-द्वारा स्पष्टं दर्शयितुं आध्यात्मिकादीनां त्रयाणां आश्रयतत्त्वं नास्ति इति साधयितुं प्रथमे अध्यात्मादि विभागः कथा श्रीग्रन्थश्लोकेनाह योऽध्यात्मिकः" इति; अत्र व्याख्यामाह योऽयं इति ।।५८।।

अध्यात्मादिविभागकथानिर्णीय, अधुना तेषाम् आध्यात्मिकादीनां त्रयाणामाश्रयत्वं न कदापि सम्भवति इति दर्शयति। एकमेकतराभाव इति। सविस्तारेण व्याख्यामाह एषामिति। मिथ सापेक्षत्वेन तेषां न आश्रयत्वं इति निष्कर्षः। आश्रयत्वं निराकृतम् ।।५९।।

प्राक्महापुराणस्य लक्षणमुक्तम्; अथमतान्तरीयं तल्लक्षणं पुनः निर्द्दिश्य श्रीभागवतस्य महापुराणत्वं विवृत्य परमात्मनः श्रीभगवतएव आश्रयत्वं परिशेषेण निर्णयति "सर्गोऽस्याथः" इति विविधसन्देहनिरा-करणार्थं विस्तारेण व्याख्याग्रन्थमाह 'केचित्' इति। परमात्मनः भगवतः श्रीकृष्णस्यैवाश्रयत्वं निर्द्देष्टुमाह "अतो अत्र स्कन्धे" इति। एतेन रसराजश्रीगौराङ्गमहाप्रभोरपि आश्रयत्वं अविसम्वादेन प्रतिपन्नम्, 'आसन् वर्णाः' इत्यादिना श्रीकृष्णेन सह श्रीगौराङ्गमहाप्रभोरनन्यत्वात्। एतद्धि प्राक् बहुधा प्रतिपादितम् ।। उल्लिखितानां सर्गादीनां यथाक्रमेण लक्षणानि दर्शयति अव्याकृत इति ।।६०-६१।।

संस्थानादीनां लक्षणानि विवृणोति "नैमित्तिकः" इति। भुक्तशिष्टकर्मविशिष्टः जीवः अनुशायी, भोगावशिष्टकर्म हि अनुशयः स्फुटार्थानि इतरानि ।।६२।।

श्रीगौरीरोविलासिनी देवीविष्णुप्रियाभिधा। अनुजोयादवाचार्य्यः तस्या ज्ञेयः सुभक्तिमान् ।।
तद्वंशसम्भूतः श्रीमत्कुञ्जलालो महामतिः। अहं तस्य सुतोज्येष्ठो गौरकिशोरसंज्ञकः ।।
टीका विरचिता ह्येषा नाम्ना स्वर्णलता मया। वैष्णवपरितोषार्थं सन्दर्भार्थप्रबोधिनी ।।
श्रीमद्गौराङ्गचन्द्रस्य विष्णुप्रियाऽन्वितस्य च। तद्भक्तजनवर्गाणां कृपातः पूर्णतामिता ।।
ग्रहशरगुरुभूपे शकाब्दे कुम्भगे रवौ। मया प्रकाशिता टीका सन्दर्भेण समायुता ।।
वामे विष्णुप्रिया यस्य सव्ये लक्ष्मीप्रिया सती सम्मुखे यादवाचार्य्यः पश्चाच्च सेवकाः स्थिताः ।।
चरणं शरणं तस्य यातु स्वर्णलता मम। विजयते सदा चैवं गौरचन्द्रो महाप्रभुः ।। इति।

श्रीगौरकिशोरगोस्वामिवेदान्ततीर्थविरचिता तत्त्वसन्दर्भटीका "स्वर्णलता" समाप्ता ।।



मातृका वर्णानुक्रमेण सूची-



१। वेदान्तदर्शनम् "भागवतभाष्योपेतम्" महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव प्रणीत, ब्रह्मसूत्रों के अकृत्रिम अर्थस्वरूप श्रीमद्भागवत के पद्यों के द्वारा सूत्रार्थों का समन्वय इसमें मनोरम रूप में विद्यमान है।

२। श्रीनृसिंह चतुर्दशी भक्ताह्लादकारी श्रीनृसिंहदेव की महिमा, व्रतविधानात्मक अपूर्व ग्रन्थ।

३। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका गोवर्द्धन निवासी सिद्ध श्रीकृष्णदास बाबा विरचित रागानुगीय वैष्णव पद्धति।

४। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका (वङ्गला पयार) गोवर्द्धन निवासी सिद्ध श्रीकृष्णदास बाबा के द्वारा सुललित छन्दोबद्ध ग्रन्थ।

५। श्रीगौरगोविन्दार्चन पद्धति गोवर्द्धन निवासी सिद्ध श्रीकृष्णदास बाबा विरचित सपरिकर श्रीनन्दनन्दन श्रीभानुनन्दिनी के स्वरूप निर्णयात्मक ग्रन्थ।

६। श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका श्रीजीवगोस्वामिपादकृत श्रीराधासम्वलित श्रीकृष्ण पूजन प्रतिपादन का सर्वादि ग्रन्थ

७। श्रीगोविन्दलीलामृतम् (मूल, टीका, अनुवाद सह–१-४सर्ग) "श्रीकृष्णदास कविराज प्रणीतम्" स्वारसिकी उपासना के अनुसार अष्टकालीय लीला स्मरणात्मक प्रमुख ग्रन्थ।

८। श्रीगोविन्दलीलामृतम् ५ सर्ग से ११ सर्ग पर्यन्त (टीका सानुवाद)

९। श्रीगोविन्दलीलामृतम् १२ सर्ग से २३ सर्ग पर्यन्त (टीका सानुवाद)

१०। ऐश्वर्यकादम्बिनी (मूल अनुवाद) श्रीबलदेवविद्याभूषण कृत भागवतीय श्रीकृष्णलीलाका क्रमबद्ध ऐश्वर्य मण्डित वर्णन, श्रीवृषभानु महाराज, एवं भानुनन्दिनीका मनोरम वर्णन इसमें है।

११। संकल्प कल्पद्रुम (सटीक, सानुवाद) श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्तिपादकृत स्वारसिकी उपासना का प्रमुख ग्रन्थ।

१२। चतुःश्लोकी भाष्यम् (सानुवाद) श्रीनिवासाचार्यप्रभुकृत चतःश्लोकी भागवत की स्वारसिकी व्याख्या।

१३। श्रीकृष्णभजनामृत (सानुवाद) श्रीनरहरिसरकार ठक्कुर कृत अपूर्व धर्मीय संविधानात्मक ग्रन्थ।

१४। श्रीप्रेमसम्पुट (मूल, टीका, अनुवादसह) श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्ती कृत भागवतीय रास रहस्य वर्णनात्मक हृदयग्राही ग्रन्थ।

१५। भगवद्भक्तिसार समुच्चय (सानुवाद) श्रीलोकानन्दाचार्य प्रणीत भक्तिरहस्य परिवेषक अनुपम ग्रन्थ।

१६। भगवद्भक्तिसार समुच्चय (सानुवाद बङ्गला) श्रीलोकानन्दाचार्य प्रणीत, भक्तिरहस्य प्रकाशक मनोहर ग्रन्थ।

१७। व्रजरीति चिन्तामणि (मूल, टीका, अनुवाद) श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्ति ठक्कुर कृत व्रजसंस्कृति वर्णनात्मक अत्युत्कृष्ट ग्रन्थ।

१८। श्रीगोविन्दवृन्दावनम् (सानुवाद) बृहद् गौतमीय तन्त्रान्तर्गत श्रीराधारहस्य परिवेषक सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ।

१९। श्रीराधारस सुधानिधि (मूल बङ्गला) श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद रचित माधुर्य्य भक्तिमयी श्रीराधा महिमा प्रतिपादक अनुपमेय ग्रन्थ।

२०। श्रीराधारस सुधानिधि (मूल हिन्दी)

२१। श्रीराधारससुधानिधि (वंगला मूल, अनुवाद सह)

२२। श्रीकृष्णभक्ति रत्नप्रकाश (सानुवाद) श्रीराघवपण्डित रचित श्रीकृष्णभक्ति प्रकाशक अनुपम ग्रन्थ।

२३। हरिभक्तिसार संग्रह (सानुवाद) श्रीपुरुषोत्तमशर्म प्रणीत श्रीभागवतीय क्रमबद्ध भक्ति सिद्धान्त संग्रहात्मक ग्रन्थ।

२४। श्रुतिस्तुति व्याख्या (अन्वय, अनुवाद) श्रीपाद प्रबोधानन्द सरस्वतीकृत वेदस्तुति की व्रजलीलात्मक व्याख्या।

२५। श्रीहरेकृष्ण महामन्त्र "अष्टोत्तरशतसंख्यक"

२६। धर्मसंग्रह (सानुवाद) श्रीवेदव्यास कृत धर्मसंग्रह श्रीमद्भागवतीय ७म स्कन्ध के अन्तिम ११, १२, १३, १४, १५ अध्यायों का वर्णन।

२७। श्रीचैतन्य सूक्ति सुधाकर श्रीचैतन्यचरितामृत, तथा श्रीचैतन्यभागवतीय सूक्तियों का संग्रह।

२८। सनत् कुमार संहिता (सानुवाद) व्रजीय रागानुगा उपासना प्रतिपादक सुप्राचीन ग्रन्थ।

२९। श्रीनामामृत समुद्र श्रीनरहरि चक्रवर्त्ति प्रणीत श्रीमन् महाप्रभु के परिकरों का नामसंग्रह।

३०। रासप्रवन्ध (सानुवाद) श्रीपादप्रवोधानन्द सरस्वती कृत।

३१। दिनचन्द्रिका (सानुवाद) सार्वदेशिक दिनकृत्यपद्धति।

३२। भक्तिसर्वस्व (बङ्गाक्षर में) प्रेमभक्तिचन्द्रिका, प्रार्थना प्रभृति सम्बलित।

३३। स्वकीयात्वनिरास परकीयात्वप्रतिपादन श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती कृत।

३४। श्रीसाधनदीपिका श्रीराधाकृष्णगोस्वामिपाद विरचिता, मन्त्रमयी स्वारसिकी उपासना का समन्वयात्मक ग्रन्थ, इसमें ऐतिहासिक एवं गवेषकों के लिए पर्य्याप्त सामग्री सन्निविष्ट है।

३५। मनःशिक्षा (वंगला) (अष्टोत्तरशत पदावली) प्राचीन कवि श्रील प्रेमानन्द दास विरचित।

३६। श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम् श्रीप्रबोधानन्दसरस्वतीपाद रचितम्; भक्ति, भक्त, भगवान्, धाम, उपासना तत्त्वात्मक ग्रन्थ

३७। श्रीगौराङ्गचन्द्रोदयः महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास प्रणीत वायुपुराणस्थ शेष काण्ड के चतुर्दश अध्याय। इसमें श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव के सपरिकर आविर्भाव वृत्तान्त—श्रीमद्भागवत के टीकाकार श्रीमद् रामनारायण गोस्वामी कृत टीका सम्बलित है। "अनर्पितचरी" श्लोक व्याख्या—श्रीजीव गोस्वामिपाद कृत।

३८। श्रीब्रह्मसंहिता श्रीचैतन्यदेव द्वारा आनीत चतुर्मुख श्रीब्रह्मा विरचित शताध्याय के अन्तर्गत पञ्चम अध्याय। सशक्तिक परतत्त्व प्रतिपादक ग्रन्थ।

३९। प्रमेयरत्नावली श्रीबलदेव विद्याभूषणकृत श्रीकृष्णदेव सार्वभौम कृत टीकोपेता वेदान्त दर्शन के प्रमेयसमूह का विश्लेषणात्मक ग्रन्थ।

४०। नवरत्न—अनन्य रसिक शिरोमणि श्रीहरिराम व्यास महोदय रचित प्रमेय रत्नावलीवत् निज सम्प्रदाय का वर्णनात्मक ग्रन्थ।

४१। भक्तिचन्द्रिका श्रीलोकानन्दाचार्य प्रणीत, श्रीचैतन्य देव की सुप्राचीन उपासना पद्धति।

४२। पदावली श्रीरायशेखर रचित, श्रीगोविन्ददासकृत—अष्टकालीय सरस प्राञ्जल पदसमूह का संग्रह (वङ्गाक्षर)

४३। भक्तिचन्द्रिका (वङ्गाक्षर) संगृहीत ग्रन्थ। इसमें नित्य पाठच प्रयोजनीय विषयों का संग्रह है।

४४। महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन प्रणीत—गर्गसंहितोक्त श्रीबलभद्रसहस्रनामस्तोत्रम् (वङ्गाक्षर)

४५। वेदान्तस्यमन्तक विप्रकुलशेखर श्रीराधादामोदर कृत। श्रीचैतन्य सम्प्रदाय सम्मत वेदान्त प्रकरण ग्रन्थ।

४६। तत्त्व सन्दर्भः—श्रीमज्जीवगोस्वामीपाद प्रणीतः, श्रीमद्भागवद् भाष्यरूप षट्सन्दर्भ के अन्तर्गत प्रथम सन्दर्भ। मूल, अनुवाद, तात्पर्य्य, श्रीबलदेवकृत टीका, श्रीराधामोहन गोस्वामिकृत टीका, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृत सर्वसम्वादिनी समन्वित।

